भाषाविज्ञान और हिन्दी

सरयूप्रसाद अग्रवाल
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

●

द्वितीय संस्करण
१९७०

●

माया प्रेस (प्रा०) लिमिटेड
इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

मूल्य : १२.५०
छात्र संस्करण : ८.५०

प्राक्कथन

भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य हिन्दी मे अभी इतना कम है कि इस विषय के किसी भी नए ग्रन्थ को देखकर मुझे प्रसन्नता होती है, विशेषतया ऐसी रचना को देखकर जो इस विषय के अनुभवी अध्यापक ने लिखी है। इस दृष्टि से मैं डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल के इस विषय के नवीन ग्रंथ 'भाषाविज्ञान और हिन्दी' का स्वागत करता हूँ।

भाषाविज्ञान तथा हिन्दी भाषा का इतिहास, पृथक् प्रश्नपत्र के रूप मे लगभग समस्त विश्वविद्यालयो मे एम० ए० के पाठ्य-क्रम मे है। प्रस्तुत पुस्तक को एम० ए० के विद्यार्थी व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी पावेंगे, क्योकि योग्य लेखक ने इस विषय के अपने दीर्घकालीन अध्यापन के अनुभव के आधार पर उन समस्त महत्वपूर्ण विषयो का विवेचन स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप मे अपनी कृति मे किया है जिनकी इस विषय के विद्यार्थियो को आवश्यकता होती है।

भाषाविज्ञान तथा हिन्दी भाषा का इतिहास ये दो सबद्ध किन्तु भिन्न विषय है। फलस्वरूप इन विषयो की प्रकाशित पुस्तके साधारणतया पृथक् है। प्रारम्भ मे डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० मगलदेव शास्त्री ने भाषाविज्ञान सम्बन्धी अपने ग्रन्थो मे दोनो विषयो का विवेचन साथ-साथ किया था। हिन्दी मे कदाचित् यह तीसरी पुस्तक है जिसमे उच्च कक्षा के विद्यार्थियो की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए दोनो विषयो का विवेचन एकत्र किया गया है।

मैने ग्रन्थ का अधिकाश भाग पढा। मुझे यह देखकर बहुत संतोष हुआ कि डॉ० अग्रवाल ने इस दुरूह विषय को सरल और सरस बनाने का यत्न किया है और इसमे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, अत हिन्दी का साधारण पाठक भी प्रस्तुत पुस्तक को रोचक और ज्ञानवर्धक पावेगा। इस सफलता के लिए मैं डॉ० अग्रवाल को हार्दिक बधाई देता हूँ।

मुझे पूर्ण आशा है कि सुयोग्य और अनुभवी लेखक द्वारा अन्य ग्रन्थो का भी प्रणयन होगा और इस प्रकार हिन्दी साहित्य की यह धारा अधिकाधिक सम्पन्न हो सकेगी।

नवम्बर, १९५७ —धीरेन्द्र वर्मा

विश्वविद्यालय, प्रयाग

भूमिका



आज के शिक्षित भारतीय जन-समुदाय में भाषा के अध्ययन की रुचि पहले की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बाद मानव अपने सभी क्षेत्रों की ओर जागरूक है। भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाओं का प्रयोग होता है और भाषाओं की गुत्थियों को सुलझाने की ओर प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही है। पाश्चात्य देशों की भाँति आधुनिक काल में भारत में भी भाषा का अध्ययन तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक रूप में किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के लिये एक से अधिक भाषाओं को जानने की आवश्यकता है, परन्तु ऐसी जानकारी सब के लिये सहज नहीं होती। अतएव कतिपय भाषा-शास्त्रियों ने भाषा के अध्ययन की पाणिनीय पद्धति का पुनरुद्धार किया है क्योंकि वर्तमान-कालीन प्रवृत्ति भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन की ओर अधिक है। इसे अधिक व्यापक बनाने में डेकन कॉलेज, पूना का विशेष हाथ है और इसका भारी श्रेय डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे को है।

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से सबंधित अनेक पुस्तकें सामान्य सिद्धांतों और कतिपय प्रादेशिक भाषाओं के ऐतिहासिक तथा व्याकरणिक विवेचन की दृष्टि से हिन्दी में लिखी गई हैं परन्तु वर्णनात्मक पद्धति को स्पष्ट करने वाली पुस्तकों का अब भी अभाव है। भाषा के पूर्ण अध्ययन के लिये दोनों पक्षों-ऐतिहासिक और विवरणात्मक, के समन्वय की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों का आश्रय लिया गया है। पुस्तक का उद्देश्य भाषा के सामान्य सिद्धांतों तथा हिन्दी भाषा संबंधी विवेचन को एक साथ प्रस्तुत करना है।

पुस्तक सामान्य पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इसे व्यावहारिक तथा सरल रूप देने का भी यत्किंचित् प्रयत्न किया गया है।

लेखक को भाषा के अध्ययन की प्रेरणा सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरुद्वय प्रो० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर (वर्तमान उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय) तथा डॉ० दीनदयालु गुप्त (प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) से मिली। तदनंतर कलकत्ता विश्वविद्यालय के गण्यमान भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० सुकुमार सेन के चरणों में बैठकर भाषा-विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुस्तक में जो कुछ भी है वह सब इन गुरुजनों का प्रसाद है तथा लब्धप्रतिष्ठित भाषा-शास्त्रियों की

रचनाओं का सार मात्र है। हाँ, यह अवश्य है कि आवश्यक स्थलों पर अपने निष्कर्षों तथा विचारों को प्रकट करने का मोह लेखक संवरण न कर सका, यहीं पुस्तक का मौलिक अंश है। श्रद्धेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना इन दो भाषा-महारथियों का मुझ पर बराबर स्नेह रहता है और उनसे भाषा-संबंधी कार्य में मुझे बराबर प्रेरणा मिलती रहती है। डॉ० वर्मा जी के प्राक्कथन ने पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ा दिया है। मैं उनकी इस कृपा के लिये अत्यंत आभारी हूँ। मेरे शिष्य और सहयोगी मित्र श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल ने भाषा के विवरणात्मक पद्धति संबंधी सुझावों से पुस्तक को उपयोगी बनाया है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—सरयूप्रसाद अग्रवाल

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण में सामान्य अध्येताओं को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रीय पक्ष की अपेक्षा विषय के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया था। इस संस्करण में भाषा-विज्ञान के सभी अंगों का शास्त्रीय विवेचन कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। इससे कहा जा सकता है कि अध्येताओं को पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई है। मेरा विश्वास है कि उसके इस संशोधित रूप का व्यापक स्वागत होगा। लेखक पुस्तक में विद्वज्जनों के नवीन सुझावों का स्वागत करेगा। पुस्तक में यत्र-तत्र मुद्रण की भूलें रह गई हैं जिनके लिए वह क्षमाप्रार्थी है।

— सरयूप्रसाद अग्रवाल

संकेत-चिह्न

अँ—ह्रस्व अ
आ—प्रधान अग्रस्वर
इँ—ह्रस्व इ
उँ—ह्रस्व उ
इ̥ उ̥ —फुसफुसाहट वाले इ, उ स्वर
एँ—ह्रस्व ए
ओँ—ह्रस्व ओ
न, म स्वर-रूप
च, ज़, —वर्त्स्य स्पर्श-संघर्षी (च, ज अंग्रेजी)
ट, ड—वर्त्स्य स्पर्श (ट, ड अंग्रेजी)
ळ मूर्धन्य पार्श्विक व्यंजन

अं०	अंग्रेजी
ई०	ईसवी
उदा०	उदाहरण
एक०	एकवचन
पु०	पुंलिंग
फा०	फारसी
बहु०	बहुवचन
सं०	संस्कृत
हिं०	हिन्दी

विशेष-चिह्न

7 पूर्व-रूप से पर-रूप का विकास-चिह्न
$\angle$ पर-रूप से पूर्व-रूप का विकास-चिह्न
❀ संभावित शब्द-रूप
√ धातु-चिह्न
= बराबर का चिह्न

अनुक्रम



भाषा
विज्ञान
और
हिन्दी
•

अध्याय १

भाषा एवं भाषाविज्ञान

मानव-जीवन मे भाषा का अत्यधिक महत्व है। मनुष्य के विकास के साथ-साथ भाषा का महत्व भी बढता जाता है। भाषा हमारे जीवन मे इतनी अधिक घुल-मिल गई है कि हम इसका अपने जीवन से भिन्न एक पृथक सत्ता के रूप मे बोध ही नही कर पाते। अवसर विशेष पर ही हमे इसकी सत्ता का अनुभव होता है। एक अबोध शिशु को अपनी आवश्यकताओ को प्रकट करने के लिए छटपटाते हुए, एक गूगे को हाथ के सकेत से भाव प्रकट करते हुए जब हम देखते है तो हमे भाषा की उपयोगिता का ज्ञान होता है। मनुष्य की सभ्यता इसी पर आधारित है। मनुष्य और पशु-पक्षी मे मुख्य भेद भाषा का है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और उसके विचार-विनिमय का माध्यम भाषा ही है। जाति, देश और काल के अनुसार भाषा का स्वरूप बदलता रहता है। जाति और भाषा मे घनिष्ठ सबध अवश्य है किन्तु यह आवश्यक नही है कि किसी जाति विशेष का व्यक्ति सर्वत्र विभिन्न परिस्थितियो मे भी अपनी ही भाषा का प्रयोग करे। भिन्न वातावरण के प्रभाव से उसकी भाषा का रूप भी बदल जाता है। एक देश और जाति का व्यक्ति दूसरे देश और जाति के सपर्क और ससर्ग से वहाँ की भाषा मे उतना ही कुशल हो जाता है जितना उस देश और जाति का कोई व्यक्ति होता है। भारत की प्राचीन भाषा सस्कृत मे अनेक विदेशी मुसलमान, पारसी, ईसाई उतने ही पारगत मिलते है जितना यहाँ का कोई हिन्दू। साथ ही मुसलमानो की धार्मिक भाषा अरबी तथा अग्रेजो की भाषा अग्रेजी मे अनगिनत हिन्दू कुशल मिलेंगे। एक देश का नवजात शिशु, जिसने अभी भाषा बोलना प्रारभ नही किया है, वह किसी भी अन्य देश मे पहुचकर वहाँ की भाषा को अपना लेगा। फिर भी प्रत्येक जाति और देश की भाषा का अपना निजी महत्व है।

भाषा देश की राष्ट्रीय चेतना का प्रमुख साधन है। वह राष्ट्रीय उन्नति के सवर्धन मे पूरा योग देती है और राष्ट्र के निर्माण मे सहायक सिद्ध होती है। जातीय सगठन को वह दृढ बनाती है। इसी कारण देशो मे राजनीतिक जागृति के साथ भाषा की उन्नति की ओर लोगो का ध्यान जाता है। आयर् (प्राचीन आयर्लैंड्) ने स्वतत्र होने के उपरान्त अग्रेजी के स्थान पर अपनी प्राचीन

भाषा 'शैली' का पुनरुद्धार किया है। स्वतंत्र भारत ने भी जनप्रचलित भाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया है और यहाँ की प्राचीन भाषा संस्कृत के योग से उसे समृद्ध बनाने का प्रयत्न हो रहा है। भाषावार प्रांतों की मांग के मूल में अपनी मातृभाषा के प्रति जागरूकता की भावना ही है। सिंहलद्वीप (सीलोन) में सिंहाली को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न इसी भावना से प्रेरित है। किन्तु भाषा राष्ट्रीय अथवा जातीय उन्नति का साधन है, साध्य नहीं। स्विट्जरलैंड में फ्रेंच, जर्मन, इटैली, रूमानी भाषाएँ राष्ट्रीय कार्यों में समान रूप में व्यवहृत होती हैं, पर कौन कह सकता है कि उस देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव है? भाषा के अत्यधिक मोह से प्रादेशिकता की भावना को बल मिलता है जो राष्ट्रीय उन्नति के लिए अहितकर है।

भाषा का प्रारंभिक रूप

पहले कहा जा चुका है कि कोई भी व्यक्ति वातावरण के प्रभाव से किसी की भाषा को सीख सकता है। प्रारंभ में लोगों का विश्वास इससे भिन्न था। अंध-विश्वासी लोगों के मतानुसार भाषा ईश्वर-प्रदत्त है, न कि मनुष्य के अपने बुद्धि-वैभव से विकसित। संस्कृत को देवभाषा, अरबी को पैगंबरी भाषा, हिब्रू को ईसामसीह की भाषा, यहाँ तक कि प्रत्येक मतावलंबी अपनी-अपनी भाषाओं को मूल भाषा के रूप में मानता रहा है। बौद्ध भिक्षु 'मागधी' को और जैन भिक्षु 'अर्धमागधी' को मूल भाषा के रूप में स्वीकार करते थे। किन्तु इन भाषाओं का उद्गम दैवी उत्पत्ति के रूप में मान लेना आज कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है, जब कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि भाषा का अर्जन समाज के बीच में ही होता है, उसे जन्म से लेकर संसार में कोई उत्पन्न नहीं होता। इस दिशा में कुछ प्रयोग भी किये गये। मिस्र देश के राजा सैमिटिकुस ने दो नवजात शिशुओं को मनुष्य-संपर्क से अलग रखा और कालान्तर में वे केवल फ्रीजी भाषा का शब्द 'बेकोस' (रोटी) का ही उच्चारण कर सके, जिसे उन्होंने रोटी देने वाले नौकर के मुख से सुन लिया था। भारत में सम्राट् अकबर ने भी इसी प्रकार का प्रयोग कराया। परिणामस्वरूप बच्चे गूंगे ही निकले। इसी प्रकार के कुछ अन्य मत भी प्रचलित हुए, जैसे कि मनुष्य ने आपसी समझौते से भाषा बनाई। उन्होंने एक साथ एकत्र होकर वस्तुओं के लिए अलग-अलग नाम रख लिये, किन्तु यह मत स्वयं-विरोधी है, क्योंकि जब उनमें भाषा का व्यवहार न था तो नामों का निर्णय कैसे संभव हो सकता है?

ऐसा ही एक मत जर्मन विद्वान् प्रो० हेज़ पर आधारित डॉ० मैक्समूलर

का है जिसको हम पारिभाषिक रूप मे 'धातु-सिद्धान्त' कह सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणो ने यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि संस्कृत भाषा का प्रत्येक शब्द किसी न किसी संस्कृत-धातु पर आधारित है। इस तथ्य के प्रमाण मे ऐसी बहुत सी धातुएं बताई जा सकती हैं, जो प्रत्येक अलग-अलग संस्कृत के शताधिक शब्दो मे अपना अर्थ-संबंध रखती है। जैसे संस्कृत 'पत्' धातु पर आधारित कुछ हिन्दी-शब्द इस प्रकार हैं पत्तर, पतित, पतन, पतंग, पतंगा, पतला, पतरी आदि।

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भाषा के प्रारंभ मे केवल धातुएं ही रही होंगी। आदि भाषा-भाषी लोग धातुएं बोलकर ही अपना कार्य चलाते होंगे। इस सिद्धांत के माननेवालो का यह कथन तो नितांत हास्यास्पद होगा कि आदि पुरुषो मे धातु-निर्माण की प्रतिभा रही होगी, जो कालान्तर मे क्षीण होती गई। इस प्रकार का अनुमान भाषा की दैवी उत्पत्ति के सदृश ही कहा जायेगा। निस्सन्देह आदि पुरुषो के भीतर इस प्रकार की धातु निर्माण करने की शक्ति का अनुमान कर लेना इस बुद्धिवादी युग मे अंधविश्वासमात्र कहा जायेगा। इसमे संदेह नही कि आधुनिक युग मे वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के लिए हम धातुओ का अधिक आधार लेते हैं, परन्तु भाषा की प्रारंभिक अवस्था मे यही तर्कसंगत जान पडता है कि धातुएं भाषा मे प्रयुक्त बहुत से शब्दो के विश्लेषण के द्वारा मालूम की गई। दूसरे, संसार की सभी भाषाओ पर धातु-सिद्धांत घटित भी नही होता। अतएव भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उक्त मत मान्य नही हो सकता।

मनोभावाभिव्यंजक (Interjections) शब्दो के आधार पर भाषा की उत्पत्ति को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ये शब्द मनुष्य के स्वभाव से प्रेरित होते हैं और सभी देशो मे इनका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका रूप भिन्न-भिन्न है। क्रोध, भय, आश्चर्य, प्रेम आदि की अवस्थाओ मे ये अनायास मुख से निकल पडते हैं। ओह, आह, वाह, ओफ, सी सी, छिह आदि ऐसे ही शब्द हैं। ये मनोभावाभिव्यंजक शब्द स्वाभाविक ध्वनियो के रूढ रूप हैं, किन्तु भाषा का विकास इसी आधार पर हुआ, यह मान लेना युक्तिसंगत न होगा। भाषा का अस्तित्व इससे भिन्न है। किसी भी भाषा मे ऐसे शब्द बहुत थोडी संख्या मे ही मिलते हैं। ये प्राय नगण्य हैं।

मनुष्य का जीवन अनेक पशु-पक्षियो के बीच मे व्यतीत होता है और उसने इनके बीच रहकर उनकी कुछ आवाजो (animal cries) का अनुकरण कर लिया हो, यह स्वाभाविक ही है। कुछ पशु-पक्षियो के नाम अनेक भाषाओ मे उनकी आवाजो के आधार पर बने आज भी प्रचलित हैं। जैसे म्याऊं,

भोंभों, कुक्कू, कूहू, काक, तीतर, चटक (चिड़िया), कुक्कुट आदि। किन्तु भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या भी अत्यल्प है। अमरीका के मूल निवासियों की कुछ भाषाओं में ऐसे शब्दों का प्रायः अभाव मिलता है। न केवल पशु-पक्षियों की आवाजों का अनुकरण ही मनुष्य ने किया, वरन् उसने अपने समुदाय के अस्फुट स्वाभाविक उच्चारणों का भी अनुकरण किया होगा और धीरे-धीरे वे अर्थवान शब्दों के लिए रूढ़ हो गये होंगे।

भाषा में अनुकरणनात्मक शब्द भी मिलते हैं। निर्जीव वस्तुओं की परस्पर टकराहट से ये शब्द बनते हैं। जैसे खटखट, कलकल, रिमझिम, फड़फड़ आदि। इसी प्रकार सामूहिक रूप में कठिन परिश्रम करते समय श्वास की तेजी के कारण कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ अनायास मुख से निकल पड़ती हैं। जैसे हे-हो, हय्या-हो, छियो आदि। किन्तु भाषा में उक्त प्रकार के शब्द भी अधिक नहीं हैं। भारतीय आचार्यों और वैयाकरणों ने भी भाषा के संबंध में उक्त प्रकार के शब्दों के उदाहरण दिये हैं। इनके ग्रंथों में इंगित-भाषा के उल्लेख मिलते हैं। अतएव भाषा की उत्पत्ति इन शब्दों के आधार पर सिद्ध नहीं होती। ये शब्द भाषा की मूल प्रकृति के निकट तो हैं परन्तु समाज के बीच जिस भाषा का प्रयोग हम करते हैं, निस्संदेह वह भाषा इन सिद्धांतों के आधार पर निर्मित नहीं कही जा सकती। अनुकरण और मनोभावाभिव्यंजक शब्दों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने प्रतीकात्मक रूप में बने शब्दों का भी उल्लेख किया है। शैशव अवस्था में बालक दोनों ओठों को मिलाकर पापा, बाबा, मामा आदि शब्दों का उच्चारण करता है, जो बाद में निश्चित संबंधों के प्रतीक बन जाते हैं।

येस्पर्सन ने भाषा के उद्गम के लिए निगमन पद्धति (Inductive method) का निर्देश किया है। शिशु-भाषा के क्रमिक विकास, असभ्य जातियों की भाषाओं तथा किसी भाषा के परंपरागत इतिहास के आधार पर भाषा की मूल प्रकृति तक पहुँचा जा सकता है। भाषा के विकास में ध्वनि-अवयवों का योग होता है और प्रथम वर्ष का शिशु बोलने के लिए अपने ध्वनि-अवयवों को साधने का प्रयास करता है। यद्यपि अपनी इस अवस्था में वह केवल कुछ अस्फुट ध्वनियों का ही उच्चारण कर पाता है और इनसे भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। यहाँ वह ध्वनि और अर्थ में सामंजस्य स्थापित करता है।

वैदिक संस्कृत से आधुनिक आर्य भाषाओं का जो विकास हुआ है, उससे भी येस्पर्सन के मत को पुष्ट किया जा सकता है। इस भाषा-विकास में क्लिष्ट ध्वनियों का लोप, व्याकरणिक क्लिष्टता का अभाव, संगीतात्मक

स्वरघात के स्थान पर बलात्मक स्वराघात का प्रयोग आदि मुख्य विशेषताएं हैं। भाषा के विकास की इसी प्रवृत्ति को कुछ निश्चयात्मकता के साथ हम वैदिक भाषा की पूर्व भाषा पर भी लागू कर सकते हैं। विद्वानों ने प्राचीन आर्य भाषाओं के सूक्ष्म विवेचन से उन सब का मूल स्रोत एक आदिम आर्य भाषा से जोड़ने का प्रयास किया है। संस्कृत, अवेस्ती, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का प्राचीन लेखों के तुलनात्मक अध्ययन में आदिम आर्य भाषा की कल्पना की गई है। उनके मतानुसार यह भाषा संगठित आदिम आर्यों की, जब वे अलग अलग शाखाओं में बंटे नहीं थे, मूल भाषा रही होगी। अत यदि हम अनुमानित आदिम आर्य का उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि वह भाषा निस्सदेह वैदिक से अधिक जटिल ध्वनियों तथा व्याकरणिक रूपों से युक्त थी। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भाषा की आदिकालीन स्थिति में कठिनतम ध्वनियों के उच्चरण तथा व्याकरण के अस्त-व्यस्त रूप रहे होंगे।

पहले कहा गया है कि बोल-चाल या बच्चों की भाषाओं के अध्ययन से भी इसकी पुष्टि होती है। भाषा के प्रारंभिक वाक्य शब्दात्मक रहे होंगे। वाक्य-रचना का विकास बाद को हुआ तथा व्याकरण के सूक्ष्म भेदों की स्थिति भी बाद की है। बच्चे प्रत्येक शब्द को व्यक्तिवाचक रूप में ही सीखते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रारंभिक पुरुष भी घटना विशेष अथवा कार्य विशेष के लिये अस्तव्यस्त ध्वनियों का ही प्रयोग करते रहे होंगे जो कि उक्त कार्य-घटना के लिये शब्द-रूप में रूढ हो गई होगी। असभ्य जाति की भाषा सीमित और अविकसित होती है जिससे प्रारंभिक अवस्था का संकेत मिल सकता है। इसी प्रकार भाषा के इतिहास का मूल स्रोत मालूम करने से भाषा के मूल रूप तक पहुंचा जा सकता है।

भाषा समाज-सापेक्ष होती है। उसका विकास भावों के आदान-प्रदान के लिये ही हुआ। भाषा के विकास में यह भावना इतनी प्रबल हो गई है कि भाषा के अध्ययन की एक शाखा ही सामाजिक भाषा-शास्त्र (Social Linguistics) के नाम से अभिहीत की गई है।

भाषा पर समाज की छाप होती है। कोई एक व्यक्ति भाषा को उत्पन्न नहीं करता। यह अवश्य है कि भाषा को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ही सीखता है। बच्चा अपनी मा से भाषा सीखना प्रारंभ करता है और उत्तरोत्तर उसके सीखने का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। इस प्रकार भाषा अपने पूर्वजों से सीखी जाती है। वह एक परंपरागत अर्जित वस्तु है। कोई व्यक्ति पैतृक

संपत्ति के रूप में उसका उत्तराधिकारी नहीं होता वरन् उसे प्राप्त करने के लिए उसको प्रयत्नशील होना पडता है।

भाषा का मौखिक रूप सभी अवस्थाओं और कालों में अभीप्ट-सिद्धि के लिये समर्थ नहीं होता। संकेतों के द्वारा भी भाव व्यक्त किये जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में जब भाषा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था तो संकेत भाव-प्रकाशन का एक प्रमुख साधन रहा होगा। अमरीका की मूल जातियों में अब भी इसका व्यापक व्यवहार होता है। आज भी संकेतों का कम महत्व नहीं है। हम जिससे कोई बात कहना चाहते हैं वह यदि हमारी भाषा को पूर्णतः समझने में असमर्थ है तब हम भाषा के स्वल्प प्रयोग के साथ हाथ अथवा अन्य अवयवों से कुछ संकेत करते हैं अथवा यदि कोई व्यक्ति बहुत दूरी पर है जहां कि हम अपने भावों का पूरा आदान-प्रदान नहीं कर सकते वहां भी उस प्रकार हम संकेतों से काम लेते हैं। भावों को तीव्र बनाने के लिये हम इंगितों का सहारा लेते हैं। साधारण बातचीत में भी मुख-हाथ की विविध मुद्राओं का सहारा लिया जाता है जिनका श्रोता पर यथेष्ट प्रभाव पडता है। इस प्रकार ये संकेत भाषा के सहायक रूप कहे जा सकते हैं। किन्तु अन्धकार में इनका उपयोग नहीं हो सकता। साथ ही ये भाषा का स्थान कभी नहीं ले सकते। सूक्ष्म भावों का प्रकाशन जैसा भाषा के द्वारा संभव है वैसा संकेतों के द्वारा कदापि नहीं हो सकता।

लिपि भी भाव-प्रकाशन तथा भावों को सुरक्षित रखने का एक सर्वव्यापक वैज्ञानिक उपाय है। भाषा और लिपि में घनिष्ट संबंध है। लिपि के प्रयोग में बाह्य साधनों की आवश्यकता होती है किन्तु भाषा में ऐसे किसी स्थूल पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। फिर वक्ता की भाषा का जो प्रभाव श्रोता पर संभव है वह लिपि में कहां? इसीलिये बुद्धिमान लोग श्रोता पर स्थायी प्रभाव डालने के लिये मौखिक भाषा का सहारा लेना ही श्रेयस्कर समझते हैं। लिपि का विकास भाषा-स्थिति के बहुत बाद का है। सामाजिक सभ्यता के पूर्ण विकसित होने पर लिपि की आवश्यकता का अनुभव किया गया होगा। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा विचारों के आदान-प्रदान तथा प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन है। इतने सुगम और उत्कृष्ट रूप में किसी और उपाय के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति संभव नहीं। अतः यह कहना समीचीन होगा कि भाषा मनुष्य के बौद्धिक आविष्कारों का परिणाम है।

भाषा का विकास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाषा का प्रारंभिक रूप बहुत ही परिमित

रहा होगा किन्तु भाषा में स्वभावत. ऐसे गुण होते हैं कि वह विस्तृत होती जाती है। परिवर्तनशीलता तथा ग्रहणशीलता प्रचलित भाषा के प्रधान गुण होते हैं। भाषा तभी तक जीवित रह सकती है जब तक उसमे ये गुण वर्तमान हैं अन्यथा वह मृतप्राय हो जाती है। भाषा के विकास के लिये समाज की अपेक्षा है। यदि भाषा का समाज नष्ट हो जाय अथवा वह समाज कोई दूसरी भाषा का प्रयोग करने लगे तो वह भाषा अव्यवहृत होते ही समाप्त हो जायेगी। इसीलिये कहा गया है कि यदि किसी भाषा का व्यवहार करने वाले कोई दो व्यक्ति भी जीवित रहेंगे तो भाषा जीवित रहेगी। भाषा पर वाह्य प्रभाव भी पड़ते हैं जिससे उसका स्वरूप बदल जाता है। सथ ही आन्तरिक कारणो से भी भाषा निरतर परिवर्तित होती रहती है किन्तु यह परिवर्तन इतना धीमा और परोक्ष रूप मे होता है कि साधारणतया उसका पता नही चल पाता। औद्योगिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि कारणो से जातियो का पारस्परिक सपर्क एक दूसरे की भाषा को प्रभावित करता है। अपनी प्राचीनता और सास्कृतिक कारणो से भी कोई भाषा सर्वप्रचलित हो जाती है। सस्कृत भाषा ने भारत के पडोसी देशो तिब्बत, वर्मा, लका आदि तथा भारत की सभी भाषाओ को यथेष्ट रूप मे प्रभावित किया है। द्राविड भाषाओ पर सस्कृत का काफी प्रभाव मिलता है। यूरोप की प्राचीन भाषायें-ग्रीक और लेटिन की प्राचीन काल मे तथा फ्रेच एव अग्रेजी की आधुनिक काल मे ऐसी ही स्थिति है। चीनी भाषा का प्रभाव इसी प्रकार जापानी, अनामी, कोरियाई भाषाओं पर पडा है। अरबी भाषा ने मध्य एशिया, फारस, तुर्किस्तान आदि की भाषाओं को काफी प्रभावित किया है। यह प्रभाव अधिकतर शब्दो के आदान-प्रदान के रूप मे होता है। शब्दो के साथ ध्वनियो का प्रभाव भी पड़ना स्वाभाविक है। कभी-कभी एक भाषा के व्याकरणिक रूपो का प्रभाव भी दूसरी भाषा पर पड जाता है। लेकिन शब्दो की अपेक्षा व्याकरणिक रूपो तथा ध्वनियो का प्रभाव अत्यल्प होता है। भाषाओं के इस प्रभाव को उनके तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

भाषा के भेद

भाषा का सामान्य अर्थ है जो बोला जाय। यह सस्कृत धातु √भाष्-बोलना पर आधारित है। इसी बोली के देश, काल और जाति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं जिनको पारिभाषिक शब्दावली मे हम बोली, विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा, विश्वभाषा आदि नाम देते हैं। सर्वसाधारण मे प्रचलित भाषा और साहित्यिक भाषा मे अन्तर होता है। किन्तु भाषा का

स्वाभाविक रूप जनसाधारण की भाषा में ही सुरक्षित मिलता है। साहित्यिक रूप में भाषा बहुत कुछ आडंबरपूर्ण हो जाती है फिर भी उसका आधार बोलचाल की भाषा ही रहती है, किन्तु एक तीसरा रूप भी देखने में आता है जिसे हम भाषा का कृत्रिम रूप कह सकते हैं। वह भाषा बोलचाल के रूप पर आधारित नहीं होती। भाषा का यह रूप कई भाषाओं की आंशिक विशेषताओं को लेकर बनाया जाता है। किन्तु यह भाषा एक सीमित वर्ग की ही होती है। कभी-कभी ऐसी अस्वाभाविक भाषा को व्यापक बनाने का प्रयत्न भी किया जाता है। एक सार्वदेशिक तथा सार्वजनिक भाषा की आवश्यकता से प्रेरित होकर डॉ० लुइस् जमेन्हॉफ नामक विद्वान ने कई प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं के विविध रूपों का सम्मिश्रण करके बिल्कुल एक नई भाषा एस्पेरान्तो (Esperanto) को जन्म दिया। उनके मतानुसार इस भाषा का शब्द-भंडार तथा व्याकरण बहुत सरल एवं शीघ्रग्राह्य है और यह थोड़े प्रयास से सब लोगों के लिये व्यावहारिक बन सकती है। इस प्रकार के कुछ और भी प्रयास यूरोप में हुये। इसी पर आधारित इसका एक परिष्कृत रूप इडो (Ido) नाम से विकसित किया गया किन्तु ऐसी भाषाओं का कोई बोलचाल का आधार न होने के कारण सम्यक् विकास नहीं हो पाता। अतः ये न व्यापक हो सकीं और न स्थायित्व ही प्राप्त कर सकीं।

समाज में विभिन्न वर्गों के मनुष्य होते हैं: ग्रामीण, नागरिक, शिक्षित, अशिक्षित तथा अनेक व्यवसायों से संबंधित। किसान, राज (मिस्त्री), मल्लाह, जुलाहा, कुम्हार, बढ़ई, लोहार, नाई, तेली, सोनार, गड़ेरिया, चमार पटहार (पटवा) आदि विभिन्न व्यवसायों के मनुष्य-समुदाय होते हैं। इनकी अपनी-अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है और इसे उस समुदाय के लोग ही भली प्रकार समझ पाते हैं। अधिकतर नगर में रहने वाले डॉक्टर, इन्जीनियर, वैज्ञानिक, साहित्यकार, वकील, व्यापारी, सैनिक, कलाकार आदि की अपनी भाषा में भी अन्तर होता है। यह अंतर विशेषतया शब्द अथवा भाव संबंधी ही होता है। नगर के औद्योगिक वर्ग की भी अपनी एक विशेष शब्दावली होती है। उदाहरणार्थ हिन्दी-क्षेत्र के किसान की अपनी शब्दावली के कुछ विशेष शब्द ये हैं: बीज, जुताई, बुवाई, सिंचाई, गोड़ाई, निराई, कटाई, हल, मोर्चा, पटेला, नहला, खलिहान, ओसाई, दंवार, भूड़र, बंजर, गाजर, परती, फाल, हरैनो, पुरा आदि। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द विभिन्न वर्गों की पारिभाषिक शब्दावली में अपना भिन्न अर्थ प्रकट करता है। जैसे हिन्दी 'गोली' शब्द वैद्य या डाक्टर के लिये एक अर्थ रखता है, सैनिक के लिये दूसरा, खिलाड़ी के लिये

तीसरा आदि। 'काटा' शब्द किसान या चरवाहा के लिये एक अर्थ देगा, व्यापारी के लिये दूसरा, मछली मारने वाले के लिये तीसरा, इसके साथ-ही-साथ कुएं मे कोई चीज गिर जाने पर जिस यंत्र से उसे निकाला जाता है उसे भी कांटा कहते हैं। इसी प्रकार टाका, डोरी, जुआँ आदि सैकडो शब्द है। ऐसे शब्दो से भाषा की अभिव्यजना-शक्ति का निरन्तर विकास होता रहता है।

भाषा जब किसी सीमित क्षेत्र मे केवल घरेलू रूप मे प्रचलित रहती है तो वह 'बोली' कहलाती है। उसमे कोई विशिष्ट साहित्य नहीं होता। वह बोलने वालों की केवल साधारण बातचीत तक ही सीमित रहती है। इस बोली का क्षेत्र जब कुछ विस्तृत हो जाता है और उसमे साहित्य-सृजन होने लगता है तो वह 'विभाषा' अथवा 'उपभाषा' के नाम से अभिहित होती है। शिक्षा, साहित्य और राजकीय कार्यों मे जब किसी बोली का व्यापक प्रयोग होने लगता है तब हम उसे प्रादेशिक भाषा, आदर्श भाषा अथवा केवल 'भाषा' की संज्ञा दे सकते हैं। इसका क्षेत्र कुछ व्यापक-अविकाशत विभाषाओ से विस्तृत होता है। बोलचाल या विचार-विनिमय के रूप मे जब यह भाषा किसी राष्ट्र के समस्त भू-भाग पर छा जाती है तब राष्ट्रभाषा और जब यह विश्व के व्यापक क्षेत्रों को सबद्ध करती है तब हम उसे सामान्यत विश्वभाषा कह देते हैं। जैसे हिन्दी की खडी बोली किसी समय मेरठ, बिजनौर आदि की केवल बोली की स्थिति मे थी जैसा इसके प्रारंभिक काल मे दिये गये नाम से ही स्पष्ट है। यही खडी बोली बाद मे भारत के उत्तरी प्रदेशो मे व्यापक हुई और धीरे-धीरे सारे देश को एक सूत्र मे पिरोने मे सफल हुई। अत इसे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन किया गया। इसी प्रकार अंग्रेजी प्राचीन जर्मन भाषा से उद्भूत और बाद मे इग्लैंड मे जाकर बस जाने वाले आग्ल जाति की बोली थी। कालान्तर मे वह विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा की स्थिति मे पहुचकर आज विश्वभाषा बन गई है। औद्योगिक एव राजनीतिक दृष्टि से विश्व का एक बडा भूभाग इससे बँधा हुआ है।

भाषा केवल सामाजिक सपर्क एव एकता का ही साधन नही है वरन् वह हमारी सभी जिज्ञासाओ का समाधान भी करती रहती है जो कि हमारे भीतर चतुर्दिक वातावरण के सपर्क से स्वभावत उठा करती हैं। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओ का मूल भाषा ही है।

भाषा के व्याकरणिक गठन तथा उसके शब्द-समूह के विकास मे वैज्ञानिक प्रक्रिया ही मूल मे रहती है। नये नये विद्वानो के आविष्कार से भाषा भी सवृद्ध होती जाती है। नई-नई शब्दावली का विकास होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण

से भाषा के स्वरूप को समझने मे बडी सरलता होती है तथा भाषा का एक नया रूप निखार में आता है। मानव-समाज की प्रगति मे भाषा और विज्ञान समान रूप से योग देते हैं।

भाषा की परिभाषा

भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप एव उसका विकास देखने से ज्ञात हो जाता है कि उसकी उत्पत्ति एक दिन मे अथवा किसी एक सिद्धान्त के अनुसार नही हुई है। विभिन्न मानव समुदायो द्वारा मन की भावनाओ को अभिव्यक्त करने के लिए वाणी द्वारा पृथक्-पृथक् ध्वनि-प्रतीको का प्रयोग कर विचार-विनिमय का साधन बनाया गया। ये ध्वनि-प्रतीक ही निश्चित सरचना और व्यवस्था के अनुसार शब्द एव वाक्य का रूप धारण कर विचारो की अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु ये ध्वनि-प्रतीक भाषा-विशेष के लिए ही अर्थपूर्ण होते हैं। ससार की सभी भाषाओ मे पृथक्-पृथक् ध्वनि-प्रतीको की व्यवस्था का सयोजन मिलता है और प्रयुक्त ध्वनियाँ भाषा के उस समाज-विशेष के लिए ही अर्थपूर्ण होती हैं, अन्य समुदायो के लिए नही। ससार की प्राय. सभी भाषाओ मे कतिपय स्वर एव व्यजन ध्वनियाँ समान रूप मे प्राप्त होती हैं परन्तु इन ध्वनियो की प्रयोग-व्यवस्था मे अन्तर मिलता है। इस प्रकार एक मानव समुदाय की भाषा अन्य मानव समुदाय की भाषा से भिन्न विशेषताए लिए हुए दृष्टिगोचर होती है। इससे स्पष्ट है कि भाषाओं की व्यक्तिगत मौलिक विशेषता वास्तव मे भाषा-विशेष की सरचनात्मक गठन की भिन्नता ही होती है।

किसी भी भाषा का अध्ययन करने के लिए उसकी ध्वनियो का अध्ययन किया जाता है। भाषा मे ध्वनियो का रूप, तथा उसमे शब्द एव वाक्यो का प्रयोग उसकी सरचनात्मक विशेषता अथवा व्याकरणिक व्यवस्था को प्रकट करते हैं। इस प्रकार व्याकरणिक कोटियो के अन्तर्गत भाषा के शब्द एव वाक्यों की सरचना का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक भाषा का निजी व्याकरण होता है और उसी व्याकरणिक व्यवस्था के आधार पर भाषा का अध्ययन और विश्लेषण किया जा सकता है।

भाषा की विशेषताओ को हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं "भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीको की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिससे मानव-समाज अपने भावो का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक दूसरे को सहयोग देता है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सकेत तथा मूक अभिनय, आदि भावो के प्रकट करने के साधन भाषा के अन्तर्गत नही आते। भावों

को प्रकट करने की लिपि-पद्धति भाषा पर आधारित है परन्तु वह भाषा नही है। ग्रामोफोन के रेकार्ड, तार के सकेतो से प्राप्त सभी ध्वनि-रूप मौखिक भाषा पर आधारित कहे जायेंगे किन्तु भाषा के समक्ष उनकी सत्ता गौण है। भाषा-विषयक उक्त तथ्यो के आधार पर भाषा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है

१ भाषा समाज के विचार-विनिमय और पारस्परिक सहयोग का माध्यम है। मनुष्य को सामाजिक भावना का विकास करने मे भाषा से अत्यधिक सहायता मिली है। वह एक दूसरे के भाव को समझने का सक्षम साधन है।

२. प्रत्येक भाषा की निजी ध्वनि एव व्याकरणिक व्यवस्था होती है। जैसे 'चल्' ध्वनि-समष्टि हिन्दी के लिए अर्थपूर्ण है जब कि अग्रेजी मे इन ध्वनियो की व्यवस्था कोई अर्थ नही रखती। इसी प्रकार व्याकरणिक व्यवस्था के अनुसार हिन्दी मे 'मेज पर पुस्तक' अर्थात् पहले आधार, धर्म फिर आधेय होगा परन्तु अग्रेजी की व्यवस्था इसके विपरीत है। जैसे 'बुक ऑन दि टेबिल' अर्थात् पहले आधेय, धर्म फिर आधार का क्रम होगा।

३. नाना पदार्थो, भावो, विचारो आदि के नामकरण प्रतीकात्मक है जो कि मानव-समाज द्वारा ही दिए हुए है, यथा-माली, विद्यार्थी तथा नाई-समाज मे 'कलम' शब्द अलग-अलग क्रियाओ के प्रतीक रूप मे व्यवहृत होता है।

४ व्याकरणिक-व्यवस्था के आधार पर भाषा का अध्ययन और विश्लेषण किया जा सकता है।

भाषा-विज्ञान की उपयोगिता एव अध्ययन की पद्धतियाँ

भाषा के विशेषताओ के अनुसार उपरोक्त भाषायी रूप का विवेचन, विश्लेषण एव तुलनात्मक अध्ययन प्राय सभी उन्नत और सभ्य देशो मे प्राचीन काल से होता आया है। भारतवर्ष मे सस्कृत-भाषा के सभी अगो की गहन विवेचना मिलती है। यह विवेचन भाषा के सामान्य सिद्धान्तो पर भी पूर्णरूपेण घटित होता है। आधुनिक काल मे भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तो को जो वैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया है, वह भाषा-विज्ञान के नाम से अभिहित किया गया है। इस विज्ञान का विषय किसी एक भाषा का अध्ययन नही होता वरन् भाषा मात्र के सामान्य सिद्धान्तो का विवेचन इसका लक्ष्य होता है। भाषा का मानव-सस्कृति से क्या सम्बन्ध है, भाषाओ का प्रारम्भिक विकास कैसे हुआ, भाषाओ का वर्गीकरण किस तरह सम्भव होता है, ध्वनियो मे परिवर्तन क्यो और कैसे

होते हैं, ये और इसी प्रकार के अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर भाषा-विज्ञान प्रकाश डालता है। भाषाविज्ञान के लिए अंग्रेजी मे लिंग्विस्टिक्स् (Linguistics) शब्द प्रचलित है। इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द फिलॉलॉजी (Philology) अथवा कम्परेटिव फिलॉलॉजी (Comparative Philology) है। किन्तु उक्त पारिभाषिक शब्दो मे अब अन्तर हो गया है। फिलॉलॉजी के अन्तर्गत पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों, शिलालेखो आदि की भाषा का अध्ययन मुख्य लक्ष्य होता है। एक ही ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियो के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा लिखित भाषा के रूप का स्पष्टीकरण किया जाता है। तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का फिलॉलॉजी से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि भाषा-विज्ञान लिखित भाषा के स्वरूप का विश्लेषण स्वयं न करके फिलॉलॉजिस्ट के निष्कर्षो को इसी रूप मे स्वीकार करके उनका उपयोग कर लेता है।

भाषाविज्ञान जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कथ्य और लिखित दोनो प्रकार की भावनाओ का अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन वर्णनात्मक (descriptive), तुलनात्मक (comparative) एव ऐतिहासिक (historical) रूपो मे प्रस्तुत किया गया है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान भाषाओ की सम्पूर्ण विशेषताओ की सम्यक् विवेचना करता है और तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान भाषाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध तथा परिवर्तन आदि का इतिहास प्रस्तुत करता है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत प्रत्येक जीवित भाषा अथवा बोली की ध्वनियो के उच्चारण, सुर-भेद, व्याकरणात्मक प्रयोग आदि विषयो की व्याख्या की जाती है। उनके ऐतिहासिक विकास की ओर कोई विशेष दृष्टि नही रहती। इस प्रकार के अध्ययन से सम्बन्धित भाषा-विज्ञान की कतिपय नई शाखाओ का विकास अभी हाल मे अमरीका के भाषा-वैज्ञानिको द्वारा किया गया है। भाषाओ मे सुर का महत्व सुरविज्ञान (tonetics), लिपिविकास की दृष्टि से भाषा के ध्वनितत्वो का वैज्ञानिक विश्लेषण ध्वनिग्राम विज्ञान (phonemics), साहित्यिक भाषाओ के सदृश ही जीवित बोलियो का विशेष अध्ययन बोली-विज्ञान (dialectology) के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। भाषा के दार्शनिक रूप का विवेचन एक नई शाखा मेटालिंग्विस्टिक्स् (Metalinguistics) के रूप मे किया गया है। इस शाखा के अन्तर्गत भाषा तथा विचार का सम्बन्ध भाषा की वैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि, भाषा की नित्यता तथा अनित्यता आदि विषयो का अध्ययन किया जाता है।

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन की तीन

प्रमुख पद्धतिया मानी गई है। यहाँ पर इनका संक्षिप्त परिचय समीचीन होगा।

वर्णनात्मक

किसी भाषा की निश्चित ध्वनियो, भाषा की प्रकृति अथवा भाषा के विविध प्रयोगो के सम्बन्ध मे रूप-विश्लेषण वर्णनात्मक प्रणाली के अनुसार किया जाता है। अंग्रेजी मे अध्ययन सम्बन्धी इस विधा को डिस्क्रिप्टिव (descriptive) या स्ट्रक्चरल (structural) लिंग्विस्टिक्स कहते है।

पश्चिमी देशो के विद्वानो ने पाणिनि की महाव्याकरण 'अष्टाध्यायी' से इस क्षेत्र मे विशेष प्रेरणा प्राप्त की है। अत अब केवल ध्वनि-सम्बन्धी नियम मात्र ही इस प्रणाली मे नही है वरन् 'स्ट्रक्चरल' के आधार पर इस विधा मे भाषा के विश्लेषण की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। भाषा-संरचना की सूक्ष्मतम विशेषताओं ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य आदि का अध्ययन वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का क्षेत्र माना जाता है। आधुनिक युग मे इस पद्धति का पर्याप्त विकास हो रहा है। वर्तमान काल मे भाषा की आधारभूत इकाई 'ध्वनिग्राम' को मान्यता देना इसी प्रकार के अध्ययन का परिणाम है।

ऐतिहासिक

इस पद्धति मे जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है भाषा-विशेष के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। इसमे भाषा के भूतकालीन एव वर्तमान दोनो प्रकार के एक अथवा अनेक रूपो का अध्ययन एव विश्लेषण किया जाता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि भाषा-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन एव अध्ययन ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस पद्धति के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं से संस्कृत का सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसे देखकर पाश्चात्य भाषाविद उधर आकृष्ट हुए। इस क्षेत्र मे पर्याप्त कार्य हुआ है। भाषा-विकास का विभिन्न दृष्टियो से अध्ययन इसी क्षेत्र मे किया जाता है। उदाहरणार्थ हम इस पद्धति के आधार पर यह जान सकते है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा संस्कृत से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपो का विकास किस प्रकार हुआ और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्तमान रूप उसकी किन अवस्थाओं से संबंधित है ?

तुलनात्मक

तुलनात्मक भाषाविज्ञान प्राचीन समय से ऐतिहासिक प्रणाली से सम्बद्ध माना जाता था। परन्तु आज विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं यन्त्रों द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण पद्धति के कारण तुलनात्मक प्रणाली को विशेष मान्यता दी जा रही है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किन्हीं भी दो अथवा अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक ही भाषा के विभिन्न कालों के रूप एवं विकास भी तुलनात्मक अध्ययन में देखे जाते हैं, जिससे भाषा के ऐतिहासिक विकास को भी भलीभाँति जाना जा सकता है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन में एक ही भाषा के विभिन्न कालों एवं रूपों, साथ ही विभिन्न भाषाओं के एक अथवा अधिक समय के रूपों का अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषाविज्ञान का अध्ययन मुख्यतः दो विधाओं में किया जाता है, जिन्हें क्रमशः समकालिक (synchronic) और ऐतिहासिक (diachronic) शब्दों से अभिहित किया गया है। समकालिक अध्ययन पद्धति पूर्णतः व्याख्याप्रधान होती है जिसमें भाषा की जीवित बोलियों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे वर्णनात्मक पद्धति कहा जा सकता है,क्योंकि वर्णनात्मक पद्धति का मुख्य विषय-क्षेत्र भी यही है। ऐतिहासिक को हम वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक दोनों पद्धतियों का समन्वय मान सकते हैं, क्योंकि ऐतिहासिक सामग्री के साथ ही साथ इसमें तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रधानता दी गई है। प्रायोगिक भाषाविज्ञान भी भाषाविज्ञान की नई प्रणाली है। यह प्रणाली मुख्यतः ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा।

भाषाविज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध

भाषा और सामाजिक शास्त्र

समाज की सम्यक् जानकारी के लिये हमने ज्ञान-विज्ञान से सबंधित विविध प्रकार के अध्ययन की धाराओं को कई विषयों में विभाजित कर लिया है। इतिहास भूतकाल की घटनाओं का कालगत चित्रण करता है, नृ-विज्ञान समाज और सभ्यता के पारस्परिक घातों-प्रतिघातों को स्पष्ट करता है तथा अर्थशास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र समाज की विशेष प्रवृत्ति की ओर ही प्रमुख

ध्यान देते हैं। फिर भी इन शास्त्रों का पारस्परिक संबंध अत्यन्त घनिष्ट है। भाषा जिसकी स्थिति समाज के बीच है, जो समाज के लिये जीवित है और जो समाज की सभ्यता के साथ-साथ अपना विकास करती चली आ रही है, निस्सदेह उसका विशेष अध्ययन भी उपरोक्त सामाजिक शास्त्रों के अन्तर्गत ही होना चाहिये। इतना ही नही युग के भाषा-रूपो को पाकर हम समाज के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा तथा तत्युगीन विचारो का बहुत कुछ ठीक अनुमान लगा लेते हैं।

'असुर' शब्द का प्रयोग साहित्य मे 'तेजस्वी आत्माओ' के लिये हुआ है, फिर बाद के साहित्य में यही शब्द 'कुत्सित भावना' वाले व्यक्तियो के लिये होने लगा। निश्चय ही उस युग की विचारधाराओं मे परिवर्तन हुआ होगा। प्रागैतिहासिक युग की विशेष जानकारी साहित्य मे पाये जाने वाले ऐसे शब्दो के विश्लेषण से ही समव होती है। आर्य लोग बाहर से आये, सस्कृत यूरोपियन भाषाओ की जननी है, आर्य लोग शव को जलाते और गाडते थे, समाज मे विधवाएँ नही थी आदि सही अथवा गलत परिणामो का अनुमान हम भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से ही कर सके हैं। ठीक इसी प्रकार समाज की उथल-पुथल भाषा मे विशृंखलता लाती है, भाषा-रूपो मे कभी विविधता और कभी एकता लाती है जिससे भाषा सबन्धी सामान्य नियमो का निरीक्षण करने मे भाषा-विज्ञानी को पर्याप्त सहायता मिलती है।

भाषा और शरीर तथा भौतिक विज्ञान

मन प्रेरित वायु कठ एव मुख से निकलते समय ध्वनि का रूप धारण करती है। ध्वनि मे अनेकरूपता लाने वाले ये मुख और कठ के विभिन्न अवयव ही हैं। शरीर-विज्ञान इन अवयवो की बनावट का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करता है, जब कि भाषा-विज्ञान की एक शाखा अवयव-उच्चरित ध्वनियो की विविधता पर दृष्टि रखती है। इसलिये विज्ञान की दोनो धाराओ का यथेष्ट ज्ञान भाषा के विद्यार्थी के लिये परमावश्यक है। नेत्र, कान आदि की सहायता से ही भाषा का बोध होता है। कैसे नेत्र इसे मस्तिष्क तक पहुचाते हैं, यह कोई शरीर-विज्ञानी ही बता सकता है। बच्चो की भाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी की जिज्ञासा होती है कि बच्चे प्रारभ मे र, ट आदि ध्वनिया क्यो नही बोल पाते ? निस्सदेह शरीर-विज्ञान इसका उत्तर दे सकता है। सभवत बच्चो के मुख-तन्तु इतने कोमल होते हैं कि र, ट आदि कठोर ध्वनियो का उच्चारण वे नही कर पाते और जब वे कठोर वस्तु खाने के उपयुक्त हो जाते हैं तो उनकी जिह्वा मे भी उच्चारण प्रेरित कठोरता आ जाती है।

उच्चरित ध्वनियाँ श्रोता के कर्णेन्द्रिय द्वारा गृहीत होने से पूर्व वायु की लहरों द्वारा प्रवाहित होती हैं। इन लहरों का वैज्ञानिक अध्ययन भौतिक-विज्ञान का विषय है। ये ध्वनियाँ हमारे कानों तक कैसे और किस रूप में पहुँचती हैं तथा उनकी गति आदि का ज्ञान भाषा-विज्ञानी भौतिक-विज्ञान की सहायता से ही कर पाता है। ध्वनियों का इस प्रकार का एक अध्ययन भौतिक ध्वनि-विज्ञान (Acoustic phonetics) भौतिक शास्त्र पर आधारित है।

भाषा और साहित्य

साहित्य हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाशन करने के लिये भाषा का आधार ग्रहण करता है। युग-युग की संचित मनोवृत्तियाँ साहित्य में सुरक्षित हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस युग की भाषा के माध्यम से हुई है। इस प्रकार यदि हम भाषा का ऐतिहासिक विकास देखना चाहें तो हमें प्रत्येक युग की इस साहित्य-सम्पत्ति को ही आधार बनाना पड़ेगा। बिना विशाल साहित्यिक सामग्री के भाषा का अध्ययन प्रौढ़ नहीं हो पाता। यदि साहित्यिक धारा का यह क्रम टूट जाय या उस युग का साहित्य काल के गर्त में विलीन हो जाये तो उस भाषा के इतिहास की प्रामाणिकता के लिये हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत का विशाल एवं दीर्घ कालव्यापी वाङ्मय ही आधुनिक युग में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव डाल सका है। लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं के साहित्य का इतिहास टूटता रहा है इसलिए केवल उन भाषाओं के आधार पर ही जिनका साहित्य कुछ अधिक विस्तृत है, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव पड़ सकी। फिर भी साहित्य अपने युग की भाषा का एक छोटा सा अंश ही व्यवहार में ला पाता है।

भाषा और व्याकरण

व्याकरण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को व्यावहारिक रूप देता है। जैसे ध्वनियाँ अनन्त हैं, एक ही ध्वनि को हम कई रूपों में बोल लेते हैं इसलिये वैयाकरण का ध्वनि-विश्लेषण केवल उस सीमा तक चलता है जहाँ तक वह विश्लेषण उस भाषा के लिये महत्वपूर्ण है। विश्लेषण की प्रवृत्ति एक व्यावहारिकता को लिये हुए है, दूसरी की प्रवृत्ति विशुद्ध विज्ञान की ओर है। भाषा-विज्ञान तो उन सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है जो कि संसार की प्रत्येक भाषा पर लागू किये जा सकते हैं, परन्तु व्याकरणिक अध्ययन प्रत्येक भाषा के लिये अपना अलग-अलग होता है। इस प्रकार यदि विश्लेषण की पहुँच

वैज्ञानिक है तो समाज के किसी व्यक्ति को जो उस भाषा को नहीं जानता है, ग्रहण करने में सरलता होती है। बच्चों को भी उस भाषा के आगामी अध्ययन में सहायता मिल जाती है अन्यथा रट कर उन रूपों को ग्रहण करना पडता है।

भाषा और मनोविज्ञान

मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी विशेष परिस्थिति का परिणाम है। वे परिस्थितियाँ चाहे वाह्य वातावरण से सम्बन्धित हों और चाहे मानव-भावनाओं को उत्तेजित करने वाली हों। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि परिस्थिति का फल कार्य न होकर परिस्थिति सबंधी उद्गार ही होते है। ये ही उद्गार भाषा के मूल में हैं। हम एक तीसरी स्थिति का भी अनुमान लगा लेते हैं कि उक्त परिस्थिति के सामने आने पर यदि भाषा का रूप निखार में आ चुका है तो हम उस सम्बन्ध को केवल सोच कर रह जाते हैं। सोचने-विचारने की इन्हीं विविधताओं का विश्लेषण करना मनोविज्ञान का वर्ण्य-विषय है। इन्हीं विचारों की अधिकता के परिणामस्वरूप ही मानव के कार्य-कलापों में अभिवृद्धि हुई है। मनुष्येतर प्राणियों में विचार-शक्ति का अभाव है। फलत उनकी क्रीडाओं का विकास केवल परिस्थिति और तज्जन्य क्रिया तक ही सीमित है।

परिस्थितियाँ अभाव और वातावरण की देन हैं। अतएव उनमें अनेक-रूपता है। मानव-मस्तिष्क पर उनकी प्रतिक्रियाँ भी तद्नुकूल विविधता लिए हुए हैं। निरन्तर उन्हीं परिस्थितियों में पडे रहने पर मनुष्य के स्वभाव एवं संस्कार का भी उसी प्रकार से विकास होता है और वह वैसा ही सोचने लगता है जैसी उसकी परिस्थितियाँ हैं। अछूतों के प्रति हमारी धारणा की अभिव्यक्ति जो हरिजन (भक्त) के शब्द-रूप में हुई है वह निस्सन्देह आधुनिक युग की साम्य भावना के कारणस्वरूप है। भाषा के दैनिक व्यवहार में उच्चारण तथा गठन सबंधी जो आदत मनुष्य में दिखाई पडती है निश्चय ही वह एक ही प्रकार से सोचते रहने का परिणाम कहा जा सकता है। इस प्रकार भाषा या भाषा-रूपों के परिवर्तन के मूल कारणों का ज्ञान हम मनोविज्ञान की सहायता से प्राप्त कर सकते हैं।

भाषा और भूगोल-शास्त्र

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'भाषा अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन का अध्ययन है'। इस लक्ष्य का आधार लेकर हम यह भी कह सकते हैं कि

भाषा के वैज्ञानिक एव विश्लेषणात्मक अध्ययन से अनेक शास्त्रों की विवादास्पद गुत्थियाँ सुलझती हैं। प्रागैतिहासिक युग में आर्य-जाति द्वारा परिचित वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु तथा अन्य प्राकृतिक अवस्थाओं का ज्ञान हमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा ही सम्भव हुआ है और उनके आधार पर ही हम ऐतिहासिक अध्ययन की पुष्टि कर सके हैं।

प्रकृति के शक्तिशाली उपकरण नदी, पर्वत, जंगल आदि समाज के संगठन को मोड़ने में सहायक होते हैं। फलस्वरूप भाषा-परिवर्तन के अनुमानों की पुष्टि होती है। भाषा की स्थानीय विभिन्नताओं के मूल में विशेष रूप से इन्हीं भौगोलिक उपकरणों का ही हाथ है। मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी भारत की भाषाओं की लगभग सामान्य गठन के आधार पर हम लेमुरी प्रायद्वीप की कल्पना कर लेते हैं और अपने इन भौगोलिक अध्ययन को पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। ठीक इसके विपरीत ग्रियर्सन के भाषा सम्बन्धी इस निष्कर्ष की पुष्टि कि भारत में तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाओं की लगभग डेढ़ सौ बोलियाँ हैं, हम इस भौगोलिक तथ्य के आधार पर कर सकते हैं कि उपत्यकाओं में रहने के कारण वहाँ की जातियों का सामाजिक गठबन्धन नहीं रह पाता होगा। फलस्वरूप भाषा की विकासशील पद्धति के अनुसार उनमें अनेकरूपताएँ आ गई होंगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों शास्त्रों का ज्ञान पारस्परिक रूप में सहयोगी है।

भाषा-विज्ञान और इतिहास

मनुष्य का जीवन समाज, धर्म और राजनीतिक क्रिया-कलापों से सम्बद्ध रहता है। ये तीनों तत्त्व मनुष्य के जीवन एवं भाषा को प्रभावित करते हैं। भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक ज्ञान का आधार लेना पड़ता है। किसी भी देश की जीवित एव मृत भाषाओं का इतिहास से गहरा सम्बन्ध रहता है। राजनीतिक हलचलों से देश का इतिहास प्रभावित होता है जिसका भाषा पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मुगल, अंग्रेज, फ्रेंच, पुर्तगाली आदि विदेशी सत्ताओं के सम्पर्क से हिन्दी भाषा में सैकड़ों विदेशी शब्द अपना लिए गए हैं। साथ ही अनेक शब्दों की संरचना पर भी विदेशी प्रभाव पड़ा है। धर्म सम्बन्धी अनेक शब्दों का भाषा में परिवर्तन होता रहता है। धर्म-विशेष के अपनाने पर सम्बन्धित शब्द भाषा में आ जाते हैं अन्यथा धर्म के लोप के साथ ही धर्म सम्बन्धी शब्द भी लुप्त हो जाते हैं और धर्म के लोप के साथ ही धर्म सम्बन्धी शब्द भी लुप्त हो जाते हैं। सामाजिक रीति-रिवाज भी भाषा को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार भाषा-

विज्ञान के अध्ययन मे इतिहास का स्थान महत्वपूर्ण है। भाषा मे पाए जाने वाले अनेक परिवर्तनो के आधार पर ऐतिहासिक गुत्थियो को सुलझाने मे भी सहायता मिलती है।

तर्कशास्त्र

आधुनिक भाषाविज्ञान मे अध्ययन के साथ विश्लेषण की प्रक्रिया समन्वित होने के कारण भाषाविज्ञान मे तर्कशास्त्र की महत्ता स्वीकार की गई है। भाषा के व्याकरणिक नियमो की व्याख्या एव विश्लेषण मे तर्क के आधार पर ही नियमो को मान्यता दी जाती है। यद्यपि तर्क से भाषा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है और भाषा तर्क के आधार पर नही चलती, किन्तु भाषा के अर्थ-द्योतन की प्रक्रिया तर्क के आधार पर ही मान्य हो सकती है। तर्क भी भाषा के आधार पर किया जाता है। अत दोनो के अन्योन्याश्रित सम्बन्धो को मान्यता दी जाती है।

नृतत्व-विज्ञान

मानव के प्रारम्भिक स्वरूप से लेकर वर्तमान स्वरूप तक विकास की विभिन्न दशाओ का ज्ञान हमे विज्ञान द्वारा होता है। भाषा-विकास का इतिहास भी मानव-विकास के सोपान से सम्बद्ध है। इसीलिए हम मनुष्य की भाषा को नृतत्व विज्ञान से सम्बन्धित देखते हैं। विभिन्न समाजो की भाषाएँ एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं फिर भी ये सब अपनी व्यक्तिगत विशेषताए लिए हुए हैं। नृतत्व विज्ञान से मनुष्य के विकास, भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियो के सम्मिश्रण, पृथकत्व, परस्पर सहयोग एव विद्रोह आदि दशाओ के परिणाम ज्ञात होते हैं। अत स्पष्ट है कि विभिन्न समाजो के सम्पर्क मे आने या विलग रहने पर भाषाओ मे क्या परिवर्तन लक्षित होते है, ऐसी समस्याओ को सुलझाने मे नृतत्व विज्ञान भाषाविज्ञान की सहायता करता है।

भाषाविज्ञान का इतिहास

भारतवर्ष मे सदियो पूर्व सस्कृत भाषा के अध्ययन एव विश्लेषण के आधार पर भाषाशास्त्र के ऐसे सामान्य सिद्धान्तो की विवेचना प्राचीन आचार्यों ने प्रस्तुत की थी जो केवल सस्कृत के लिए ही महत्वपूर्ण नही थी वरन् भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी पाश्चात्य भाषावैज्ञानिको ने उसके महत्व को स्वीकार किया है। सस्कृत के प्राचीन विद्वानो मे पाणिनि की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है।

आधुनिक भाषाविद् ब्लूमफील्ड, कैरोल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने पाणिनि की अत्यधिक सराहना की है। उन्होंने पाणिनि को प्राचीन एवं आधुनिक भाषाविज्ञान की कड़ी बताया है। पाणिनि के पूर्व और पश्चात् भी अनेक आचार्य एवं वैयाकरणों ने इस क्षेत्र में कार्य किया है। परन्तु प्राचीन भारत में इस ओर जो भी कार्य हुआ उसमें भाषाशास्त्र की दृष्टि से व्यापकता प्राप्त नहीं होती।

प्राचीन काल में यूनान में भी इस क्षेत्र में भाषाविषयक कार्य किया गया। यूनानी विद्वान ग्रीक भाषा को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में उन्हें ज्ञान नहीं था। अतः उनका दृष्टिकोण संकुचित और सीमित था।

कतिपय विद्वानों के मतानुसार भारत के वैयाकरणों ने भी संकुचित दृष्टि से काम किया है क्योंकि उनकी दृष्टि भी संस्कृत तक ही सीमित रही है। उन्होंने भी बाहर देखने का प्रयास नहीं किया है। परन्तु यहाँ इस सीमित ज्ञान का एकमात्र कारण यही था कि संस्कृत सर्वप्राचीन भाषा थी और उसके समकक्ष अन्य भाषाओं का विकास भी नहीं हुआ था। आज भी ग्रीक आदि भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत की प्राचीनता और उसके महत्व को बराबर स्वीकार किया जाता है।

'बंगाल एशियाटिक सोसायटी' के स्थापना-दिवस पर सर विलियम जोन्स ने सन् १७९६ ई० में ग्रीक, लैटिन की अपेक्षा संस्कृत को श्रेयस्कर बताया था और स्पष्ट किया था कि इन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है कि ये सभी भाषाएं एक स्रोत से उद्भूत हैं। बाद में यूरोप के अनेक विद्वान् इस ओर अग्रसर हुए और तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने उपरोक्त कथन की सत्यता प्रमाणित की। समस्त आर्य भाषाओं का मूल स्रोत एक ही है जिसे भारोपीय की संज्ञा दी गई है। भारोपीय भाषा संगठित आर्यों की भाषा मानी गई है तथा उसका विघटन काफी बाद में हुआ। आर्यों के निवास-स्थान के सम्बन्ध में काफी मतभेद है और तत्सम्बन्धी मत-निर्धारण में प्रत्येक देशवासी का कुछ न कुछ मोह प्रकट होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि बहुत काल तक आर्यों का निवास-स्थान मध्य-एशिया रहा और वहीं से इनका विघटन आरम्भ हुआ। आर्यों की विभिन्न शाखाएं पश्चिम एवं पूर्व की ओर फैलती गईं और तभी से भारोपीय परिवार की भाषाओं का उद्भव और विकास माना जा सकता है।

भाषाशास्त्र का प्राचीन अध्ययन ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व तक का प्राप्त होता है। यही प्राचीन अध्ययन वैदिक संस्कृत या प्राचीन आर्य भाषा

के अध्ययन एवं विश्लेषण के रूप में विद्वानो ने प्रस्तुत किया। इसमे भाषा के सभी अगो, उपागों अथवा भाषा की सामान्य विशेषताओ के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय कार्य प्राप्त होता है जिसमे पद-विकास, व्याकरणिक विवेचन, भाषा की उत्पत्ति, वाक्यीय सरचना, अर्थ-विकास सभी का सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है। एक दृष्टि से यह अध्ययन व्यावहारिक (applied) रूप मे अधिक है। कतिपय विद्वान इसे अवैज्ञानिक कहते हैं परन्तु इसे पूर्णतया अवैज्ञानिक कहना सत्य नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से भारतीय प्राचीन आर्य भाषा का अध्ययन जितना गहन, सूक्ष्म, सम्पूर्ण, एव उन्नत है कि उसके महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता।

भाषाविज्ञान के सक्षिप्त इतिहास को देखने के लिए उसके प्राचीन एवं अर्वाचीन कार्यों पर दृष्टिपात करना यहाँ समीचीन होगा।

प्राचीन भारत में अध्ययन-पद्धति एवं कार्य

भारत मे ही केवल नही वरन् सम्पूर्ण ससार मे प्राचीन अध्ययन वहुत कुछ धार्मिक विचारधारा के प्रचलन के सदर्भ मे आरम्भ हुआ था। यह वृत्ति काफी समय तक चली। आर्यावर्त के विविध क्षेत्रो मे केवल एक प्रतिष्ठित भाषा नही थी वरन् वैदिक भाषा के कई रूपो का वाहुल्य था। वैदिक भाषा के अनेक वैभाषिक रूप वर्तमान थे। उपनिषदो एव ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इनका विभिन्न स्थानो पर उल्लेख मिलता है जिनमे सस्कृत भाषा के प्रयोग, अनार्यों का वहिष्कार एव दीक्षित और अदीक्षित का भी भेद प्राप्त होता है। वैदिक भाषा पर भी आर्येतर प्रभाव पडता रहा है, इस वात से प्राचीन सस्कृत भाषा-भाषी अवगत थे। अत: इन प्रभावो से वे भाषा को वचाना चाहते थे। सस्कृत भाषा की शुद्धता को सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार से पाठो की व्यवस्था की गई थी। यथा

सहिता-पाठ सहितापाठ मे किसी प्रकार का सन्धि-विच्छेद आदि न था, अत यह सहज नही था। कुछ लोग उसका अशुद्ध उच्चारण करते थे और ऐसा करना पाप माना जाता था। इस कारण अशुद्ध उच्चारण करने वाले को दडित किया जाता था। वैदिक युग का सहिता पाठ सामन्य लोगो के लिए दुरूह था। अतएव सहिता पाठ की अपेक्षा पद-पाठ को मान्यता दी जाने लगी।

पद-पाठ पद पाठ मे सस्कृत भाषा का व्याकरणिक अध्ययन प्राप्त होता है। इसका श्रेय शाकल्य मुनि को दिया जाता है। पद पाठ की विशेषता यह है कि इससे भाषा की सामासिक रचना, स्वराघात, सन्धि-नियम, पद-विश्लेषण आदि विशेषताओ का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता था।

संस्कृत में स्वराघात आज की भाषा से भिन्न था। आरोह-अवरोह के साथ गीतात्मक स्वराघात का प्रयोग होता था। अनुदात्त (नीचा), उदात्त (ऊंचा), स्वरित (सम) इन तीन प्रकारों से सुर का परिवर्तन होता था जिनके द्वारा शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन हो गया था। अत वैदिक संस्कृत में उचित स्वराघात के प्रयोग पर ही बल दिया जाता था। उसको चिह्नों द्वारा स्पष्ट किया जाता था। वह जिस प्रकार चिह्नित होता था, उसी प्रकार परम्परागत रूप में उसका उच्चारण अनिवार्य होता था।

जब वैदिक भाषा का निर्माण हुआ तो उस समय कोई लिपि न थी। सम्पूर्ण अध्ययन मौखिक होता था, इसी कारण स्वराघात पर विशेष बल दिया जाता था। लिपि का विकास बहुत बाद में हुआ और तभी भाषा लिपिबद्ध हुई। इसमें स्वराघात चिह्नित किया गया। चारों वेदों पर पद-पाठ तैयार किया गया एवं एक सरल रूप प्रस्तुत किया गया जिससे उच्चारण एवं प्रयोग में यथेष्ट सरलता हो गई।

संस्कृत भाषा पर कार्य करने वाले वैयाकरणों की प्राचीन परम्परा रही है परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से ईसा से ७००-८०० पूर्व इस ओर उल्लेखनीय कार्य हुए हैं जिसमें कतिपय विद्वानों का विशेष महत्व है।

यास्क -यास्क मुनि के पहले भी वैयाकरणों की परम्परा थी। इसका उल्लेख हमें यास्काचार्य के 'निरुक्त' में प्राप्त होता है। 'निरुक्त' में कतिपय वैयाकरणों का योग प्रतीत होता है। 'निरुक्त' के दो खंड हैं निरुक्त एवं निघण्टु। इसमें पद-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जिसमें शब्द की प्रकृति एवं प्रत्यय आदि विभागों का विवेचन प्राप्त होता है। सामान्य अर्थ में 'निरुक्त' व्युत्पत्ति को भी कहते हैं। निघण्टु को शब्द-कोश अथवा 'वैदिक शब्दों का कोश' कहा जा सकता है। निघण्टु कालों की भी एक परम्परा रही है। पुराने ग्रन्थों के अभाव में यास्क ने स्वयं एक ग्रन्थ तैयार कर इसी के आधार पर निरुक्त की रचना की और निघण्टु शब्दावली के आधार पर शब्द-व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत कीं। साथ ही साथ इसमें अनेक भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया। यास्क पहले आचार्य हैं जिनके द्वारा भाषा के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा के रूपों के सम्बन्ध में विशेषतया अनुकरणात्मक शब्दावली का पर्याप्त प्रयोग किया है। इस प्रकार का अध्ययन भी यास्काचार्य द्वारा ही प्रस्तुत किया गया। यास्क के समय में निर्देशित पद-विश्लेषण 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च' अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग,

निपात रूपो मे पद-विश्लेषण आज भी महत्वपूर्ण है। नाम-संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, आख्यात-क्रिया, उपसर्ग-प्रत्यय आदि के रूप है। समस्त पद सार्थक प्रत्यय-उपसर्ग के अन्तर्गत आते हैं। निपात—अव्यय (क्रियाविशेषण, विस्मयादि-बोधक, समुच्चयबोधक सर्वतत्व थे। उन्होंने शब्द, अर्थ आदि के सम्बन्ध में विस्तृत रूप मे शब्द-व्युत्पत्तियो का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यास्क मुनि ने भाषा का ऐसा सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जिसे हम आज भी स्वीकार करने को बाध्य हैं। निरुक्त पर अनेक व्यक्तियो ने सम्पादन-कार्य किया है।

पाणिनि यास्क मुनि ने पाणिनि के व्याकरण की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी और उनके कार्य से लोगो मे संस्कृति के प्रति विशेष श्रद्धा भाव जागृत हो गया था। अत जब पाणिनि ने संस्कृत भाषा के नियमो का निर्धारण किया तो तत्कालीन उत्कृष्ट वर्ग के लोगो ने इसे ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना कर संस्कृत के समस्त व्याकरण सम्बन्धी नियमो को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सूत्रबद्ध कर दिया। अष्टाध्यायी मे आठ अध्याय है जिसका प्रत्येक अध्याय चार पादों मे विभाजित है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ३२ पादो मे प्राप्त होता है जिसमें लगभग ४००० अत्यन्त छोटे एव पूर्ण सूत्र हैं जिसमे समस्त व्याकरण समाहित हो गया है। अष्टाध्यायी मे १४ उणादि सूत्र भी हैं जिन पर पृथक् व्याकरण की रचना की जा सकती है। पाणिनि के पूर्व के व्याकरणिक रूपो में स्वच्छन्दता और विविधता वर्तमान थी। उन्ही को पाणिनि ने सूत्रो द्वारा एकरूपता प्रदान करने का प्रयास किया। वैदिक युग मे इस प्रकार की सूक्ष्मता प्राय. मिलती है। वैदिक अथवा छान्दस् की प्रयोग-बहुलता का उल्लेख पाणिनि ने किया है परन्तु लौकिक संस्कृत में इस प्रकार की बहुलता प्राप्त नही होती। पाणिनि के प्रयोगो की बहुलता का विशेष महत्व है। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ बताए जाते हैं परन्तु प्राप्य ग्रन्थ केवल 'अष्टाध्यायी' ही है।

पाणिनि के ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके कार्य मे तुलनात्मक अध्ययन का अभाव है। साथ ही पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शिष्टवर्ग की भाषा लौकिक संस्कृत को ही विशेष मान्यता पाणिनि द्वारा दी गई है और उसमें जनसामान्य की भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

पाणिनि ने वैदिक एव लौकिक संस्कृत के तुलनात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया है। अत यह आरोप निराधार है कि पाणिनि तुलनात्मक पद्धति से अपरिचित थे। कतिपय विद्वानो के मतानुसार उनके कार्यो मे संकीर्णता प्राप्त होती है क्योंकि पाणिनि जिस क्षेत्र के थे वह ईरान के समीप था परन्तु उन्होंने ईरानी भाषा के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है

तत्कालीन समाज मे संस्कृत सर्वोपरि उन्नत व सम्पन्न भाषा थी। अत संस्कृतविद् को अन्य भाषाओ के अध्ययन की आवश्यकता भी हो सकती है, इस ओर किसी का ध्यान ही न था। अत पाणिनि पर आरोपित सकीर्णता का वास्तविक कारण तत्कालीन वातावरण व परिस्थिति ही को मानना चाहिए। यह पाणिनि का दोष नही, वरन् उस समय के शिष्टमण्डल का ही दोष कहा जा सकता है।

विशेषताएँ विद्वानो ने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की मुक्त कण्ठ मे प्रशसा की है। आधुनिक भाषाविद् भी उसके सम्यक् विश्लेषण को पूर्ण एव समीचीन मानते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विश्लेषणात्मक पद्धति का ज्ञान होता है। आज जबकि वर्णनात्मक पद्धति को प्रश्रय दिया जाने लगा है तो प्राचीन कार्यों का मूल्य प्रतीत होने लगा है। पाणिनि ने जिस पद्धति से संस्कृत का अध्ययन प्रस्तुत किया, उसी आधार पर अन्य भाषाओ का भी अध्ययन किया जा सकता है।

पाणिनि द्वारा प्रतिपादित अनेक ऐसे सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जिन्हें आज भी मान्यता दी जा रही है। आधुनिक भाषाविज्ञान मे वाक्य को भाषा की इकाई माना जाता है। पाणिनि के शब्दो मे 'वाक्य भाषा का पूर्ण अवयव है' जिसे आज भी स्वीकार किया जाता है, क्योकि ध्वनि, शब्द या पद किसी के भी द्वारा पूर्ण भावाभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसी का सकेत यास्क ने 'चत्वारि पद जातानि' मे दिया था। परन्तु पाणिनि ने उपरोक्त मत का खडन करके सुबन्त एव तिङन्त-दो रूपो को स्वीकार किया। उन्होने धातुपाठ का भी निर्देशन किया। उनके अनुसार 'धातु वे अश हैं जो पद-रूपो का विकास करते हैं' अर्थात् धातु के आधार पर ही पद-रूपो का विकास होता है। प्रातिपदिक एव धातु का अन्तर भी पाणिनि ने स्पष्ट किया है। अष्टाध्यायी मे प्रकृति एव प्रत्यय विभागो के द्वारा शब्दो की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ढग से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। धातु-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे अधिक विशद एव मौलिक विवेचन पाणिनि का ही है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ पाणिनि-शिक्षा मे ध्वनियो के उच्चारण-स्थान, स्वरूप-विभाजन आदि का विवेचन जिस रूप में दिया है, वह आज भी मान्य है। पाणिनि के सन्धि-सूत्रो का महत्व एवं ध्वनि-सामीप्य से उत्पन्न ध्वनियो के आगम, लोप, विकार आदि आज भी भाषाओ के ध्वनि-विवेचन मे सहायता देते हैं, यद्यपि कतिपय मान्यताओ मे अन्तर भी पाया जाता है। कुछ व्यंजन जो उस समय दन्त्य, वर्त्स्य, तालव्य आदि रहे होगे, आज स्पर्श-सघर्षी के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। समय के साथ-साथ

भाषा के संपूर्ण रूपो का विकास होता रहा है फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान सभी ने पाणिनि के अध्ययन की महत्ता स्वीकार की है।[1]

वर्णनात्मक पद्धति को आधुनिक भाषाविज्ञान की विशेषता मानने वाले विद्वान भी पाणिनि से प्रभावित है। आज अध्ययन के स्वरूप मे भिन्नता इस कारण प्राप्त होती है, क्योकि आज केवल बोलचाल की भाषा का वर्णन महत्वपूर्ण माना जाता है और प्राचीन समय मे भाषा के लिखित रूप की प्रमुखता थी।

कात्यायन पाणिनि के पश्चात् एक अन्य सम्प्रदाय 'ऐन्द्र' का उल्लेख मिलता है। ऐन्द्र सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दक्षिण मे था। कात्यायन इसी सम्प्रदाय के माने जाते हैं। प्रातिशाख्यो एव कातन्त्र सम्प्रदाय पर ऐन्द्र व्याकरण का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। डा० बेलवेलकर ने ऐन्द्र और कातन्त्र को समान माना है। कात्यायन का समय ईसा से २०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार यह पाणिनि से लगभग २००—२५० वर्ष पश्चात् का समय है परन्तु कुछ लोगो ने उन्हे पाणिनि के समकालीन माना है। कात्यायन के कार्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे पाणिनि के समकालीन नही हो सकते। पाणिनि के पश्चात् वैयाकरण परम्परा मे कात्ययन का नाम आता है।

कात्यायन ने अपना व्याकरणिक विवेचन 'वार्तिक' के नाम से प्रस्तुत किया है। 'वार्तिक' मे १५०० सूत्रो का विवेचन प्राप्त होता है। पाणिनि एव कात्यायन के समय के मध्य मे सस्कृत मे जो भी परिवर्तन हुए हैं, उन्ही का उल्लेख सम्भवतः वार्तिककार ने प्रस्तुत किया है, क्योकि उनकी चर्चा अष्टाध्यायी मे नही है। इस प्रकार जो नियम अष्टाध्यायी मे नही थे, उनका उल्लेख 'वार्तिक' मे है। साथ ही जो परिवर्तन भाषा मे प्राप्त हुए होगे उससे सम्बन्धित अष्टाध्यायी सूत्रो का खडन भी वार्तिक मे प्राप्त होता है। वैसे कात्यायन ने अधिकाशतः पाणिनि के ही पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रो के स्पष्टीकरण के लिए वार्तिक महत्वपूर्ण है,

१. Western scholars were for the first time exposed to the descriptive methods of the Hindu Grammarian Panini, influenced directly or indirectly by Panini, began to produce descriptive and historical studies Study of Language Caroll

इस अर्थ में यह अष्टाध्यायी के पूरक कहे जा सकते हैं। व्याकरणिक परम्परा में वार्तिकों का अत्यन्त महत्व है।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य भी कात्यायन की रचना मानी जाती है। इनमें वैदिक (छन्दस्) भाषा के सूत्रों के नियमों का विवेचन पाणिनि के अनुरूप ही प्रस्तुत किया गया है।

पतंजलि पतंजलि का समय लगभग १५० ई० पूर्व माना गया है। यह निश्चित है कि वे कात्यायन के परवर्ती थे। पतंजलि महाभाष्य, योगसूत्र एवं चरक-संहिता आदि ग्रन्थों के रचयिता माने जाते थे।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पातंजलि का 'महाभाष्य' महत्वपूर्ण है। महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुरूप आठ अध्याय एवं चार पादों में विभाजित किया गया है। महाभाष्य की भाषा भी सहज एवं सरल अभिव्यक्ति के साथ ही संस्कृत की प्रवाहमान भाषा ग्रन्थ का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

पतंजलि के महाभाष्य में वार्तिक का खंडन किया गया है, विशेष रूप से उन अंशों का जिनमें अष्टाध्यायी की आलोचना की गई है। साथ ही अष्टाध्यायी सूत्रों का मंडन हुआ है अथवा महाभाष्यकार ने अष्टाध्यायी के दुरूह सूत्रों को सरल मौलिक एवं सूक्ष्म चिन्तन द्वारा इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह सरलता से समझे जा सकें। भाषा के दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से संस्कृत वैयाकरणों में पातंजलि का महत्वपूर्ण स्थान है। महाभाष्य की सम्पूर्ण रचना अष्टाध्यायी को आधार मान कर की गई है परन्तु अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण महाभाष्य संस्कृत-व्याकरण की मौलिक रचना हो गई है। संस्कृत में उस समय तक ऐसा कोई भी व्याकरण उपलब्ध न था जिसमें भाषा का व्याकरणिक स्तर पर गहन एवं विशिष्ट रूप में विचार किया गया हो।

महाभाष्य में पद-रचना सम्बन्धी विशेषताएं पाणिनि का समर्थन करती हैं।- इसमें शब्द एवं अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर मौलिक दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

'सिद्धे शब्दार्थे सम्बन्धे'-इस कथन द्वारा पतंजलि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। उनके अनुसार शब्द से अर्थ का कभी विच्छेद नहीं होता। कुछ व्यक्तियों ने इसका अर्थ इस प्रकार लगाया है कि 'शब्द के अर्थ का कभी भी परिवर्तन नहीं होता' परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि भाषा-विज्ञान के अनुसार शब्द के अर्थ का विकास एवं परिवर्तन होता रहता है, इसी अर्थ में ही उक्त कथन का अर्थ लेना चाहिए।

पतंजलि के महाभाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। परन्तु शब्द एवं अर्थ

के विषय को लेकर महाभाष्य के उपरान्त जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया वह था भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय'। इसमे अन्य पद-रूपो का भी विवेचन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी अथवा महाभाष्य पर जो टीकाए लिखी गई उनमे दो ही महत्वपूर्ण हैं भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' एव कैय्यट का 'महाभाष्य प्रदीप'। कैय्यट के 'प्रदीप' पर भी अनेक टीकाए लिखी गई। उनमें नागोजि भट्ट की 'उद्योत' नामक टीका अधिक प्रचलित हुई। इन टीकाकारो ने टीकाओ को आधार रखकर अनेक मौलिक विचारधाराए प्रस्तुत की। वैसे भर्तृहरि के पश्चात् अन्य मौलिक रचनाएँ इतनी महत्वपूर्ण न रही। व्याकरण मे पाणिनि शाखा के अतिरिक्त शाकटायन का तत्र, चन्द्रगोविन्द का चान्द्र सम्प्रदाय, शब्दानुशासन के लेखक हेमचन्द्र एव मुक्तिबोध के रचयिता बोपदेव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बगाल मे परवर्ती काल मे अन्य शाखाएँ मिलती है परन्तु उनका महत्व भी पाणिनि-पतजलि परम्परा मे ही है। पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण मोद्गल्यायन (मोगल्लान), कात्यायन (कच्चायन), अपभ्रश मे हेमचन्द्र एव मार्कण्डेय आदि हैं जिन्होने भाषा सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

व्याकरण के अतिरिक्त काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, मीमासा आदि मे शब्द-अर्थ आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया। यद्यपि उनमे काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण ही प्रमुख था परन्तु यह भाषाविज्ञान का ही विषय-क्षेत्र है। अत. उसके कार्यों पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे भी शब्द-अर्थ से सम्बन्धित विभिन्न निष्कर्ष दिए गए हैं जो महत्वपूर्ण हैं। परन्तु मीमासको और नैय्यायिको ने अर्थ को प्रमुख मानकर ही इस क्षेत्र मे कार्य किया। अत वह अर्थ सम्बन्धी कार्य अर्थ-विज्ञान मे ही विशेष उपयोगी है। तन्त्र मे भाषा के ध्वनिपक्ष का विवेचन प्राप्त होता है।

आधुनिक भारतीय कार्य

प्राचीन भारत मे भाषा सम्बन्धी उपरोक्त कार्यों का महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है क्योकि आधुनिक युग मे भाषाविज्ञान की दृष्टि से लगभग १०० वर्ष पहले ही इस प्रकार के अध्ययन का आरम्भ हुआ है। किन्तु आधुनिक नवीन अध्ययन का श्रेय पश्चिमी विद्वानो को है, जिन्होने भारत के प्राचीन कार्यों से सहयोग प्राप्त कर अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है। आधुनिक काल मे भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे भी पाश्चात्य विद्वानो का योगदान प्राप्त हुआ है। सन् १८५६ ई० के पश्चात् बीम्स ने भारतीय भाषाशास्त्र, आर्य भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण (जिसमें उन्होने हिन्दी, बगला, उडिया, गुजराती, मराठी, पजाबी, सिन्धी

आदि भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण) प्रस्तुत किया है। हिन्दी व्याकरण पर १८७६ में कैलाग ने उपयोगी कार्य किया। रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने भी भाषाशास्त्र पर नवीन दृष्टि से विचार किया। हार्नले, रेल्फ़ लिली टर्नर और ज्यूलब्लाख ने भी भारतीय भाषाओं पर महत्वपूर्ण कार्य किया परन्तु जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण जो १७ बड़ी-बड़ी जिल्दों में प्रकाशित है, महान् कार्य है। संस्कृत भाषा पर डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, सूर्यकान्त शास्त्री, मनमोहन घोष आदि के कार्य प्रमुख हैं। पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश पर भी डॉ० मजूमदार, डॉ० मनमोहन घोष, डॉ० तगारे प्रभृति विद्वानों ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

हिन्दी भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में पं० कामताप्रसाद गुरु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० विश्वनाथप्रसाद, डा० हरदेव बाहरी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० उदयनारायण तिवारी आदि विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी की लगभग सभी उपभाषाओं पर कार्य हो चुका है या हो रहा है। भाषाविज्ञान को नवीन दिशा में आज भी भारतीय विद्वान् निरन्तर अपने कार्य में संलग्न हैं।

प्राचीन यूरोप में अध्ययन-पद्धति एवं कार्य

आधुनिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ वस्तुतः यूरोप में ही हुआ। प्राचीन समय में संस्कृत भाषा-भाषी वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के प्रति आस्था रखते थे, ग्रीक आदि भाषाओं के प्रति प्रायः उपेक्षा की भावना रहती थी। यही व्यवहार यूनानियों का रहा। उन्होंने भी ग्रीक भाषा को सर्वोपरि एवं उत्कृष्ट माना। परन्तु उनकी संकीर्ण भावना के कारण भाषा सम्बन्धी विशेष कार्यों की उपलब्धि न हो सकी, वरन् उनकी भाषा-विवेचना से सामान्य एवं व्याकरणिक रूपों का थोड़ा-सा परिचय प्राप्त हो जाता है। ग्रीक भाषा की अनेक विभाषाएं थीं परन्तु उनका ज्ञान भी सम्यक् नहीं माना जाता था और वे लोग अपनी ही विभाषाओं को बर्बरता की संज्ञा देते थे। साथ ही ग्रीक भाषा का जो थोड़ा बहुत कार्य उपलब्ध है वह वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल नहीं है। यूनान के विद्वान् भाषा-विश्लेषण की अपेक्षा दार्शनिक ढंग से भाषा का अध्ययन करते थे जिसमें कल्पना की प्रमुखता थी। अतः उनकी अपेक्षा यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय अध्ययन को महत्ता दी है।[1]

१ Science presupposes careful observation and systematic

यूनानी विचारकों मे प्रथम सुकरात था। उसकी मान्यता थी कि शब्द एव अर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक न होकर रूढ है। सुकरात के इस मत को मान्यता मिली। सुकरात ऐसी भाषा की कल्पना भी करता है जिसमे शब्द एव अर्थ का नैसर्गिक सम्बन्ध हो सकता है परन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह मत मान्य नही है, केवल अनुकरणात्मक अथवा रणात्मक शब्दो मे ही अर्थ के साथ नैसर्गिक सम्बन्ध माना जा सकता है और पूर्णत रणात्मक शब्दो की कोई भी भाषा सम्भव नही है।

सुकरात के पश्चात् प्लेटो का कार्य उल्लेखनीय है। शब्द और अर्थ के नैसर्गिक सम्बन्ध पर प्लेटो ने भी अपने विचार व्यक्त किये परन्तु प्लेटो का महत्वपूर्ण योग ग्रीक भाषा की ध्वनियो का वर्गीकरण एव व्यवस्थित ध्वनि-विन्यास है। प्लेटो के पश्चात् अरस्तू का नाम आता है। अरस्तू ने वाक्य के उद्देश्य एव विधेय आदि के भेदों को प्रदर्शित किया। अरस्तू ने सज्ञा, क्रिया, कारक, लिंग आदि का भी विभाजन किया, साथ ही शब्द एव अर्थ के रूढ सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। प्लेटो ने सघोष, अघोष एव प्राणत्व के आधार पर ध्वनियो का विभाजन किया था जिसका विस्तृत विवेचन बाद मे यूरोपीय भाषाविदो ने प्रस्तुत किया।

उपरोक्त तीनो ही विद्वान् भाषाशास्त्री नही थे। अत भाषाशास्त्र की दृष्टि से उनका विवेचन अधिक महत्व का नही है। उनके पश्चात् दियोनिसियस थ्रैक्स ने उपरोक्त विद्वानो द्वारा चर्चित विचारो का अपने व्याकरण ग्रन्थो मे विवेचन प्रस्तुत किया। थ्रैक्स भी ग्रीस का था। ग्रीस मे जो भी कार्य हुआ लगभग १८वी शताब्दी तक वह उसी रूप मे मान्यता प्राप्त करता रहा परन्तु मध्ययुग तक आते-आते अन्य भाषाओ का अधिक विकास हो जाने से ग्रीक का प्रभाव उतना नहीं रहा।

यूरोप मे ग्रीक भाषा के सदृश लैटिन का अत्यन्त महत्व था। आज जिस प्रकार सभ्य समाज की भाषा अंग्रेजी मानी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन यूरोपीय क्षेत्रो मे लैटिन को प्रमुखता मिली थी। इसका मुख्य कारण था

, classification of facts and of that in the old Greek writers on language we find very little. The earliest masters in linguistic observations and classifications were the old Indian Grammarians.–Language–Its nature, development and origin–Otto Jesperson–p. 20.

'ओल्ड टेस्टामेंट' लैटिन में ही लिखा हुआ प्राप्त होता है। लैटिन के साथ ही यूरोप में हिब्रू भाषा का प्रचलन एवं महत्व था। कतिपय विद्वान् हिब्रू भाषा से इतना प्रभावित थे कि यूरोप के कई प्राचीन भाषाओं की उत्पत्ति हिब्रू से ही मानने लगे थे, यद्यपि उन भाषाओं का हिब्रू से कोई सम्बन्ध न था। हिब्रू के प्रचलन के कारण ही अरबी भाषा का भी यूरोप में प्रभाव हो गया था और इन भाषाओं के प्रचलन एवं प्रभाव के फलस्वरूप कतिपय यूरोपीय विश्वविद्यालयों में हिब्रू, अरबी, सीरी आदि भाषाओं के अध्ययन के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया। यूरोपीय विभिन्न क्षेत्रों में लैटिन का प्रयोग एवं उच्चारण इतने विविध रूपों में होता था कि एक देश का व्यक्ति दूसरे देश के व्यक्ति की लैटिन को समझने में असमर्थ था, क्योंकि प्रत्येक देश की क्षेत्रीय विशेषताएं उच्चारण को प्रभावित करती थी। अतएव पी एल. पल्लस ने पीटर महान् एवं महारानी कैथेराइन द्वितीय को प्रेरित कर उनका सहयोग लेकर यूरोप की प्रचलित भाषाओं के शब्द-समूहों का सकलन कराया। यह कार्य तुलनात्मक भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। लैटिन का व्याकरण भी १४वीं शताब्दी में ल्यूशस ने तैयार किया था, जो कि यूरोपीय भाषाओं की व्याकरण-रचना में आदर्श स्वरूप माना जाता है तथा व्याकरण का आदर्श (prescriptive) बन गया। उस समय तक वर्णनात्मक पद्धति की अपेक्षा आदर्श व्याकरण को ही विशेष महत्व दिया जाता रहा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि तत्कालीन व्याकरण में भाषा के बोलचाल के प्रयोगों का बिल्कुल स्थान न रहा एवं भाषा के साहित्यिक प्रयोगों को प्रश्रय दिया जाता था और उनमें भी सम्पन्न एवं उन्नत रूप का ही विशेष महत्व था। १८वीं शताब्दी तक यही दशा चलती रही। १९वीं शताब्दी के अन्तिम काल में व्याकरण और भाषा के प्रति दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन सम्भव हो सका। किन्तु १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक आदर्श व्याकरण एवं भाषा के उच्च साहित्यिक रूपों को ही महत्व दिया जाता रहा। तत्पश्चात् जर्मनी एवं फ्रान्स आदि देशों में भाषाशास्त्र के अध्ययन के हेतु बर्लिन एवं पेरिस आदि स्थानों पर एकेडेमी स्थापित की गई और वहीं से आधुनिक भाषाविज्ञान सम्बन्धी नए अध्ययन का सूत्रपात हुआ।

आधुनिक अध्ययन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाषा सम्बन्धी प्राचीन अध्ययन में आदर्श भाषा की मान्यता थी। साथ ही लोगों में आध्यात्मिक वृत्ति प्रधान थी। धार्मिक

साहित्य उपलब्ध होने के कारण ही लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि भाषाओं की विशेष महत्ता थी एव लोक-प्रचलित भाषाए उपेक्षित रहती थीं। १८वीं सदी के अन्त मे जेनिश ने 'आदर्श भाषा' विषय पर लेख लिखा जिसमे उसमे उपरोक्त यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। जेनिश के पश्चात् हर्डर ने भी इस क्षेत्र मे कार्य किया परन्तु उन्होंने जर्मन भाषा को विशेष महत्व प्रदान किया था। परन्तु जेनिश ने जर्मन को महत्वपूर्ण नही बताया था। अत जेनिश के मत की उपेक्षा की गई और वह मत आगे न चल सका। बाद मे येस्पर्सन ने जेनिश के कार्यों का समर्थन करते हुए 'Aesthetic Theory of language' के रूप मे उनका समर्थन किया, साथ ही भाषा सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की। येस्पर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज' मे अपने भाषा सम्बन्धी मत का प्रकाशन किया। भाषा-विकास की दृष्टि से पहला कार्य बर्लिन एकेडेमी मे हर्डर द्वारा १७७२ ई० मे किया गया जिसमे उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के 'दैवी सिद्धान्त' का खडन किया और उसके स्वाभाविक विकास सम्बन्धी मत की स्थापना की एव भाषा-विकास के विविध रूपों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। आरम्भ से ही अनुकरणमूलक आधार पर भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक भ्रमपूर्ण मत बना हुआ था। परन्तु हर्डर का प्रयास इस दिशा मे उपयोगी सिद्ध हुआ। उनका मत भाषा के विकास पर भी प्रकाश डालता है और वह भाषा के स्वरूप को स्थिर नही मानता है। हर्डर ने इस मत का प्रतिपादन किया कि भाषा का विकास ही उसकी महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूरोप मे तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ १९वीं शताब्दी से माना जा सकता है। वैसे १८वीं शताब्दी के अन्तिम काल मे सर विलियम जोन्स ने भारत मे 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' (कलकत्ता) की स्थापना करते हुए प्राचीन आर्य भाषाओं के महत्व को स्पष्ट किया था एव यह स्पष्ट घोषणा की थी कि ग्रीक, लैटिन एव सस्कृत भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक नवीन निष्कर्ष भाषा के मूल स्रोत के सम्बन्ध मे ज्ञात किए जा सकते हैं। विलियम जोन्स (१८७४) के पूर्व भी कोर्डो नामक फ्रेन्च पादरी ने सस्कृत के महत्व का ज्ञान कराया था किन्तु इसका ज्ञान लोगो को विलियम जोन्स के पश्चात् ही हो पाया। कोर्डो की विचारधारा विलियम जोन्स की घोषणा के बाद ज्ञात हुई। यह स्पष्ट था कि उस समय भी सस्कृत की सरचना ग्रीक, लैटिन आदि की अपेक्षा समृद्ध एव पूर्ण थी। तभी से यूरोप के लोग सस्कृत, ईरानी, ग्रीक, लैटिन आदि के अध्ययन की ओर उन्मुख हुए।

आज का भाषाविज्ञानी इस बात को मुक्त कठ से स्वीकार करता है कि

समस्त आर्य भाषाओ की जननी आदिम भारोपीय थी जो सगठित आर्यो की भाषा थी। कालान्तर मे उसका ह्रास हो गया। १८वी शताब्दी के पश्चात् पहले भाषाशास्त्री फ्रेडरिख श्लाइगेल (Freidrich W Schlegel) है। इनके दूसरे भाई अडोल्फ श्लाइगेल थे। श्लाइगेल ने 'भारतीय भाषाए एव ज्ञान' (On the language and Wisdom of Indians) के नाम से १८०८ ई० मे एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमे जर्मन, ग्रीक, लैटिन आदि का परम्परागत सम्बन्ध स्थापित किया गया तभी से तुलनात्मक व्याकरण की नीव पडी। श्लाइगेल ने भाषाओ को दो समूहो म विभाजित किया (१) सस्कृत और सगोत्र भाषाए (२) अन्य भाषाए। पहले वर्ग मे अन्तर्विभक्ति का प्रयोग (श्लिष्ट भाषा मे) और दूसरे मे उपसर्ग, प्रत्यय आदि का प्रयोग स्पष्ट किया गया। अडोल्फ श्लाइगेल ने भी भाषाओ के सयोगात्मक एव वियोगात्मक वर्ग बनाए। वे भी सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होने लैटिन के योगात्मक एव रोमन भाषाओ को अयोगात्मक वर्ग मे रखा। रोमन मे यूरोप की वे भाषाएँ हैं जो लैटिन आदि से विकसित होकर आधुनिक आर्य भाषाए-फ्रेंच, इटली स्पेनी, पुर्तगाली, रूमानी, दक्खिनी फ्रेंच आदि भाषाएँ हैं। जर्मन एव रूसी को छोडकर यूरोपीय भाषाए रोमन समूह मे आती हैं।

श्लाइगेल बन्धुओ के कार्यो के पश्चात् भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न स्रोतों को स्वीकार किया गया। भाषा की अनेकरूपता का समर्थन हुआ। अनुकरणात्मक एव अनुरणनात्मक मतो के आधार पर बाद भाषा की उत्पत्ति स्पष्ट की गई एव उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि समस्त भाषाओ का विकास आरम्भिक अवस्था से नही होता। सस्कृत जैसी उन्नत भाषा का आधार कुछ भिन्न कोटि का होना चाहिए। भाषा-वर्गीकरण के अन्तर्गत चीनी को एकाक्षरी मानते हुए भाषा के सयोगात्मक एव वियोगात्मक दो रूप स्पष्ट हुए।

सस्कृत भाषा मे जिस प्रकार पाणिनि, कात्यायन, पतजलि आदि विद्वानो का महत्व है, उसी प्रकार यूरोप के बॉप, रास्क एव ग्रिम तीन प्रसिद्ध भाषाविद् इस युग मे हुए।

फ्रान्त्स् बॉप बॉप फ्रान्सीसी थे। इनका महत्व श्लाइगेल बन्धुओ से भी अधिक है। ये भाषाविज्ञान के जन्मदाता कहे जाते हैं। १८१६ ई० मे इनकी पहली रचना 'धातु प्रक्रिया' पर प्रकाशित हुई। इसमे इन्होने ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। दूसरी रचना १८३३ ई० में प्रकाशित हुई जिसमे इन्होंने सस्कृत, ज़ेन्द, आर्मीनी, ग्रीक, लैटिन, लियुएनी, प्राचीन स्लावी, गॉथी और जर्मन भाषाओ का सम्पूर्ण तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। इनकी एक अन्य रचना १८५४ ई० मे 'ग्रीक और सस्कृत की उच्चारण प्रक्रिया' पर

प्रकाशित हुई। यह इनके तुलनात्मक व्याकरण का पूरक ग्रन्थ माना जा सकता है। तुलनात्मक व्याकरण के क्षेत्र मे बॉप की महत्ता है। इन्होंने विविध व्याकरणिक रूपो के व्युत्पत्तिमूलक विचारो को प्रस्तुत किया। इनकी मान्यता थी कि विभक्तियाँ जो शब्द के अन्त मे जोडी जाती थी, वे घिसकर सज्ञा, क्रिया आदि शब्दो के अन्त मे जोडी जाने लगी। बॉप का यह कथन स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि परसर्ग आधुनिक भाषाओ मे सहायक के रूप मे प्रयुक्त होते थे और कारक उन्ही के अवशिष्ट रूप है, और प्रत्ययो को इन्ही से सम्बन्धित किया जाता है, जैसे manly शब्द manlike से ही बना है। अत विभक्तियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार की मान्यता ठीक नही। बॉप की मान्यता थी कि भाषाशास्त्र के नियम सीमित परिधि मे ही कार्य करते हैं, उनको अन्य विज्ञानो के सदृश व्यापक रूप प्राप्त नही है। भाषा-वर्गीकरण के सम्बन्ध मे बॉप ने तीन भेद स्वीकार किया (१) व्याकरण-नियम-विहीन चीनी भाषा-वर्ग, (२) एकाक्षर धातु वाली आर्यभाषा, (३) द्वयक्षर धातुवाली सभी भाषा। परन्तु यह वर्गीकरण बाद के विद्वानो द्वारा ठीक नही माना गया। सभी भाषाए द्वयक्षर है और एकाक्षर केवल चीनी भाषाए है, उसमे व्याकरण की प्रधानता थी। विशाल कार्य होने पर भी उनका कार्य सूक्ष्म नही था।

रैस्मस रास्क प्रसिद्ध विद्वान् रास्क डेनमार्क के भाषाशास्त्री थे। इन्होंने आइसलैंड की भाषा का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। १८११ ई० मे इन्होंने नार्वे, स्वीडन की स्केण्डिनेवियन भाषाओ पर निबन्ध प्रस्तुत किया जो १८२२ ई० मे प्रकाशित हुआ। इन्होंने शब्दावली की अपेक्षा व्याकरण का महत्व भाषा मे अधिक माना है, परन्तु व्याकरण पर परिवर्तन का प्रभाव सरलता से नही पडता। भाषा द्वारा जातीय विशेषताओ, उसकी सभ्यता-सस्कृति सम्बन्धी शब्दो का आकलन भी किया जा सकता है। रास्क की इस विचारधारा को भाषाशास्त्री नवीन शाखा 'भाषा-मूलक शब्दावली सबधी प्राचीन शोध' कहते हैं जिससे अनेक सभ्यताओ व सस्कृतियो का उद्धार न किया जा सकता है। इन्होंने ही ध्वनि सम्बन्धी नियम की स्थापना की जो बाद मे ग्रिम द्वारा उल्लिखित होने पर 'ग्रिम नियम' के नाम से विख्यात हो गया।

रास्क ने यूरोपीय परिवार मे भारतीय, ईरानी, आर्मीनी, ग्रीक, लैटिन, स्लावी, गॉथी और केल्टिक आदि को स्वीकार किया एवं फीनो उग्रीयन आदि भाषा-परिवारो का भी उल्लेख किया। अवेस्ता की भाषा अवेस्तन को आर्यभाषा परिवार मे स्थान देने का श्रेय भी रास्क को है। रास्क ने ही सर्वप्रथम सस्कृत एव द्रविड भाषाओ का अन्तर स्पष्ट किया और बताया कि दोनों का

सम्बन्ध दो भिन्न मूल भाषाओं से है। इन्होंने अपने जीवनकाल में कई भाषाओं के व्याकरण लिखे जिनमें आइसलैंड, फीजी, डैनिश, स्पेनी, इटालियन आदि प्रमुख हैं। शब्दावली एव व्याकरण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्यों के कारण वॉप के साथ-साथ रास्क का नाम भी तुलनात्मक व्याकरण के सस्थापकों में लिया जाता है।

याकोव ग्रिम याकोव ग्रिम जर्मनी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री थे। इन्होंने आरम्भ मे जर्मन-भाषा का ही विस्तृत एव गहन अध्ययन किया। इनका जर्मन व्याकरण १८१९ ई० मे प्रकाशित हुआ जिसका दूसरा सस्करण १८२२ ई० मे निकला। इसमे इनके प्रसिद्ध ध्वनि-नियम का उल्लेख है, जो वाद मे ग्रिम-नियम नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने गॉथी का सम्बन्ध मूल भारोपीय भाषा से जोडा, साथ ही गॉथी का सम्बन्ध उच्च जर्मन से भी स्थापित किया। ग्रिम पर रास्क का प्रभाव था। इन्होंने अनेक भाषा-वैज्ञानिक शब्दो का आविष्कार किया, जो आज भी प्रचलित है।

ग्रिम ने प्राचीन भाषाओं के साथ-साथ लोक-प्रचलित भाषाओं के अध्ययन को महत्ता प्रदान की एव स्पष्ट किया कि भाषाओं में छोटी-वडी का भेद सगत नही है वरन् अध्ययन की दृष्टि से सभी भाषाओं को प्रमुखता देनी चाहिए। वोलियो के सम्बन्ध मे इस युग मे इतना उदार दृष्टिकोण नही था। अत वोलियो को महत्ता देना उस समय की वडी देन है। ग्रिम के कार्यों से भाषाविज्ञान का क्षेत्र व्यापक हो गया। ग्रिम ने वाक्य-रचना पर भी कार्य किया, यद्यपि वह गहन रूप मे नहीं है। इन्होंने १८५१ ई० मे भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी एक लेख लिखा। पद-विकास, व्याकरणिक धाराओं में लिंग, वचन, काल, पुरुष आदि के विकास के सम्बन्ध मे ग्रिम ने अपना मत प्रकट किया। पारिभाषिक शब्दो मे 'अवलाउत', 'उमलाउत' आदि को आज भी मान्यता प्राप्त है। ग्रिम ने भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन पर भी वल दिया। अत ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे भी ग्रिम का यथेष्ट महत्व माना जाता है।

विल्हेम फॉन हुम्वोल्त हुम्वोल्त का भाषा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने भाषा-विकास के सम्बन्ध मे एक निवन्ध प्रस्तुत करके वताया कि भाषा का कोई भी स्थिर रूप नही है वरन् वह परिवर्तनशील है, इसके साथ ही भाषा मनुष्य के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। ध्वनि, वाक्य, शब्द, अर्थ आदि मे भाषा की अस्थिरता ज्ञात हो जाती है। शब्दो को धातुओं से सम्वन्वित किया जा सकता है। वॉप के सदृश हुम्वोल्त ने भी विभक्तियो के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किया। विभक्तियाँ किसी समय स्वतन्त्र शब्द-रूप थीं।

कालान्तर में विकसित होने पर इनका प्रयोग वाक्य में व्याकरणिक अर्थ प्रकट करने के लिए किया गया। ग्रिम की ध्वनि-सम्बन्धी विचार-धारा को इन्होंने विशेष महत्व प्रदान किया एव इस बात पर विशेष बल दिया कि कोई भी भाषा कितनी ही निम्न हो अथवा असभ्य व्यक्तियो की हो, उसका पूर्ण अध्ययन किया जाना चाहिए। हम्बोल्त ने भाषा का वर्गीकरण श्लिष्ट एव प्रश्लिष्ट तीन भागो मे किया। आज भी इस वर्गीकरण को मान्यता दी जाती है। हम्बोल्त ने जावा की कवि-भाषा का खोजपूर्ण अध्ययन किया एव भाषा के सामान्य सिद्धान्तो का सर्वांगीण निरूपण किया। इनका अध्ययन भारतीय विचारको के निकट था क्योंकि उनमे दार्शनिकता एव सूक्ष्मता प्राप्त होती है। भाषा-परिवर्तन को ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानते थे।

ग्रेद्न्दोर्फ ग्रेदन्दोर्फ ने १८२१ ई० मे भाषाओ के परिवर्तन के सम्बन्ध मे एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमे इन्होंने विकलागता, सादृश्य, विचार-परिवर्तन एव स्पष्टता आदि कारणो के आधार पर भाषा-परिवर्तन के स्वरूप को स्पष्ट किया।

आगस्त श्लाइखर (१८२१-२२ ई०) आगस्त श्लाइखर को सन्धिकाल का भाषाशास्त्री माना जा सकता है जिन्होंने पूर्वार्द्ध एव उत्तरार्द्ध के मध्य तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जोडा। इन्होंने भाषा-विज्ञान को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने पर बल दिया, साथ ही भाषाओ के आकृतिमूलक वर्गीकरण का व्यवस्थित आधार स्पष्ट कर भाषाओं को अयोगात्मक एव योगात्मक अश्लिष्ट, योगात्मक श्लिष्ट आदि तीन भागो मे बाँटा। यह वर्गीकरण नवीन नही था वरन् इसकी व्यवस्था नवीन थी। आगे चलकर मैक्समूलर एव व्हिटनी ने इस वर्गीकरण को माना और यह लोकप्रिय हुआ। मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण श्लाइखर की महत्वपूर्ण देन है।

गेओर्ग कुर्तीउस (१८२०-८५ ई०) ये भी श्लाइखर के समकालीन थे और ध्वनि-नियमो के पालन के पक्षपाती थे, परन्तु नए विद्वानो की इस मान्यता का कि ध्वनि-नियम के अपवाद नही होते, इन्होंने खडन किया। साथ ही पदरचना मे भी वह सादृश्य का महत्व उतना नही मानते। इन्हें अपनी मान्यताओ के कारण कटु आलोचना भी सहन करनी पडी।

योहान निकोलाइ मादविग इन्हे ग्रीक और लैटिन का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने भाषाविज्ञान के मूलक तत्वो का विवेचन किया, साथ ही यह भी बताया कि सभी युगो की भाषा मे एक जैसी क्षमता होती है। अत प्रत्येक युग की भाषा को समान महत्ता देनी चाहिए।

मैक्समूलर (१८२१-१९०० ई०) मैक्समूलर जर्मन थे परन्तु इग्लैंड मे रहे और सस्कृत भाषा एव भारत के विशेष अनुरागी थे। १८६१ ई० मे मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान पर तीन भाषण दिए जो बाद मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। वे सस्कृत एव पूर्वी सस्कृति के पडित थे। उनकी भाषा-शैली की प्राजलता, रोचकता एव प्रसाद गुण ने ही अधिकाश शिक्षित जनता का ध्यान इस प्रकार के अध्ययन की ओर आकर्षित किया था एव अधिकाश व्यक्ति भाषाविज्ञान मे रुचि लेने लगे थे। वे श्लाइखर के विचारो के समर्थक थे किन्तु नया कार्य इस क्षेत्र मे न करके भी उन्होने पुराने कार्य को सग्रहीत कर जनता के सम्मुख रखा। ऋग्वेद का सस्करण एव प्राचीन ग्रन्थो का ५० जिल्दो मे अनुवाद आदि कार्य मैक्समूलर की अमर कृतिया हैं।

विलियम ड्वाइट ह्विटनी ह्विटनी भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनकी शैली मे गम्भीरता थी। अत साधारण जन को ग्राह्य न थी। इनकी दो पुस्तके 'भाषा और भाषा का अध्ययन' (१८६७ ई०) एव 'भाषा का जीवन और विकास' (१८७५ ई०) मे प्रकाशित हुई। ह्विटनी का सस्कृत व्याकरण भी अपने ढग का एक ही है। ह्विटनी ने भाषा को एक सस्था माना है जिसका धीरे-धीरे विकास होता है और शब्दो को रूढ सकेत माना है। इन्होने भाषाविज्ञान के तत्वो का भलीभाति विवेचन किया है।

स्टाइनथल (१८२५-९९ ई०) अठारहवी सदी के अन्त मे स्टाइन्थल को नवीन युग का प्रणेता नव्य वैयाकरण माना जा सकता है। इन्होने व्याकरण, तर्कशास्त्र एव मनोविज्ञान के परस्पर सम्बन्धो की विवेचना करते हुए भाषा-विज्ञान के अध्ययन मे मनोविज्ञान की उपादेयता पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार भाषा मानसिक प्रक्रिया है। अत भाषा के अध्ययन मे मनोविज्ञान की सहायता वाछनीय है। चीनी, नीग्रो आदि भाषाए, जो अब तक प्रमुखता न पा सकी थी, उनका भी इन्होने अध्ययन किया।

बोलचाल की भाषा का अध्ययन करनेवाले विद्वानो मे हेनरी स्वीट का नाम भी उल्लेखनीय है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का सूत्रपात जर्मनी मे १८८० ई० में हुआ। वहाँ इसका अल्प समय तक प्रभाव रहा, फिर फ्रास और इग्लैंड मे इस क्षेत्र मे विशेष कार्य हुए। तत्पश्चात् अमरीका मे भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे कार्य आरम्भ हुआ और आज अमरीका इस क्षेत्र मे अग्रगण्य है। जर्मनी के वूडट, हिर्ट, लेस्कीन, पेरिस मे ब्रील, तइए वेन्द्रिए, डी सासे, इग्लैंड मे डैनियल जोन्स, स्क्रिप-

चर, ऑतो येस्पर्सन (डेनिस), अमेरिका मे ब्लूमफील्ड, सैपीर, स्त्रुत्वन्त, पाइक आदि विद्वानो के कार्य विशेप महत्वपूर्ण हैं।

१९वी सदी के पश्चात् होने वाले भापावैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। भापा सामाजिक वस्तु मानी जाती है। मृत भापाओ की अपेक्षा जीवित भापाओ को अध्ययन मे अधिक महत्त्व दिया जाता है। व्याकरण भापा मे उत्कृष्ट नही वरन् भापा सीखने मे सहायक अवयव के रूप मे समझा जाता है। ध्वनि, शब्द, वाक्य, अर्थ आदि की पृथक्-पृथक् महत्ता जानकर अध्ययन के क्षेत्र एव उसकी विधाए भी पृथक् एव विस्तृत हो गई है। अत. अर्थ जो अब तक भापा के क्षेत्र मे उपेक्षित था, मानवशास्त्र के अध्ययन का विपय बन गया है।

आरम्भिक भापाओ मे ध्वनि एव पद महत्वपूर्ण थे परन्तु अब वाक्य को भी महत्ता दी जा रही है एव वाक्य-विज्ञान के क्षेत्र मे वाक्य का विस्तृत अध्ययन होता है।

आज भापा-विज्ञान का अध्ययन मुख्यत निम्नलिखित भागो मे विभाजित हो गया है—

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान इसके अन्तर्गत वर्णनात्मक प्रणाली के आधार, भापा के उद्गम, विकास, वर्तमान स्थिति एव अवयवो आदि का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

बोली-विज्ञान भापा की अनेक शाखाएँ विभापा, बोलियो आदि का अध्ययन भापाविज्ञान के अन्तर्गत होता है। अत 'डायलेक्टॉलॉजी' भापाविज्ञान की पृथक् शाखा के रूप मे विकसित हो रहा है।

सुर-विज्ञान चीनी आदि कुछ भापाओ मे सुरो की प्रधानता प्राप्त होती है जिसमे एक ही शब्द को विभिन्न स्वर या तान मे उच्चरित करने मे अर्थ पृथक्-पृथक् हो जाते है। अत सुर सम्बन्धी सभी पक्षो पर विस्तृत विचार सुर-विज्ञान के अन्तर्गत होता है।

ध्वनिग्राम-विज्ञान (फोनेमिक्स) ससार की प्राय सभी भापाओ मे निश्चित ध्वनिया होती है। ध्वनियो का साम्य एव वैपम्य भापा विशेप की विशेपता हो जाती है। ससार की कुछ भापाएँ लिपिबद्ध न हो सकी है। अत इस शाखा के अन्तर्गत ध्वन्यकन की समस्या पर भी कार्य होने लगा है।

भाषिक भूगोल भापा, विभापा, बोलियो आदि का पारस्परिक सम्बन्ध एव प्रभाव भापाओ की भौगोलिक स्थिति के अन्तर्गत देखे जाते हैं। इन्ही का अध्ययन भापिक भूगोल का विषय क्षेत्र है।

वर्तमान समय मे भाषाविज्ञान का अध्ययन सर्वथा स्वतत्र एव वैज्ञानिक उपकरणो के आधार पर होता है। अत. ससार मे स्थान-स्थान पर अनेक प्रयोग-शालाए स्थापित हो गई है जिनका विस्तृत वर्णन देना कठिन है, लेकिन यह सत्य है कि आज भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे द्रुत गति से कार्य हो रहा है। अत भाषाविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र भी विस्तृत एव महत्वपूर्ण हो गया है।

●●

अध्याय २

भाषाविज्ञान के विविध अंग

मनुष्य ने वाणी के द्वारा भाषा का प्रयोग इतना सुगम बना लिया है कि इसमे उसको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पडता। भाषा के प्रयोग मे मानसिक और भौतिक आधार दोनो आवश्यक होते है। भाषा का विचारो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार मस्तिष्क मे उठते हैं और फिर वे ही भाषा के रूप मे प्रकट हो जाते हैं। इन विचारो की आधारशिला जगत का बाह्य वातावरण ही है। इसी को हम भाषा का मानसिक आधार कह सकते हैं। मन से प्रेरित वायु जब वाणी के विभिन्न अवयवो—जीभ, तालु, नासिका आदि के नि स्सृत होकर जिस मूर्तिमान रूप मे प्रकट होती है, उसे हम भाषा का शारीरिक अथवा भौतिक आधार कह सकते है।

वक्ता जब किसी भाव को प्रकट करना चाहता है तो उसके मन मे उस भाव की जैसी प्रतिमा होती है, श्रोता के मन मे उस शब्द को सुनते ही तत्काल वैसी ही प्रतिमा प्रकट हो जाती है। श्रोता के मन मे जब तक वक्ता की जैसी प्रतिमा नहीं उठेगी, तब तक वह वक्ता को समझ सकने मे असमर्थ रहेगा। पागलो के द्वारा उच्चरित ध्वनि-समूह भाषा की सज्ञा नही प्राप्त कर सकता, क्योकि उसके मस्तिष्क मे भावो या विचारो की शृखलाबद्ध निश्चित प्रतिमाएँ नही उठती। उसका यह प्रलाप भाषा के मानसिक आधार की ही पुष्टि करता है। भाषा का जो दूसरा शारीरिक आधार है, उसके मूल मे ध्वनि ही मुख्य तत्व है, परन्तु वे ध्वनियाँ नही, जो हमे मनुष्येतर बाह्य प्रकृति मे सुनाई पडती हैं। उसका मनुष्य-मुख से नि सृत होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे हम उन ध्वनियो का बहिष्कार कर देते है, जो कि अपने सगठित रूप मे होते हुए भी कोई निश्चित प्रतिमाएँ मस्तिष्क मे नही उठाती। अत इन सापेक्षिक आधारो को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि भाषा समाजगत पहले है, व्यक्तिगत बाद मे। भाषा के वास्तविक रूप मे वक्ता और श्रोता दो भिन्न व्यक्ति होने आवश्यक है।

प्रथम अध्याय मे भाषा के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनि, रूप, वाक्य एव अर्थ भाषा के प्रमुख तत्व है। भाषा के इन तत्वो से सम्बन्धित अध्ययन के विषय क्रमश. ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान एव अर्थ-विज्ञान हैं।

ये चारो भाषा-विज्ञान के प्रमुख अग है। सम्यक् अध्ययन के लिए भाषा-विज्ञान के उपरोक्त चारों अगो का प्रथक्-पृथक् विभाजन कर लिया जाता है तथा वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर इनका वर्णन एव विश्लेषण किया जाता है।

भाषाविज्ञान का एक अग ध्वनि-विज्ञान (phonetics) है जिसमे मनुष्य के ध्वनि-यत्र से निकली हुई ध्वनियो का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमे स्वर, व्यजन, स्वराघात आदि की व्याख्या, उनके वैज्ञानिक वर्गीकरण आदि का अध्ययन किया जाता है। ध्वनियाँ अनन्त है पर प्रत्येक भाषा अलग-अलग निश्चित ध्वनि-समूह को ही अपने व्यवहार मे लाती है। सम्भवत इसी व्यावहारिक दृष्टिकोण को लेकर जैसा कि ऊपर कहा गया है, ध्वनियो के अध्ययन की एक नई पद्धति चल पडी है जिसे पारिभाषिक शब्दावली मे ध्वनि-ग्राम-विज्ञान (phonemics) कहा गया है। इसमे भाषाविशेष के लिए महत्वपूर्ण ध्वनियो का चयन उस भाषा मे पाये जानेवाले शब्दो की सरचना के आधार पर होता है। इसकी विस्तृत विवेचना आगे यथास्थान की गई है।

भाषा-विज्ञान का दूसरा अग रूप-विज्ञान (morphology) है। इसमे रूप एव शब्द-निर्माण के तत्वो का विश्लेषण किया जाता है। वाक्य मे प्रत्येक शब्द का एक निश्चित व्याकरणिक स्वरूप होता है जिसे रूप की सज्ञा दी गई है। सम्बन्ध तत्वों (bound morphemes) के योग से शब्दो का निर्माण, सम्बन्ध तत्वो का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रूप, सम्बन्ध तत्वो के आधार पर व्याकरण की सूक्ष्म धाराओ (grammatical categories) के विकास आदि का सम्यक् अध्ययन इसका विषय होता है।

भाषाविज्ञान का तीसरा अग वाक्य-विज्ञान (syntax) है। इसमे वाक्य के गठन की विवेचना की जाती है। वाक्य मे पदो की स्थिति, उनमे पारस्परिक सम्बन्ध आदि का अध्ययन इसका मुख्य विषय होता है। इस दृष्टि से वाक्य-विज्ञान रूप-विज्ञान से अधिक सम्बन्धित है। ससार की भाषाओ के वाक्यो की आकृतियो का अध्ययन करके उनके भिन्न-भिन्न प्रकारो की कोटियाँ निर्धारित कर ली गई हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली मे टाइपोलाजी (typology) कहते हैं।

भाषाविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अग अर्थ-विज्ञान (semantics) भी है। यह शब्द एव अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध एव विकास का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसके लिए यह समाज की अन्य ज्ञान-विज्ञान की धाराओ का मुखापेक्षी रहता है। इसमे अर्थविकास के अनेक कारणो एव उसकी विविध धाराओ की विवेचना होती है।

भाषाविज्ञान के उपरोक्त प्रमुख अगो एव उपागो का सक्षेप मे विवेचन इस प्रकार है

(क) ध्वनि-विज्ञान

मनुष्य अपनी वाणी के अवयवो की सहायता से अगणित ध्वनियो का सृजन कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की उच्चरित ध्वनिया दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है। प्रत्यक्ष रूप मे वे ध्वनिया भले ही हमे समान मालूम पडे किन्तु सूक्ष्म विवेचन मे स्पष्ट हो जाता है कि कोई दो व्यक्ति समान ध्वनियो का उच्चारण नही करते। इसका सबसे बडा प्रमाण यही है कि व्यक्ति को हम उसकी आवाज से पहचान लेते है। एक व्यक्ति एक शब्द का उच्चारण एक प्रकार से करता है और दूसरा व्यक्ति उसी शब्द का उच्चारण कुछ ऊँचे अथवा नीचे सुर मे करता है। लेकिन उसके ऐसा करने से उस शब्द के अर्थ मे कोई परिवर्तन नही होता। इसीलिए हम शब्दो के उच्चारण की अनेकरूपता पर अधिक ध्यान भी नही देते। प्रत्येक शब्द मे कुछ ध्वनियो का प्रयोग होता है लेकिन वही ध्वनियाँ दूसरे शब्दो मे भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरण के लिए नाप, विनाश, काटना मे 'न्', 'आ' ध्वनियाँ शब्दो के आरम्भ, मध्य और अन्त मे प्रयुक्त हुई है किन्तु इन ध्वनियो का उच्चारण उक्त स्थितियो मे बिल्कुल समान ही है, यह कहना कठिन है। फिर भी इन ध्वनियो के योग से पृथक्-पृथक् शब्द बने हैं। शब्दो मे से इन ध्वनियो को पृथक् नही किया जा सकता, शब्दो की ये ध्वनियाँ अविभाज्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि की लघुतम महत्वपूर्ण इकाई को ध्वनिग्राम (phoneme) के रूप मे माना जा सकता है। विभिन्न भाषाओ मे कई ध्वनिग्राम समान हो सकते है, किन्तु उनके उच्चारण मे सूक्ष्म भिन्नता सम्भव है। फारसी क़, ख़, ग़, ज़ आदि भिन्न ध्वनियाँ हैं, किन्तु हिन्दी मे ये ध्वनियाँ क, ख, ग, ज के समान व्यवहृत होती है। उनमे पृथकता का लोप हो गया है। विदेशी भाषा की ध्वनियो का किसी अन्य देश के श्रोता के द्वारा यदि पूर्ण रूप से अनुकरण समर्थ हो तो वह इस विदेशी भाषा का शुद्ध उच्चारण करने मे समर्थ हो जाता है। वास्तविक कठिनाई समोच्चरित शब्दो मे होती है। उदाहरण के लिए गया (नगर का नाम), गया (क्रिया), 'की' सम्बन्ध का चिह्न, की (क्रिया), सोया, सोया, खाना, खाना आदि। इनके उच्चारण मे बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होता है जो साधारण या सुनने से मालूम नही किया जा सकता।

ध्वनिग्राम-विज्ञान प्रत्येक भाषा मे ध्वनि-ग्रामो की सख्या निश्चित होती

है। इनकी संख्या कुछ दर्जनों तक ही सीमित होती है। एक ही ध्वनिग्राम जब शब्द की विभिन्न स्थितियों में व्यवहृत होता है तो उसके उच्चारण में सूक्ष्म अन्तर होता है। ध्वनिग्राम के ये रूपान्तर 'एलोफोन' (allophone) के नाम से दिए गए है। जैसे हिन्दी ईख, इस और गड्या इन तीन शब्दों में 'इ' ध्वनियों के तीन रूप मिलते हैं, क्रम से दीर्घ, ह्रस्व और विलम्बित 'इ'। परन्तु यह विलम्बित अन्तिम 'इ' केवल या ध्वनि के पूर्व ही आती है, इसलिए उसका भाषा के अर्थ पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। यदि 'ईख' और 'इस' की भाँति विलम्बित 'इ' भी इन दोनों के स्थान पर आकर अर्थ-परिवर्तन लाती तो हम इसे स्वतन्त्र ध्वनिग्राम मानते। अब यह केवल उक्त दोनों का एक रूपान्तर मात्र है। भाषा के विभिन्न ध्वनिग्रामों के लिए अलग-अलग लिपि-चिह्नों का निर्माण किया गया है। प्रत्येक ध्वनिग्राम के विविध रूपों के लिए अलग-अलग लिपि-चिह्न नहीं मिलते। ध्वनिग्राम के अनुसार लिपि-चिह्नों का विकास भारतीय लिपि की विशेषता है। ध्वनिग्राम-विज्ञान (phonemics) की सबसे बड़ी विशेषता भाषा के लिपि-चिह्नों का वैज्ञानिक आविष्कार है। भाषा परिवर्तनशील है और उच्चारण में जो नए-नए ध्वनि-ग्राम प्रकट होंगे उनके लिए नए-नए लिपि-चिह्नों का वैज्ञानिक रूप में आविष्कार होता रहेगा, ध्वनिग्राम विज्ञान (phonemics) की यह सब से बड़ी देन है।

प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान ध्वनि-विज्ञान की ही एक शाखा प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (Experimental Phonetics) है। प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान में कृत्रिम ध्वनि-यन्त्रों के द्वारा ध्वनियों के उच्चारण-स्थान तथा उच्चरित ध्वनियों के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार के ध्वनियन्त्रों में कायमोग्राफ (kymograph) कृत्रिम तालु (false palate), स्पेक्ट्रोग्राफ (spect-rograph) आदि का विशेष महत्व है।

कायमोग्राफ की सहायता से घोष एवं अघोष ध्वनियों के कम्पन द्वारा पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट किया जाता है। जिन ध्वनियों की परीक्षा कृत्रिम तालु से सम्भव नहीं होती, उन ध्वनियों को कायमोग्राफ की सहायता से सरलता से जाना जाता है। इसके द्वारा नासिकारन्ध्र, मुखरन्ध्र एवं स्वरतन्त्रियों के कम्पन की मात्रा नापी जाती है। कृत्रिम तालु बहुत पतली धातु से निर्मित होता है जिसे मुख-विवर में लगाकर जिह्वा के सूक्ष्म-क्रिया-कलापों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। स्पेक्ट्रोग्राफ से ध्वनियों के दृश्यमान रूप ज्ञात होते हैं जिनसे स्वर-ध्वनियों के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान हो जाता है।

उपरोक्त यन्त्रों के अतिरिक्त ऑसिलोग्राफ (oscillograph), टेपरेकर्डर

(tape recorder), स्पीच स्ट्रेचर (speech streacher), पैटर्न प्लेबैक (pattern playback) आदि अनेक यन्त्रो द्वारा ध्वनियों के विस्तृत अध्ययन एवं सूक्ष्म भेदो का ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता ली जाती है। प्रायोगिक-ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत ही प्रस्तुत यन्त्रो का प्रयोग, कार्यविधि एव उपयोगिता सबंधी ज्ञान प्राप्त होता है।

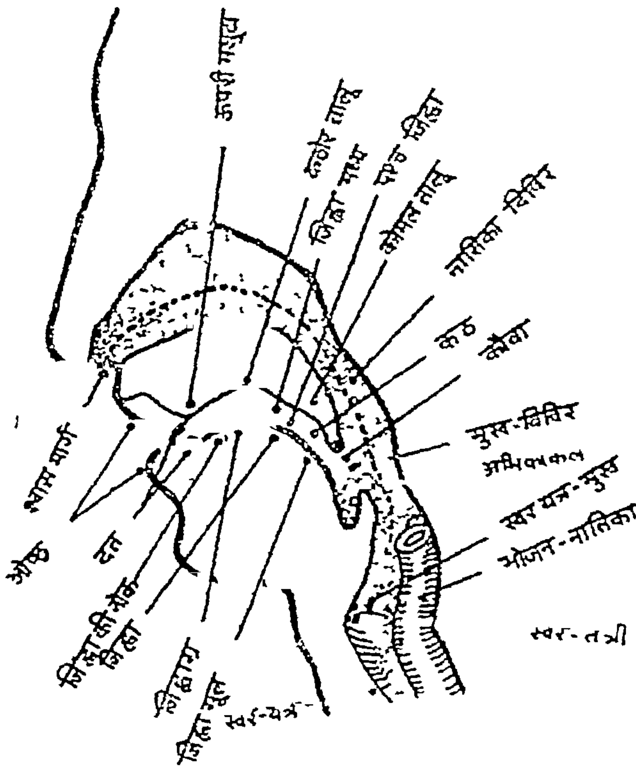
ध्वनि-विज्ञान की प्रणालियाँ ध्वनि-विज्ञान को वस्तुत तीन शाखाओं मे विभाजित किया गया है। एक उच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान (articulatory phonetics) है जिसमे ध्वनियो के उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि का अध्ययन होता है। दूसरी शाखा भौतिक ध्वनि-विज्ञान (acoustic phonetics) है जिसमे ध्वनियो के भौतिक महत्व (physical attributes) की विवेचना होती है। ध्वनि-विज्ञान की तीसरी शाखा श्रोत्रिक ध्वनि-विज्ञान (auditary phonetics) भी है जिसमे श्रोता के द्वारा गृहीत ध्वनियो के महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। ध्वनि के इन तत्वो का संस्कृत के प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थों मे विशद विवेचन मिलता है।

ध्वनि-विज्ञान की उच्चारणिक-शाखा के अन्तर्गत ध्वनि-उत्पादन से सम्बन्धित अवयवो अर्थात् उच्चारण-अवयव एव जिन प्रयत्नो द्वारा ध्वनिया नि सृत होती हैं उनका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार से उत्पन्न स्वर-ध्वनिया, व्यजन-ध्वनियाँ एव उनमे अल्पप्राण, महाप्राण, घोष एव अघोष रूपो का वर्णन, स्वरो मे मूल स्वर, सयुक्त स्वर आदि के भेदो का वर्णन भी ध्वनि-विज्ञान की उच्चारणिक शाखा के मूल विषय हैं। उच्चारण-अवयव एव ध्वनियो का परिचय आगे यथास्थान दिया गया है।

ध्वनि-विज्ञान की भौतिक-शाखा मे वायु द्वारा ध्वनि-लहरो का प्रसारण एव अनेक यन्त्रो द्वारा ध्वनियों के सूक्ष्म भेदो आदि का विवेचन किया जाता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान ही ध्वनि-विज्ञान की भौतिक-शाखा का विषय-क्षेत्र है। मूलत भौतिक शाखा मे ध्वनियो के भौतिक महत्व का ही विस्तृत विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक ध्वनि के तीन अग अत्यन्त आवश्यक हैं ध्वनि का उत्पादन (production), वहन (transmission) और ग्रहण (reception) जिनके विशेष अध्ययन के लिए अपेक्षित ध्वनि-विज्ञान को तीन शाखाओ मे विभाजित किया जाता है। ध्वनि का उत्पादन एव वहन तो प्रथम दो शाखाओ से सम्बन्धित है और तीसरा, ध्वनि का ग्रहण ध्वनि-विज्ञान की श्रौत्रिक-शाखा का विषय-क्षेत्र है और ध्वनि के ग्रहण की प्रक्रिया वक्ता एव श्रोता के मध्य वायु द्वारा ध्वनि-

लहरो से होती है। इस ग्रहण-प्रक्रिया का विवेचन एव ध्वनिग्रहण मे ध्वनि-लहरो और वायु के माध्यम का ज्ञान श्रौतिक ध्वनिविज्ञान मे किया जाता है।



उच्चारण-अवयव ध्वनियो के उत्पादन मे मनुष्य जिन शारीरिक अवयवो का उपयोग करता है, उसे वागयन्त्र अथवा ध्वनियन्त्र (organs of speech) की सज्ञा दी गई है। भाषा की अनेक ध्वनियो का सहज ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्वनियो की उत्पादन-क्रिया जानना आवश्यक हो जाता है। अत मुख, नासिका-रन्ध्र, स्वरतन्त्रियो आदि जिन अवयवो के द्वारा ध्वनि-निर्माण सम्भव होता है, उन सबका विवेचन अत्यत महत्वपूर्ण है।

फेफड़े पहले अवयव हैं जो सास लेने एव निकालने मे अपना निरन्तर योग देते रहते हैं। फेफडो से बाहर निकलती हुई श्वास का प्रथम विकार स्वर-यन्त्र (larynx) मे होता है। नासिका-रन्ध्रो से श्वास लेने और निकालने की नली को श्वास-नलिका (windpipe) और भोजन को मुख से उदर मे पहुँचानेवाली नली को भोजन-नलिका कहते हैं। श्वास-नलिका एव भोजन-नलिका के मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। श्वास-नलिका भोजन-नलिका से

आगे की ओर होती है। श्वास-नलिका के ऊपरी भाग मे स्वर-यन्त्र होता है। स्वरयन्त्र मे बहुत महीन तारो की बनी हुई लचीली झिल्लियाँ दायें-बायें होती हैं, उन्हे स्वर-तन्त्री कहते हैं। स्वर-तन्त्रियो के बीच का भाग खुलता और बन्द होता रहता है। झिल्ली के बीच का खुला भाग काकल (glottal) कहलाता है। स्वर-तन्त्रियो का आकार अवस्था के अनुसार छोटा-बडा होता है एव पुरुष और स्त्रियो के आकार मे भी अन्तर होता है। पुरुषो का आकार स्त्रियो की अपेक्षा बडा होता है। स्वर-तन्त्री की झिल्लियाँ मुख्य रूप से चार अवस्थाएँ ग्रहण करती हैं। जैसे

(अ) श्वास लेने की अवस्था मे झिल्लियो के दोनो भाग शिथिल पडे रहते है और काकल से श्वास निकलती रहती है। इस अवस्था मे जब स्वर-तन्त्रिया निस्पन्द पडी रहती हैं तो कम्पनगत सगीतात्मकता का अभाव रहता है और इस रूप मे उच्चरित ध्वनियाँ अघोष (unvoiced) होती है।

(आ) स्वर-तन्त्रियो के दोनो भाग बिल्कुल समीप आकर एक दूसरे से रगड खाते है और स्वरतन्त्री झकृत हो उठती है। अनुमान है कि इन स्वर-तन्त्रियो मे एक सेकिन्ड मे ८० से १००० की सख्या तक कम्पन होता है। ये कम्पन सगीतात्मक होते हैं और इसके योग से उच्चरित ध्वनि घोष (voiced) होती है।

भाषा की सभी ध्वनियाँ सघोष नही होती। यदि हम कठ पर उगली रखे अथवा दोनो कानो को हथेली से बन्द कर ले और फिर किसी ध्वनि का उच्चारण करे तो कुछ मे कम्पन का अनुभव होगा। यही कम्पन सघोष ध्वनियो की विशेषता है। सभी भाषाओ मे कुछ ध्वनिया अघोष होती है। हिन्दी की क, ख, च, छ, प, फ आदि ध्वनियाँ अघोष है, ग, घ, द, ध, न, म आदि सघोष है। भाषा के सम्पूर्ण स्वर, अन्तस्थ और अनुनासिक व्यजन सघोष होते हैं।

(इ) पहली एव दूसरी अवस्था के मध्य एक तीसरी अवस्था है जिसमे दोनो भाग इतने निकट आ जाते है कि श्वास-मार्ग बन्द सा हो जाता है और श्वास कुछ रगड के साथ बाहर निकलती है। ऐसी अवस्था मे क्लिक् अथवा अरबी की हमजा या अग्रेजी के हैन्ड (hand) शब्द मे 'ह' ध्वनि सदृश उच्चारण होते है। इन्हे पारिभाषिक रूप मे उपालिजिह्वीय (glottal stop) ध्वनि कहते है।

ससार की अधिकाश भाषाओ मे पाई जाने वाली ध्वनियो की मुख्य विशेषता यह है कि भीतर से बाहर निकलनेवाली श्वास ही मुख्य अवयवो द्वारा विकृत होकर ध्वनि-रूप मे प्रकट होती है, पर कुछ भाषाएँ ऐसी भी है जो कि बाह्य

वायु को भी अन्दर खींचते समय ध्वनि का निर्माण करती है। ऐसी ध्वनियों को ही पारिभाषिक रूप में क्लिक (click) ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में अफसोस प्रकट करने के 'चच च च' की ध्वनि सम्भवतः इन ध्वनियों के निकट होगी। भारत की मुण्, सिन्धी आदि भाषाओं में ऐसी कुछ ध्वनियों का प्रयोग होता है। अफ्रीका की जंगली जातियों की भाषाओं में इन ध्वनियों का व्यापक प्रयोग होता है।

(ई) चौथी अवस्था वह है जब कि स्वरतन्त्रियाँ प्रायः मिल तो जाती हैं किन्तु नीचे का कुछ भाग खुला रहता है। इस अवस्था में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों (whispered sound) का उत्पादन होता है। इस प्रकार की ध्वनियों के निर्माण से स्वरतन्त्रियों में कम्पन नहीं होता, अतः ध्वनियाँ अघोष रहती हैं।

मुखविवर एवं नासिका-विवर में पहुँच कर श्वास कई प्रकार की ध्वनियों में परिवर्तित हो सकती है। कभी-कभी यह श्वास मुख-विवर से ही निकल कर ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। यह कार्य कोमल तालु से ऊपर लगे हुए अलिजिह्वा अथवा कौवा द्वारा सम्पन्न होता है। अलिजिह्वा मांस का एक छोटा अंश है जो कई अवस्थाएँ ग्रहण करता है। ध्वनि-निर्माण में इसकी तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं। ये इस प्रकार हैं

(१) साधारण अवस्था में यह शिथिल पड़ा रहता है और सम्पूर्ण श्वास नासिका-विवर में पहुँच जाती है, यही हमारे श्वास लेने की अवस्था है। इस अवस्था में संस्कृत की अनुस्वार तथा अंग्रेजी की एम्, एन्, ङ, ग् आदि ध्वनियों का उच्चारण बिना ओठ खोले होता है।

(२) अलिजिह्वा तन कर खड़ा हो जाता है तो सम्पूर्ण श्वास मुख-विवर में पहुँचती है, क्योंकि यह नासिका-विवर का द्वार बन्द कर देता है। निरनुनासिक स्वरों तथा व्यंजनों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

(३) अलिजिह्वा मध्य अवस्था में होता है अर्थात् पूर्णतः न शिथिल और न ही तना हुआ, तो कुछ श्वास मुख-विवर से तथा कुछ नासिका-विवर से निकलती है। इस अवस्था में अनुनासिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण किया जाता है।

अनुनासिक एवं निरनुनासिक स्वर दोनों अलग-अलग ध्वनियाँ मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए चाँद, कँवल (कमल), कुँवर, चँवर आदि। इनमें आँ, वँ और साधारण आ, व भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि में स्वर की अनुनासिकता आ (ã), ओं (õ) के रूप में व्यक्त की जाती है।

ब्लूमफील्ड ने अनुनासिक तथा निरनुनासिक ध्वनियों की परख इस प्रकार दी है समतल रूप में दफ्ती का कोई एक किनारा ऊपर के ओठ से और दूसरा किनारा ठंडे शीशे के टुकड़े से लगाया जाय। अब यदि निरनुनासिक ध्वनि का उच्चारण होगा तो शीशा केवल दफ्ती के नीचे धुंधला पड़ जायेगा और अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण में धुंधलापन दफ्ती के ऊपर और नीचे दोनों ओर होगा और यदि अनुस्वार का उच्चारण किया जाए तो शीशा केवल दफ्ती के ऊपर धुंधला हो जायेगा।

मुख-विवर में तालु, जिह्वा और ओष्ठ अनेक अवस्थाएँ ग्रहण कर सकते हैं। कभी जिह्वा और तालु, जिह्वा और दांत और कभी जिह्वा तथा ओठों के योग के विविध ध्वनियों का सृजन होता है। ध्वनियों के सृजन में जिह्वा का महत्वपूर्ण योग रहता है। श्वास कभी सघर्षण, कभी अबाध और कभी बाधित रूप में निकलती है। इस प्रकार ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियन्त्र के विविध अवयवों का योग अपेक्षित होता है।

मुख से उच्चरित समस्त ध्वनियों को दो भागों में विभक्त किया गया है (१) स्वर-ध्वनियाँ (२) व्यंजन-ध्वनियाँ। यहाँ इन ध्वनियों का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

(१) स्वर-ध्वनियाँ जब श्वास स्वर-तन्त्री से विकृत होकर अबाध गति से मुख से बाहर निकलती है तो वह स्वर-रूप में प्रकट होती है। ये स्वर सामान्यतया सघोष होते हैं। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा तथा ओष्ठ अनेक अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं जिनके अनुसार स्वरों की स्थिति ज्ञात की जा सकती है। ये इस प्रकार हैं

(अ) अग्र स्वर इन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग तालु की ओर उठता है। इनके उच्चारण में जिह्वा तालु की ओर इतना ही उठती है कि वह तालु का स्पर्श न करे एवं विभिन्न स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की उठान भी भिन्न-भिन्न रहती है। इस प्रकार के स्वर इ (i), ए (e) आदि हैं।

(आ) मध्य स्वर जिह्वा का मध्य भाग ऊपर की ओर अत्यल्प उठकर जिन स्वरों का उच्चारण करता है, वे स्वर कहलाते हैं। इस प्रकार की ध्वनियों में 'अ' स्वर आता है।

(इ) पश्च स्वर जिह्वा का पश्च भाग कोमल तालु की ओर उठ कर मुख-विवर से निकलने वाली ध्वनियों को प्रभावित करता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ पश्च स्वर कहलाती हैं। इन स्वरों के उच्चारण में भी जिह्वा

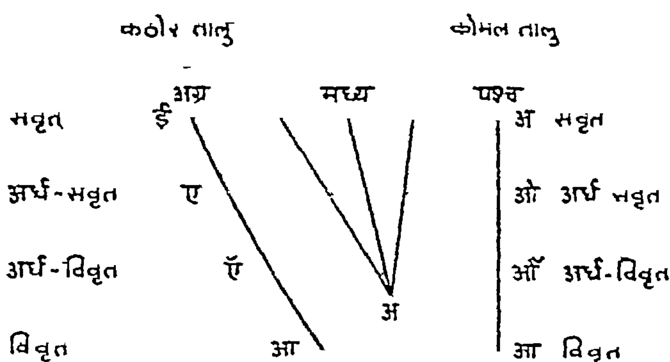
के उठने की विभिन्न स्थितियाँ रहती हैं। इस प्रकार के स्वरों में अ, ओ, आ आदि ध्वनियाँ मुख्य हैं।

जिह्वा की उपरोक्त स्थितियों के अनुसार मुख-विवर का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। यदि जिह्वा ऊपर की ओर उठेगी तो मुखविवर संकरा हो जायेगा और यदि कम उठेगी तो मुख-विवर अधिक खुला रहेगा। मुख-विवर की इस परिणामपूर्ण स्थिति के अनुसार स्वरों के संवृत, विवृत, अर्धसंवृत् एवं अर्धविवृत भेद किए गए हैं। जिह्वा के साथ ही ओठों की आकृति के अनुरूप भी स्वरों की विभिन्न स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। पश्च स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ गोलाकार हो जाते हैं एव अग्रस्वरों के उच्चारण में अपेक्षाकृत विस्तृत रहते हैं। ओठों की आकृति के अनुसार निम्न स्थितियाँ प्राप्त होती हैं

(अ) वृत्ताकार- स्वरों के उच्चारण में यदि ओठों की आकृति गोल हो तो स्वर वृत्ताकार कहलाते हैं। इस प्रकार समस्त पश्च स्वर वृत्ताकार स्वर हैं।

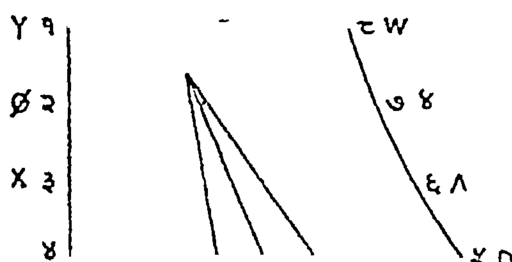
(आ) अवृत्ताकार स्वरों के उच्चारण में ओठों की आकृति गोल न होने पर अवृत्ताकार स्वर कहलाते हैं। अग्रस्वर इस श्रेणी में ही आते हैं।

मान स्वर भाषाओं में स्वरों के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं, किन्तु अनेक स्वरों में समानता भी उपलब्ध होती है। भाषा के स्वरों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कुछ मान स्वर (cardinal vowels) मान लिये गए हैं और सभी भाषाओं के स्वर इन स्वरों की निश्चित स्थिति के अनुसार आँके जा सकते हैं। इसलिए इनको अंग्रेजी में स्टैंडर्ड स्वर भी कहते हैं। इनका अन्वेषण प्रसिद्ध ध्वनिविज्ञानी प्रो० डैनियल जोन्स ने किया था। इनका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है



हिन्दी भाषा के अर्ध-विवृत, अग्र तथा पश्च स्वर मान स्वरो के निर्धारित स्थान से प्राय कुछ ऊँचे और संवृत् अर्ध संवृत्, अग्र और पश्च स्वर कुछ नीचे हैं। उपर्युक्त आठ मानस्वरों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर भिन्न-भिन्न भाषाओं के स्वरों की स्थिति का विवेचन किया जा सकता है।

गौण मान स्वर भाषावैज्ञानिकों ने उपरोक्त आठ मानस्वरों के अतिरिक्त सात अप्रधान स्वर अथवा गौण मानस्वरों की स्थापना भी की है। संसार की कुछ भाषाओं में स्वर-ध्वनियों का उच्चारण मानस्वरों की स्थिति से विपरीत प्राप्त होता है। अर्थात् अनेक भाषाओं में अग्रस्वरों को ओठों की गोलाकार स्थिति में एवं पश्च स्वरों को अवृत्ताकार स्थिति में उच्चरित किया जाता है। अत इन्हे गौण मानस्वरों का रूप दिया गया है। गौण मानस्वरों स्वर-त्रिकोण में निम्न रूप में प्राप्त होते हैं



संयुक्त स्वर संयुक्त स्वरों (diphthongs) में दो मूल स्वरों का योग रहता है लेकिन उनके उच्चारण में जिह्वा दोनों अवस्थाए इतने वेग से ग्रहण करती है कि उसका साधारणतया अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हिन्दी के 'ऐ', 'औ' संयुक्त स्वरों का योग 'अ+ए' और 'अ+ओ' है।

(२) व्यजन-ध्वनियाँ स्वर-यन्त्र से विकृत सघोष अथवा अविकृत (अघोष) श्वास जब मुख-विवर में पहुचती है तो उसे जिह्वा का कोई भाग, दात या ओठ मुख से बाहर निकलने में क्षणिक बाधा पहुचाती है। इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि व्यजन कहलाती है। व्यजन-ध्वनियों के उच्चारण की तीन अवस्थाए होती हैं व्याघात (obstruction), अवरोध (stop) और मोचन (release)। अब यह एक मान्य सिद्धान्त है कि व्यजन बिना स्वर की सहायता के भी उच्चरित हो सकता है, व्यजन-ध्वनियों के सघोष एव अघोष

रूप घोषत्व के आधार पर किए गए हैं जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रो के आधार पर ध्वनियो के सघोष एव अघोष-भेदो को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। इनके अतिरिक्त व्यजन-ध्वनियो का विवेचन मुख्य दो आधारो पर किया जा सकता है। यथा

(क) प्रयत्न के आधार पर।

(ख) उच्चारण-स्थान के आधार पर।

(क) प्रयत्न के आधार पर व्यजन-ध्वनियो के निम्न रूप प्राप्त होते हैं

स्पर्श ध्वनियाँ यदि जिह्वा, ओठ या काकल के पास श्वास को रोक लिया जाय और फिर एकाएक उसे छोडा जाय तो श्वास एक स्फोट के साथ बाहर निकलती है। इनको स्फोट ध्वनियाँ (explosives) या स्पर्श ध्वनिया (plosives) कहते हैं। इन ध्वनियो के उच्चारण मे श्वास क्षणमात्र के लिए ही रुकती है। इनके उच्चारण मे जिह्वा तालु को या ओष्ठ परस्पर एक दूसरे को स्पर्श करते हैं, इसलिए ये स्पर्श ध्वनिया कहलाती हैं। इसके अन्तर्गत कण्ठ्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य व्यजनो मे क, ग, ट, ड, प, ब आदि ध्वनियाँ आती हैं।

सघर्षी-ध्वनियाँ यदि जिह्वा, ओष्ठ या काकल से श्वास का मार्ग इस प्रकार अवरुद्ध कर दिया जाय कि श्वास निकलने का मार्ग थोडा खुला रहे और वह रगड खा कर बाहर निकले तो ऐसी ध्वनियो को सघर्षी व्यजन (fricatives) कहते हैं। इस प्रकार के व्यजनो मे ख़, ग़, ज़, फ़ आदि विदेशी ध्वनियाँ एव व, ह आदि हिन्दी ध्वनिया आती हैं।

स्पर्श-संघर्षी ध्वनियाँ जिन ध्वनियो के उच्चारण मे स्पर्श व्यजनो की भाति निकलने वाली श्वास क्षण भर के लिए अवरुद्ध होकर सघर्षण के साथ बाहर निकलती है, वह स्पर्श सघर्षी (affricates) व्यजन होते हैं। हिन्दी भाषा के तालव्य व्यजन च, छ, ज आदि इसी प्रकार की ध्वनियाँ हैं।

पार्श्विक ध्वनियाँ यदि जिह्वा की नोक ऊपर के मसूडे से लगा दी जाय तो जिह्वा के दोनो पार्श्वो का भाग खुला रहता है। इस अवस्था मे उच्चरित ध्वनि पार्श्विक (lateval) कहलाती है। हिन्दी एव फारसी की 'ल' ध्वनि इसी श्रेणी की है।

लुंठित ध्वनियाँ पार्श्विक उच्चारण वाली स्थिति मे ही यदि जिह्वा मसूडे पर दो-एक बार टक्कर मारे तो उच्चरित ध्वनि लुंठित या लोडित (rolled) कहलाती है। हिन्दी एव अग्रेजी 'र' ध्वनि इसी प्रकार की है।

महाप्राण ध्वनियाँ व्यंजनों के उच्चारण में जब अधिक प्राणशक्ति का योग रहता है तो ध्वनियाँ महाप्राण कहलाती हैं। जैसे फ, भ, ख, घ आदि ध्वनियाँ।

अल्पप्राण ध्वनियाँ व्यंजनों के उच्चारण में महाप्राण से विपरीत अवस्था वाली अर्थात् अधिक प्राण शक्ति के अभाव वाली ध्वनियाँ अल्पप्राण कहलाती हैं।

अल्पप्राण एवं महाप्राण ध्वनियों की पहचान इन रूपों द्वारा की जा सकती है मुख के सामने उंगलियाँ रखी जाय तो प्राणयुक्त में एक फूत्कार (puff-sound) होगी और प्राणहीन में यह नहीं होगी। दियासलाई की एक जलती हुई तीली मुख के सामने की जाय तो अल्पप्राण ध्वनि के उच्चारण में यह नहीं बुझेगी और महाप्राण के उच्चारण में बुझ जायेगी। ध्वनियों के वर्गीकरण का यह रूप श्वास निकालने में प्रयत्न-भेद के अनुसार होगा।

उत्क्षिप्त ध्वनियाँ इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक उलट कर निचले भाग से कठोर तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक स्पर्श करती है। ड, ढ आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

नासिक्य ध्वनियाँ नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में कोमल तालु नीचे झुक जाता है एवं कुछ हवा नासिका-विवर से निकल जाती है। यह भी स्पर्श ध्वनियों के सदृश हैं। इस वर्ग की ध्वनियों में न, म आदि प्रमुख हैं।

अर्धस्वर स्वर एवं व्यंजन की मध्यवर्ती कतिपय ध्वनियाँ अर्धस्वर कहलाती हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा संवृत् से विवृत् की ओर अग्रसर हो जाती है। हिन्दी की 'य', 'व' ध्वनियाँ अर्ध स्वर मानी जाती हैं।

(ख) उच्चारण-स्थान के आधार पर व्यंजन ध्वनियों के वर्गीकरण का एक मुख्य भेद ध्वनियन्त्र के विविध अवयवों के आधार पर किया जाता है। इन ध्वनियों के वर्गीकरण में श्वास की निर्गत वायु जिन-जिन स्थानों पर अवरुद्ध हो जाती है, उन स्थानों के नाम के आधार पर व्यंजन-ध्वनियों का नामकरण किया जाता है। इन ध्वनियों के निम्नलिखित विभाजन हो सकते हैं

कोमल-तालव्य स्वर-यन्त्र से आई हुई श्वास जब कंठ के समीप जिह्वा के पिछले भाग को कोमल तालु में लगाने पर अवरुद्ध होकर झटके से छोड़ी जाती है तो वह कंठ्य ध्वनि का सृजन करती है। इसे कोमल तालव्य (velars) कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा कोमल तालु को ही स्पर्श करती है। जैसे क, ख, ग, घ आदि (हिन्दी-ध्वनियाँ)।

तालव्य जिह्वा का अग्र भाग जब कठोर तालु (hard palate) का

स्पर्श कर श्वास को अवरुद्ध कर देता है तब स्फोट के साथ उच्चरित ध्वनि तालव्य (palatals) कहलाती है। जैसे च, छ, ज, झ आदि (हिन्दी)।

मूर्धन्य जिह्वा का अग्रभाग जब तालु के मध्य भाग (मूर्धा) से मिलकर श्वास को रोक देता है तो इस प्रकार उच्चरित ध्वनि मूर्धन्य (cerebral) कहलाती है। इसमे जिह्वा की नोक उलट कर मूर्धा को स्पर्श करती है। हिन्दी की ध्वनियाँ ट, ठ, ड, ढ आदि इसी प्रकार की हैं।

तालव्य व्यजन का क्रम मूर्धन्य व्यजन के बाद आना चाहिए, क्योकि मूर्धन्य मे तालव्य की अपेक्षा जिह्वा तालु के पूर्व भाग को स्पर्श करती है। सम्भवतः प्राचीनकाल मे तालव्य का उच्चारण-स्थान मूर्धन्य से पहले था, इसीलिए संस्कृत वर्णमाला मे इसे मूर्धन्य के पहले रखा गया है।

दन्त्य जिह्वा का अग्रभाग जब ऊपर के दात को स्पर्श करके श्वास मे रुकावट डालता है तो उच्चरित ध्वनि दन्त्य (dentals) कहलाती है। यथा—त, थ, द, ध आदि (हिन्दी)।

ओष्ठ्य उच्चारण के समय श्वास दोनो बन्द ओष्ठो पर क्षणमात्र के लिए रुक कर जब स्फोट के साथ बाहर निकलती है तो उच्चरित ध्वनि ओष्ठ्य (labials) कहलाती है। हिन्दी की प, फ, ब, म आदि ध्वनिया इसी प्रकार की हैं।

वर्त्स्य जब मसूडे पर लगी हुई जिह्वा की नोक के पास श्वास क्षणमात्र के लिए रोक कर फिर मुक्त की जाती है तो वर्त्स्य ध्वनिया (alveolars) उच्चरित होती हैं। यथा हिन्दी न, र, ल, आदि, अंग्रेजी t, d।

दन्त्योष्ठ्य कतिपय ऐसी ध्वनिया भी होती हैं जिनमे नीचे का ओष्ठ्य ऊपर के दांत को स्पर्श करता है। इन्हे दन्त्योष्ठ्य (dento-labials) कहते हैं। अंग्रेजी के (f, v), फारसी की फ़, व ऐसी ही ध्वनियाँ हैं।

स्वरयन्त्रमुखी श्वास जब स्वरयन्त्र के ऊपर रगड खाकर बाहर निकलती है तो ध्वनि-स्वरयन्त्रमुखी (glottal) कहलाती है। जैसे ह, ह (हिन्दी, फ़ारसी आदि)।

उपरोक्त समस्त व्यंजनों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

प्रयत्न के आधार पर

उच्चारण-स्थान के आधार पर

	ओष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	क ठ्	जिह्वा-मूलीय	स्वर-तन्त्रीय
स्पर्श	प फ ब भ		त थ द ध		ट ठ ड ढ		क ख ग घ		
स्पर्शसंघर्षी						च छ ज झ			
पार्श्विक				ल					
लुण्ठित				र					
उत्क्षिप्त					ड़ ढ़				
संघर्षी		फ़ व्		ज़ स्		श्		ग़ ख़	ह
अनुनासिक		म		न	ण	ञ	ङ		
अर्धस्वर	व्					य्			

स्वरो और व्यजनो के उच्चारण से यह स्पष्ट होता है कि स्वरो के उच्चारण मे मुख-विविर अधिक से अधिक खुला रहता है और व्यजन मे कम से कम। जैसे हिन्दी 'आ' और 'प'। 'आ' स्वर तथा 'प' व्यजन के उच्चारण मे मुख-विविर के खुलने और वन्द होने की क्रमश. अतिम स्थिति है। अन्य स्वरो और व्यजनो का उच्चारण इन दोनो स्थितियो के वीच होता है। कभी कभी ध्वनियो का उच्चारण मध्यम रूप मे होता है। वे पूर्णतया न स्वर होते है और न व्यजन। ऐसी ध्वनियो को अर्व-स्वर (semi vowels) के नाम से कहा जाता है। जैसे हिन्दी य, व। ऊपर जिन ध्वनियो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया वे सभी अलग-अलग ध्वनि-ग्राम (phoneme) हैं जो समान रूप मे उच्चरित ध्वनियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो एक ही ध्वनिग्राम उच्चारण मे कभी कभी दो ध्वनिग्राम और दो ध्वनिग्राम एक ध्वनिग्राम से जान पडते है। अग्रेजी भाषा मे लॉत्स् (lots) मे 'त्स' दो ध्वनिग्राम है और ये शब्द के आदि मे कभी प्रयुक्त नही होते। किन्तु जर्मन-भाषा मे यह एक ध्वनिग्राम है और शब्द मे कही भी प्रयुक्त हो सकता है। यह स्वाभाविक है कि कभी कभी जो ध्वनिग्राम किसी एक भाषा मे सरलता से प्रयुक्त हो सकता है वही दूसरी भाषा मे कठिनाई से व्यवहृत हो पाता है। वह इस कारण है कि प्रत्येक शब्द के गठन मे विभिन्न ध्वनियो के सामजस्य की अपनी विशेषता रहती है।

इस सबध मे ध्वनियो के उत्पादन और ग्रहण के अनुसार दो मत है। एक मत के अनुसार ध्वनियो की मुख्य विशेषता श्रोत्रेंद्रिय द्वारा उनका ग्रहण है, न कि विविध अवयव जिनसे ध्वनियो का उच्चारण होता है। भाषा की ध्वनिया अनुकरण से ही सीखी जाती है, न कि अवयवो के अनुसार उनका उच्चारण सिखाया जाता है। ध्वनियो के पार्थक्य को श्रोत्रेन्द्रिय ही परखती है। वैज्ञानिक आविष्कारो से स्पष्ट किया गया है कि किन्ही दो व्यक्तियो के उच्चारण-अवयव बिल्कुल एक से नही होते इसलिये इनके आधार पर किया गया वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नही कहा जा सकता किन्तु उच्चारण के अवयवो को प्रधानता देने वाले विशेषज्ञो का मत है कि अनुकरण से ध्वनियो का ग्रहण होता अवश्य है किन्तु विना अवयवो के ध्वनियो का उच्चारण सभव नही। 'ह' ध्वनि तथा अघोष स्पर्श व्यजनो का उच्चारण तीव्र नही होता इसलिए केवल सुनने से ही उसका ग्रहण समुचित रूप मे सभव नही। उच्चारण के अवयवो मे सूक्ष्म भेद होते हुए भी उनके द्वारा उच्चरित ध्वनियो मे एक समानता है और ऐसी प्रत्येक उच्चरित ध्वनि को एक ध्वनिग्राम के रूप मे माना जाता है।

ध्वनियों के वर्गीकरण की दृष्टि से दोनों मतों का महत्व है। सघोष अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि ध्वनियों में भेद सुनने के आधार पर ही होता है। स्वरों और व्यंजनों की विविधता उच्चारण-अवयवों पर भी आधारित है। भाषा के परिवर्तन में दोनों का ही योग मिलता है, जिह्वा, तालु आदि के योग से ध्वनियों में बराबर परिवर्तन होता रहता है।

ध्वनि-गुण

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त ध्वनियों की कुछ सामान्य विशेषताएं भी होती हैं। लय (स्वर-भेद), मात्रा, स्वराघात ऐसी ही विशेषताएं हैं। अनेक व्यक्ति ध्वनि-विशेष का उच्चारण यद्यपि समान रूप में करते हैं किन्तु उनमें सूक्ष्म भिन्नता रहती ही है, इसका मुख्य कारण ध्वनि का संघटन (structure) है। ध्वनियों के उच्चारण में श्वास के प्रयोग में भी भिन्नता होती है। इसलिए यदि ध्वनियों का सामान्य रूप न भी बदले लेकिन प्रत्येक के लय, सुर आदि में भेद हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने उच्चारण से ही पहचान लिया जाता है।

दूसरी विशेषता स्वराघात की है। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में स्वरतंत्रियों की झंकार अधिक या कम मात्रा में होती है। अधिक झंकार होने पर सुर ऊँचा होता है और कम झंकार से सुर नीचा होता है। स्वरतंत्रियां यदि दीर्घाकार हैं तो झंकार कम होती है। पुरुष की तंत्रियां स्त्रियों की अपेक्षा बड़ी होती है इसलिए उनका सुर स्त्रियों की अपेक्षा नीचा होता है। स्वर में तन्त्रियों का योग होने के कारण वे गाने में अधिक व्यवहृत होती हैं। अघोष व्यंजन की अपेक्षा सघोष व्यंजन भी गाने में अधिक सरल होते है। स्वर-तंत्रियों के योग के साथ यदि श्वास ज़ोर से एक बारगी बाहर फेंकी जाय तो उच्चारण एक प्रकार का होता है और श्वास को आरोह, अवरोह के साथ निकालने में उच्चारण भिन्न प्रकार का होता है। पहले प्रकार का उच्चारण बलात्मक स्वराघात और दूसरा गीतात्मक स्वराघात कहलाता है। बलात्मक स्वराघात में श्वास को निकालने के अनुसार भेद हो जाते हैं। इसके उच्चतम (highest stress), उच्च (high) और निम्न (low) तीन भेद है। पहले का प्रयोग प्राय निषेध या भेद दिखाने के लिये, दूसरे का प्रयोग प्रत्येक शब्द के एक अक्षर पर और तीसरे का प्रयोग बड़े या समास शब्दों के एक या अधिक अक्षरों पर होता है। भारोपीय परिवार एक या अधिक अक्षरों पर होता है। भारोपीय परिवार की आधुनिक भाषाएँ प्राय बलात्मक स्वराघात का प्रयोग करती हैं। हिन्दी में भी बलात्मक स्वराघात

का प्रयोग होता है। इसके कई रूप हैं। गीतात्मक स्वराघात के कई भेद होते हैं। चीनी भाषाएँ सुर-भेदो में सबसे अधिक स्पष्ट हैं। चीनी की आदर्श विभाषा मन्दारी (mandarin) मे चार सुरभेद होते है। उच्च सम (high level), उच्च आरोह (high rising), निम्न आरोह (low rising) और निम्न अवरोह (low falling) जैसे-'फु' का पहले सुरभेद के अनुसार मनुष्य पति, दूसरे के अनुसार 'धन', 'सुख', तीसरे के अनुसार सार्थक और चौथे के अनुसार 'धनी' अर्थ होगा। इन्ही चारो के उच्च और निम्नभेद के अनुसार कैन्टन के समीप फोकियन (fokien) विभाषा मे आठ सुरभेद होते हैं। इन्डोचीन की तई (tai) मे १० सुरभेद होते हैं। अफ्रीका की भाषाओ मे भी सुरभेद का प्रयोग मिलता है। होटेंटाट मे तीन सुरभेद, बांटू की डुआल विभाषा मे भी तीन होते हैं। यथा 'म्व' का उच्च मे 'मैं', निम्न मे 'बादल' और आरोह मे जिमीकद अर्थ होगा।

वैदिक सस्कृत और ग्रीक मे भी सुरभेद के उदाहरण मिलते है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओ मे गीतात्मक स्वराघात का प्रयोग होता था। सस्कृत मे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन भेद थे। उदात्त मे उच्च, अनुदात्त मे निम्न और स्वरित मे सम उच्चारण होता था। इनको चिह्नित भी किया जाता था। ग्रीक मे ऐक्यूट (acute), ग्रेव (grave) और सरकमूफ्लेक्स (circumflex) का भेद था। पहला उच्च, दूसरा निम्न और तीसरे मे सम उच्चारण होता था। भारोपीय परिवार की आधुनिक लिथुएनी भाषा मे गीतात्मक स्वराघात अब भी पाया जाता है।

गीतात्मक और बलात्मक स्वराघात एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न नही हैं। दोनो एक दूसरे से किसी अश मे सबधित भी हैं। सुर के साथ बलात्मक रूप का प्रयोग और बलात्मक के साथ सुर का प्रयोग हो सकता है। बलात्मक स्वराघात का प्रभाव ध्वनि-परिवर्तन पर पडता है। शब्द के जिस स्वर पर यह होता है वह स्वर सुरक्षित रहता है और उनके आस-पास के स्वर जिन पर यह नही होता, उनका लोप या परिवर्तन हो जाता है। अपश्रुति (ablaut) के उदाहरणो मे इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसमे स्वरो के मात्रा और गुण सम्बन्धी (quantitative and qualitative) दोनो प्रकार के परिवर्तन मिलते हैं आ, अ, जैसे काम से कमाई (हिन्दी)।

प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण मे कुछ समय लगता है। उच्चारण के समय की माप मात्रा (mora) के द्वारा की जाती है। इसका विभाजन ह्रस्व, दीर्घ आदि रूपो मे किया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ रूपो को चिह्नित करके

दिखाया जाता है। अंग्रेजी में ह्रस्व के लिये कोई चिह्न नहीं है, कुछ दीर्घ के लिये एक कोलन-चिह्न और दीर्घ के लिये दो कोलन-चिह्नों का प्रयोग होता है। दीर्घ रूप को दिखाने के लिये स्वर और व्यंजन के ध्वनि-चिह्न दो बार लिख दिये जाते हैं। जैसे पिक (pick), पीक (peak); हिन्दी में ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्राओं का प्रयोग होता है। संस्कृत में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन प्रकार की मात्राओं का विधान है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दीर्घ मात्रा में ह्रस्व की अपेक्षा दुगुना समय लगता है और प्लुत में तिगुना या इससे कम अथवा अधिक। यह आवश्यक नहीं है कि विविध भाषाओं की मात्रा में समय की माप एक समान हो। एक भाषा में जो मात्रा दीर्घ है वही दूसरी भाषा में ह्रस्व हो सकती है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कभी-कभी सुनने पर भी निर्भर करता है। कोई स्वर ह्रस्व होते हुए भी अपनी विशेषता के कारण दीर्घ जान पड़ता है और दीर्घ ह्रस्व हो जाता है। पुकारने में शब्द के अंतिम स्वर-भाग को श्वास के साथ देर तक उच्चरित किया जा सकता है। ऊष्म व्यंजन श, ष, स भी इसी प्रकार कम या अधिक समय तक उच्चरित हो सकते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन

ध्वनियों में परिवर्तन की एक नियमित दिशा है तथा वह परोक्ष रूप में होता है। भाषा के प्रत्यक्ष एवं स्थिर रूपों में जो परिवर्तन होता रहता है उसे प्रत्यक्ष रूप में हम भले ही न देख सकें लेकिन कालान्तर में वह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। भाषा के रूप बनते और बिगड़ते रहते हैं और इसी आधार पर पुरानी भाषा को जन्म देकर समाप्त भले ही न हो लेकिन नई भाषा पुरानी भाषा का स्थान ले लेती है। नई फिर पुरानी हो जाती है और वह पुनः एक नई भाषा का विकास करती है। इस प्रकार यह क्रमिक विकास भाषा के क्षेत्र में निरंतर होता रहता है और इस विकास का मूलाधार है ध्वनि-परिवर्तन। भाषा के इस ऐतिहासिक विकास का अध्ययन तभी संभव होता है जब उसकी सामग्री लिपिबद्ध हो। भाषा की लिपि-परंपरा जितनी प्राचीन होगी उतना ही पूर्ण उसके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन भी किया जा सकता है। लिखित सामग्री के उपलब्ध होने पर ही भाषाओं के तुलनात्मक स्वरूप का विवेचन संभव होता है। आदिम आर्य भाषा की कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है फिर भी प्राचीन आर्य भाषाओं की उपलब्ध सामग्री के तुलनात्मक विवेचन से उसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सका है।

भाषा के सभी रूपों-ध्वनि, उच्चारण, शब्द-गठन, व्याकरण, अर्थ, वाक्य-गठन में परिवर्तन अवश्यभावी है। इनमे ध्वनि-परिवर्तन पर ही भाषाविज्ञानियो की दृष्टि सबसे अधिक गई है क्योंकि अन्य अगो की अपेक्षा ध्वनियाँ ही अधिक प्रत्यक्ष होती हैं। ध्वनि-परिवर्तन के कारणो पर भी भाषाविज्ञानियो ने काफी विचार किया है। कुछ विद्वानो के अनुसार ध्वनियो का परिवर्तन मनुष्य की ध्वनि-यत्र की बनावट की भिन्नता के कारण होता है। किन्तु यह मत मान्य नही है। ध्वनि-यत्र की स्वर-तत्रियो, विभिन्न अवयवो के आकार-प्रकार मे वैज्ञानिको ने सूक्ष्म भेद अवश्य माना है किन्तु ध्वनि-परिवर्तन पर उसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही पडता। येस्पर्सन के मतानुसार कोई भी ध्वनि-विशेषज्ञ ध्वनि-अवयवो के द्वारा प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण को सिखा सकता है चाहे वह उसकी भाषा की न भी हो। इसके अतिरिक्त ध्वनि-परिवर्तन से भाषा मे कोई बिल्कुल नई ध्वनि का आगम या लोप नही होता वरन् उसी ध्वनि का स्थानीय परिवर्तन हो जाता है। एक स्थान मे वही ध्वनि हटकर दूसरे स्थान मे व्यवहृत हो जाती है। अस्वभाविक प्रयत्नो से भाषा के किसी ध्वनि के उच्चारण मे परिवर्तन या लोप भले ही हो जाय लेकिन परिवर्तन की वह कोई नियमित दिशा नही है। उच्चारण के ढग, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ध्वनियो के ग्रहण तथा स्वराघात के कारण ध्वनियो मे परिवर्तन अवश्य होता है।

प्रत्येक भाषा के उच्चारण मे अवयवो की अपनी विशेष स्थिति होती है। यह प्रत्येक भाषा-भाषी की परम्परागत विशेषता होती है जिसे दूसरा भाषा-भाषी साधारणतया एकाएक नही सीख सकता। बगला, भोजपुरी भाषा का प्रयोग करने वाला हिन्दी, पजाबी का उच्चारण पूर्ण स्वाभाविक रूप मे नही कर पाता। अग्रेजी बोलने वाला फ्रेंच भाषा का सहज रूप मे उच्चारण नही कर सकता। कुछ भाषाओ मे एक ही वर्ग की महाप्राण, अल्पप्राण, सघोष और अघोष ध्वनियो मे कोई विशेष अन्तर नही होता किन्तु कई मे ये अलग-अलग ध्वनियाँ हैं। बगला भाषा-भाषी हिन्दी के वर्गीय अल्पप्राण व्यजन को महाप्राण और पजाबी भाषा-भाषी हिन्दी के वर्गीय सघोष व्यजन को अघोष व्यजन के रूप मे उच्चारण करना कोई अशुद्ध बात नही मानता। किन्तु हिन्दी मे ये सब अलग-अलग ध्वनियाँ हैं। अग्रेजी मे प, ब, का अन्तर है किन्तु जर्मन विभाषाओ के शब्दात मे ये दोनो एक ही ध्वनि हैं। भाषाओ का आदान-प्रदान होने पर उपरोक्त कारणो से ध्वनि-परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। संस्कृत मे मूर्धन्य व्यजनो का प्रयोगाधिक्य द्रविड जाति का सपर्क बताया जाता है। अन्य प्राचीन भारोपीय भाषाओ मे इसका अभाव मिलता है।

अतएव जातियो के संपर्क से ध्वनियो मे परिवर्तन अथवा परिवर्धन होता रहता है।

स्वराघात का प्रभाव भी भाषा के ध्वनि-परिवर्तन पर पडता है, यह पहले कहा जा चुका है। हिन्दी मे चलना, चलाना, पिटना, पीटना आदि, अंग्रेजी सिंग, सैंग, संग (sing, sang, sung) मे अंतर इसी कारण माना जाता है। सुर-भेद से एक ही शब्द मे कभी एक अक्षर का और कभी दूसरे का परिवर्तन हो जाता है। जैसे सं० पिता के लिये जर्मन मे 'वतेर' और सं० भ्रातृ के लिये ब्रुदेर (bruder) शब्द हैं। पहले शब्द मे स्वराघात दूसरे अक्षर पर और दूसरे शब्द मे स्वराघात पहले अक्षर पर है। शब्द मे एक ही अक्षर के पूर्व स्वराघात और उसके बाद मे स्वराघात होने से उस अक्षर का व्यंजन-परिवर्तन हो जाता है। जैसे *कमतोम् लेटिन-केन्तुम्, जर्मन-हुन्द, सं० शतम् आदि।

अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य मे ध्वनियंत्र की गठन से या श्रवणेन्द्रिय की भिन्नता से ध्वनियो मे परिवर्तन नही होता वरन् दोष-पूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण रूप से सुनने से परिवर्तन होता है। कुछ विद्वानो ने यह मत प्रकट किया है कि जलवायु या भौगोलिक प्रभाव के कारण ध्वनियो मे परिवर्तन हो जाता है। एच्० कॉलित्स् ने इसके प्रमाण मे पर्वतीय प्रदेश की भाषाओ मे व्यंजन-परिवर्तन का उदाहरण बताया है। दक्षिणी जर्मनी (पर्वतीय भाग) मे व्यंजन-परिवर्तन उपलब्ध होता है और उत्तर जर्मनी (मैदानी भाग) मे यह उपलब्ध नही होता। अल्पप्राण व्यंजन प्रायः महाप्राण हो जाते हैं। इसका कारण श्वास निकालने की गहनता है और उच्च पर्वतीय प्रदेश मे फेफडो को कुछ उत्तेजना मिलती है इसलिये उक्त परिवर्तन स्वाभाविक है। येस्पर्सन ने इसका खंडन करते हुए लिखा है कि सभी पर्वतीय प्रदेशो मे इस प्रकार का परिवर्तन नही पाया जाता, साथ ही मैदानी भागो मे भी यह परिवर्तन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन फेफड़ों की उत्तेजित अवस्था से सम्बन्धित नही है वरन् अभिकाकल से। साथ ही यह कथन भी ठीक ही है कि पहाडी अथवा रेगिस्तानी प्रदेश के लोग मुख खुला नही रखते और इसलिये उनके उच्चारण स्पष्ट नही होते। जब वे अधिक परिश्रम के आदी होते हैं तो मुँह खोल कर उच्चारण करने मे उन्हे क्या असुविधा है? हाँ, यह अवश्य है कि भौगोलिक सीमाओ का प्रभाव भाषा पर परोक्ष रूप से पडता है। जातियो के अधिक संपर्क के कारण बाह्य प्रभावो से भाषा मे परिवर्तन हो जाता है और यदि देश की सीमाएँ इसमे बाधा डाले तो प्रभाव पडेगा ही क्यो? बाह्य प्रभाव मैदान की भाषाओ मे अधिक सहज हो सकते हैं और पर्वतीय भाषाओ मे अपेक्षाकृत कम।

एक मत यह भी प्रकट किया गया है कि जातीय मानसिक अवस्था में भाषा में परिवर्तन होते हैं। याकोव ग्रिम ने यह प्रतिपादित किया कि जर्मन भाषा में व्यंजन-परिवर्तन वहाँ के भाषा-भाषी लोगों की उन्नतिशील और स्वच्छन्द प्रकृति का द्योतक है। नवीन जातियों के आगमन के कारण यह परिवर्तन उनके उत्साह और गर्व का परिचायक है। कुछ इसे उनकी दुर्बलता और आलस्य का चिह्न मानते हैं। इस परिवर्तन को कुछ लोग उनकी स्त्रीत्व तथा सौन्दर्य-लिप्सा की भावना के कारण मानते हैं किन्तु भाषा के ध्वनि-परिवर्तन में मानसिक अवस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण जातीय संगठन की शिथिलता हो सकती है। किसी कारण से परिवर्तन में स्वच्छन्दता तथा निरंकुशता की भावना फैल जाने पर भाषा में शीघ्र परिवर्तन हो सकता है क्योंकि तब बाह्य संपर्क और प्रभाव अधिक सहज हो जाते हैं।

जर्मन भाषा में ध्वनि-परिवर्तन का एक कारण वुण्ड नामक विद्वान ने बोलने में शीघ्रता को माना है किन्तु येस्पर्सन ने इस कारण का खंडन करते हुए लिखा है कि ऐसा परिवर्तन केवल एक सीमित काल और स्थान में ही क्यों हुआ? भाषा के परिवर्तन की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जो किसी स्थान अथवा काल से बद्ध नहीं होतीं वरन् सभी कालों और स्थानों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। इस दिशा में प्रयत्न-लाघव (economy of effort) को प्रायः सभी विद्वान भाषा-परिवर्तन का सर्वप्रचलित मत मानते हैं। भाव की अभिव्यक्ति में समय और प्रयत्न की बचत कौन न करना चाहेगा? साधारण कार्य-व्यवहार में भी हम कम प्रयत्न और कम-से-कम समय में अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेना चाहते हैं। मुख-सुख के कारण कठिन ध्वनियों का उच्चारण छोड़कर सहज ध्वनियों का उच्चारण अपनाया जाता है। विशेष रूप से ऐसी कठिनाई का अनुभव विदेशियों को होता है। कभी यह भी देखा जाता है कि ध्वनियों का स्पष्ट उच्चारण आवश्यक प्रयत्न के साथ नहीं किया जाता। यही प्रवृत्ति लिखने में भी दिखाई पड़ती है। समय की बचत या आदत के कारण लोग इतना घसीट लिखते हैं कि कई वर्ण-चिह्नों का समझ सकना दुष्कर कार्य होता है।

कुछ ध्वनियों का उच्चारण सहज होता है और कुछ का कठिन। स्पर्श ध्वनियों में कण्ठ्य, दन्त्य, ओष्ठ्य की अपेक्षा मूर्धन्य या तालव्य का उच्चारण कठिन होता है। स्पर्श की अपेक्षा संघर्षी, लोडित, उत्क्षिप्त ध्वनियों के उच्चारण में भी कठिनाई होती है। येस्पर्सन ने प्रयत्न-लाघव को आलस्य, शिथिलता, शक्तिहीनता, निश्चलता, मन्दता, सुस्ती आदि का पर्यायवाची माना है। इसमें संदेह नहीं

कि भाषा-परिवर्तन के मूल में ध्वनि-परिवर्तन ही मुख्य है और ध्वनियो के परिवर्तन का मूल आधार प्रयत्नलाघव की विशेष प्रवृत्ति है।

भाषा मे मूल ध्वनियो की अपेक्षा सयुक्त ध्वनियो का उच्चारण कठिन होता है। अत सयुक्त स्वर और सयुक्त व्यजनो मे बराबर परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन वैदिक भाषा मे ऐ, औ सयुक्त स्वरो का उच्चारण क्रमश. आ+इ ऐ और आ+उ=औ रूप मे होता था। लौकिक सस्कृत मे ये अ+इ=ऐ और अ+उ=औ के रूप मे उच्चरित होने लगे। सस्कृत के बाद प्राकृत-काल मे इनका परिवर्तन मूल स्वर के रूप मे ऐ 7 ए, औ 7 ओ हो गया। आधुनिक आर्य भाषा हिन्दी मे ऐ, औ का प्रयोग होता है किन्तु इनका उच्चारण अ+एँ 7 एँ, अ+ओँ 7 औ के रूप मे किया जाता है। इसी प्रकार सयुक्त व्यजनो के परिवर्तन की कई दिशाएँ मिलती है। सुविधाजन्य प्रवृत्ति के कारण कभी सयुक्त व्यजन के एक व्यजन का लोप, कभी दोनो व्यजनो को एक समान और कभी दोनो के बीच कोई स्वर डालकर विभक्त कर दिया जाता है।

सयुक्ताक्षर मे जब दोनो ध्वनियाँ समान हो जाती है तो उसे पारिभाषिक रूप मे समीकरण (assimilation) की सज्ञा दी गई है। यह दो प्रकार का होता है। जब सयुक्ताक्षर की पहली ध्वनि बाद वाली ध्वनि को अपने सदृश बना लेती है तो पुरोगामी समीकरण होता है और जब बाद की ध्वनि पहली ध्वनि को अपने समान कर ले तो पश्चगामी समीकरण होगा। जैसे स० अग्नि 7 प्रा० अग्गि, हिं० आग, स० चक्र 7 प्रा० चक्क, हिं० चाक। स० पत्र 7 प्रा० पत्त, हिं० पात आदि। (पुरोगामी), स० सर्प 7 प्रा० सप्प, स० दुग्ध 7 प्रा० दुद्ध, स० वल्कल 7 प्रा० वक्कल आदि (पश्चगामी)।

समीकरण का विपरीत रूप विषमीकरण (dissimilation) है। इसमे शब्द की समान निकटस्थ ध्वनियो मे से एक का लोप या परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन स्वर और व्यजन दोनो मे मिलता है। जैसे स० वीरवर 7 हिं० वीरबल, (व्यजन), स० मुकुट 7 प्रा० मउड, हिंदी मौड़ (स्वर) आदि।

जब बीच मे कोई स्वर डालकर सयुक्ताक्षर को विभक्त कर दिया जाता है तो वह स्वर-भक्ति (anaptyxis) कहलाता है। जैसे स० रत्न 7 प्रा० रदण (हिं० रतन), स० दर्शन 7 प्रा० दरिसण, स० कृष्ण 7 हिं० किशन, स० भक्त 7 हिं० भगत, स० कृपा 7 हिं० किरिपा, अग्रेजी स्टेशन 7 प० सटेशन, स्कूल 7 प० सकूल आदि। सयुक्ताक्षर का उच्चारण शब्द के आरभ मे कठिन होता है। अत उसके पहले कोई स्वर का आगम हो जाता है। इसे स्वरागम या

अग्रागम (prothesis) कहते हैं। जैसे स० स्त्री 7 प्रा० इत्थी, स० स्नान 7 हिं० अस्नान, स० स्थान 7 हिं० अस्थान आदि। अंग्रेजी स्कूल, स्टेशन के उच्चारण में संयुक्ताक्षर के पूर्व ह्रस्व स्वर-अ या-इ का आगम कर दिया जाता है। शब्द के मध्य और अन्त में भी स्वरों और व्यंजनों का आगम मिलता है। शब्द में संयुक्ताक्षर के अतिरिक्त जब मध्य में कहीं और स्वरागम होता है तो वह मध्य स्वरागम (epenthesis) कहलाता है। जैसे स० सर्व 7 ईरानी हौर्व, स० सोम 7 ई० हओम, स० लाश 7 हिं० लहाश, फा० सा 7 हिं० साल। अंत व्यंजनागम-भौं 7 भौंह, उमरा 7 उमराव। इसी प्रकार आदि, मध्य, अंत में अक्षरागम भी होता है। येवान्गुजा 7 घुंघुची, स० आप 7 हिं० आप, वधू 7 ववूटी आदि।

संयुक्ताक्षर या शब्द में स्वर, व्यंजन, अथवा अक्षर का लोप भी मिलता है। शब्द में आदिध्वनि-लोप (aphesis), मध्यध्वनि-लोप (syncope) तथा अन्त्य ध्वनि-लोप (apocope) होता है। जैसे स० श्मशान 7 प्रा० मसाण (हिं० मसान), स० स्नेह 7 प्रा० णेह, (हिं० नेह), स० स्पर्श 7 प्रा० फंस, स० स्थान 7 प्रा० ठाण, (हिं० ठाव), स० प्रिय 7 प्रा० पिअ (हिं० पिया), स० द्वादश 7 हिं० बारह, स० चन्द्र 7 हिं० चन्द, स० द्विज 7 प्रा० दिज, स० जीव 7 जी हिं० आदि।

संस्कृत के संयुक्ताक्षर प्राकृत में जो समीकृत रूप में बदल जाते हैं वे अपनी एक ध्वनि का लोप कर के हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। जैसे स० कर्म 7 प्रा० कम्म 7 हिं० काम, स० वल्कल 7 प्रा० वक्कल 7 हिं० बाकल (बकला) आदि। अन्त्य-ध्वनि लोप के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे स० आत्मन् 7 प्रा० अप्प 7 हिं० आप आदि। शब्द में अक्षर-लोप (haplology) भी होता है। जैसे स० बिडालिका 7 हिं० बिलइआ, स० मधुदुग्ध 7 मदुग्ध स० कृष्णनगर 7 कृष्नगर आदि।

शब्द में समीपवर्ती ध्वनियों का विपर्यय भी मिलता है। इसे ध्वनि-विपर्यय (metathesis) कहते हैं। बच्चे जलेबी को अक्सर जबेली, अमरूद, को अरमूद, बाक्स को बसक, डेस्क को डेक्स कहते हुए सुने जा सकते हैं। नहाना को हनाना, डूबना को बूडना, लखनऊ को नखलऊ आदि का प्रयोग बड़े बूढे लोगों में भी प्रचलित है। पंजाबी भाषा-भाषी 'मतलब' को बराबर 'मतबल' ही कहते सुने जायेंगे। ईरानी शब्द बर्फ़ उर्दू में बर्फ हो गया है। कभी-कभी संयुक्ताक्षर की एक ध्वनि या दोनों का परिवर्तन करके फिर स्थान-विपर्यय कर लिया जाता है। जैसे स 7 ह करके स० स० स्नान 7 प्रा० ण्हाण हिं० नहान, वैदिक

युष्मे 7 प्रा० तुम्हे, तुम्ह 7 हिं० तुम, सं० जिह्वा 7 प्रा० जिव्हाँ, सं० चिह्न 7 हिं० चिन्ह सं० वाराणसी 7 हिं० बनारस, सं० लघु 7 हिं० हलुक, आदि।

प्राय यह देखने मे आता है कि बडे-बडे शब्दो का उच्चरण अधिक सुविधाजन्य नही होता। अत उन्हे लघु कर लिया जाता है। जैसे टाउन राशनिंग आफिसर के लिए केवल टी० आर्० ओ०, चीफ मिनिस्टर के लिये सी० एम्०, वाइस चासलर के लिए वी० सी०, नेशनल कैडेट कार्प्स् के लिए एन० सी० सी० आदि। इसी प्रकार लम्बे लम्बे शब्दो को लघुतम रूप मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति सभी भाषाओ मे व्यापक मिलती है। व्यक्तियो के नामो को भी हम इसी प्रकार छोटा करके उनका सबोधन करने लगते हैं। नामो मे 'राजरानी' को केवल 'राज' या 'रानी', प्रेमलता को 'प्रेम' या 'लता', इन्दुमती को केवल 'इन्दु' रूप मे सबोधित किया जाता है।

कभी कभी भावातिरेक से भी शब्दो की ध्वनियो मे परिवर्तन हो जाता है। अत्यधिक क्रोध मे सहदेव का सहदेउना, कामेश्वर का कमेसरा आदि रूप हो ही जाते हैं। प्रेमाधिक्य के कारण बच्चा का बच्चू, भाई का भइया, बाह का बहिया हो जाना स्वाभाविक है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भाषा का ध्वनि-परिवर्तन मनुष्य की प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

ध्वनि-नियम

भाषा मे ध्वनि-परिवर्तन तभी होता है जब कि उस भाषा के एक व्यक्ति मे नही वरन् उसके सभी लोगो मे वैसा ही परिवर्तन करने की समान प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई अकेला व्यक्ति भाषा मे परिवर्तन नही कर सकता। भाषा-परिवर्तन का यह स्वरूप देश और काल के अनुसार बदलता रहता है फिर भी ध्वनि-परिवर्तन मे एक विशेष बात हम यह देखते है कि किसी विशेष काल और विशेष स्थान की भाषाओ मे परिवर्तन प्राय समान दिशाओ मे होता है। इससे किसी विशेष स्थान और समय की भाषा के बोलने वालो मे समान प्रवृत्ति का बोध होता है। ध्वनि का यह परिवर्तन परोक्ष रूप मे होते हुए भी निश्चित होता है। परिवर्तन के इसी नियमित ढग को ध्वनि-नियम के रूप मे प्रदर्शित किया गया है।

ध्वनि-नियम विशुद्ध वैज्ञानिक नियमो से भिन्न होता है। इसका क्षेत्र सीमित होता है। वैज्ञानिक [नियम सभी कालो और देशो मे समान रूप से घटित होते हैं, किन्तु ध्वनि-नियम किसी स्थान और काल की भाषा विशेष पर ही

लागू किये जा सकते हैं। ध्वनि का परिवर्तन हो जाने के उपरान्त ही किसी भाषा के ध्वनि-नियम का निर्धारण संभव होता है, किन्तु वैज्ञानिक नियमों के लिये ऐसी कोई सीमा निश्चित नहीं होती। यह अवश्य है कि ध्वनि-नियम से किसी भाषा की प्राचीन परंपरा का बोध हो जाता है। भाषाओं में ऐतिहासिक संबंध जोड़ने में ध्वनि-नियम सहायक सिद्ध हुए हैं। कभी कभी अन्य सूत्रों से भाषाओं में ऐतिहासिक संबंध का निश्चय होता है और उनमें ध्वनि-नियम घटित नहीं हो पाते। इनका कारण भाषाओं में सादृश्य (analogy) का प्रभाव माना गया है। आधुनिक भाषाविज्ञानी इस बात को नहीं मानता कि ध्वनि-नियमों में अपवाद होते हैं क्योंकि इन अपवादों का समाधान भाषा पर बाह्य प्रभावों के निराकरण से कर लिया जाता है। भाषाएँ सभी कालों और देशों में दूसरी भाषाओं के संपर्क में आती हैं। अतः उनमें पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही है। प्राचीन जर्मन भाषा का संबंध आदिम भारोपीय से जोड़ने के लिए याकोब ग्रिम ने एक ध्वनि-नियम का आविष्कार किया जिसे उसी के नाम पर ग्रिम-नियम कहा जाता है। इस नियम के अनुसार आदिम आर्य शब्दों के वर्ण क्, त्, प् 7 प्राचीन जर्मन भाषा में क्रमशः ख (ह), थ, फ्; ग्, द्, व्, 7 क्रमशः क्, त्, प और घ्, ध्, भ 7 क्रमश ग्, द्, व हो जाते हैं। आदिम आर्य का व्यंजन-समूह संस्कृत भाषा में सुरक्षित रहता है। अतएव उक्त परिवर्तन संस्कृत भाषा पर भी घटित होता है। जैसे *करद् 7 गॉथी हैर्तो, अंग्रेजी हार्ट्, *त्रेयेस् 7 स० त्रि, गॉथी थ्रीस, अंग्रेजी-थ्री, *पोद् 7 स० पाद्, गॉथी फोटुस, अंग्रेजी फुट, *देक् 7 स० दश, गॉथी तेहुन्, अंग्रेजी टेन्। *घन्स् 7 स० हस, गॉथी, गन्स्, अंग्रेजी गूज, *भेरो-7 स० भरामि, गॉथी बैरान्, अंग्रेजी बेयर् आदि।

ग्रिम-नियम में कुछ अपवाद भी थे। जैसे आदिम आर्य व, द गॉथी में क्रमश. व, द ही मिलते हैं, प, त नहीं। इसका समाधान हर्मन ग्रासमैन ने किया। उसने यह स्थिर किया कि आदिम भाषा की एक स्थिति में मूल शब्दों के आदि और अंत में दो महाप्राण ध्वनियाँ प्रयुक्त होती थीं तथा दूसरी स्थिति में दो महाप्राण ध्वनियों में से एक को अल्पप्राण कर दिया गया। इस प्रकार आदिम आर्य *भेउध 7 स० बोध, गॉथी बिउद,, *भेन्ध्, 7 स० बन्ध्, गॉथी बिन्दान, *धोम 7 स० दम, गॉथी दाम्स रूप नियमित हैं। संस्कृत और गॉथी में आदिम भाषा की महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो गई है। कुछ उदाहरणों में ग्रिम-नियम के अनुसार क, त्, प् वर्ण गॉथी में ख (ह), थ्, फ् न मिलकर ग्, द्, व् मिलते हैं। यह अपवाद कार्ल वर्नर के द्वारा स्पष्ट किया गया। इसलिये इसे वर्नर-नियम के नाम से कहा जाता है। उसने यह बताया कि आदिम भाषा के शब्दों

के शुरू मे क, त, प होगे तो वे ग्रिम-नियम के अनुसार क्रमश ख (ह), थ, फ होगे किन्तु मध्य या अत मे बाद के अक्षर पर सुर होने से परिवर्तन उक्त रूप न होकर ग्, द्, व्, के रूप मे होगे। जैसे *क्मतोम् 7 गॉथी हुन्द, *सेप्तन् 7 गाथी सिवुन (अंग्रेजी सेवेन) आदि। यहाँ सुर बाद वाले अक्षर पर न होकर पहले अक्षर पर है।

इसी प्रकार का एक तालव्यीकरण नियम (law of palatalisation) है। इसके द्वारा सस्कृत का सबध आदिम आर्य से जोडा गया है। इसके अनुसार जब आदिम भाषा के कण्ठ्य वर्णों के बाद इ या ए स्वर हो तो वे वर्ण तालव्य वर्ण मे बदल जायेगे। जैसे *क्वे 7 स० च, *ग्वीवोस् 7स० जीव: *घ्वेन्ति 7ई० घन्ति, स० हन्ति आदि।

भारतीय भाषाओ मे सस्कृत और प्राकृत के साथ हिन्दी, बगला आदि के पारस्परिक सबधो को स्पष्ट करने के लिये ऐसे अनेक ध्वनि-नियमो की अवतारणा की जा सकती है। सं० 'न' व्यजन प्राकृत मे सर्वत्र 'ण' रूप मे मिलता है। स० 'य' वर्ण अधिकाश प्राकृतो मे 'ज' मिलेगा। सस्कृत-शब्दो के आदि मे प्रयुक्त 'प' प्राकृत मे सर्वत्र तथा आधुनिक भाषाओ मे भी प्राय 'प' ही रहता है। इसे भारतीय आर्य भाषाओ के विकास के सबध मे ध्वनि-नियम के रूप मे माना जा सकता है।

(ख) रूप-विज्ञान

रूपग्राम एव ध्वनिग्राम का सम्बन्ध जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रत्येक भाषा निश्चित प्रतीको के रूप मे कुछ ध्वनियो को अपना लेती है। ये ध्वनियाँ ही भाषा की सरचना-प्रक्रिया को सम्पन्न करती है। भाषा विशेष की ध्वनियो के माध्यम से मनुष्य अपने विचार अन्य व्यक्तियो पर प्रकट करता है परन्तु एक भाषा-भाषी के लिए चुना हुआ ध्वनि-समूह सार्थक होता है, अन्य भाषा-भाषी के लिए वही ध्वनि-समूह निरर्थक होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पृथक-पृथक भाषाओ की ध्वनि-सयोजना भिन्न होती है और वही सयोजना या सरचना-शक्ति भाषा की विशेषता कही जा सकती है। मनुष्य जिन ध्वनि-तत्वो का प्रतिदिन प्रयोग करता है, अध्ययन एव विश्लेषण मे उनके अत्यन्त सूक्ष्म भेद प्राप्त होते हैं, जिन्हे 'स्वन' की सज्ञा दी जाती है। ध्वनिग्रामो का निर्माण करने मे ये 'स्वन' ही सहायक होते हैं। अत. ध्वनिग्राम-शास्त्र के अध्ययन मे हमे इन्ही 'स्वनो' या ध्वनितत्वो का अध्ययन करना होता है। प्रत्येक ध्वनि-तत्व को अर्थपूर्ण रूप मे ग्रहण करना अत्यन्त कठिन हैं। अत. ध्वनियां भाषा की

अर्थहीन ध्वनियाँ कही जा सकती हैं जो निरर्थक अर्थ प्रतीक हैं जो वस्तुतः किसी अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं। इन ध्वनियों को ही युक्त अर्थ, शब्दों के रूप में प्रयोग करने पर हम 'रूप' की संज्ञा देते हैं। वास्तव में 'रूप' ही भाषा की लघुतम अर्थपूर्ण इकाई होते हैं जिनमें एक अथवा अनेक ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की संरचना में ध्वनियों की महत्ता होती है एवं ध्वनियाँ ही भाषा में प्रयुक्त होने वाले रूपों का निर्माण करती हैं।

प्रत्येक भाषा में सुविधा की दृष्टि से सम्बन्धित भाषा के शब्द-भंडार को कोशों में संगृहीत कर लिया जाता है। वाक्यों का निर्माण शब्दों से एवं शब्दों का निर्माण रूपों से होता है। कतिपय शब्द ऐसे होते हैं जो रूप ही होते हैं अर्थात् कुछ अर्थवान रूप ज्यों के त्यों शब्द-रूप में प्रयोग कर लिए जाते हैं। इस प्रकार के शब्द मुक्त रूप कहलाते हैं। परन्तु कतिपय रूप शब्दत्व प्राप्त करने के लिए विभक्ति या प्रत्ययों का आश्रय लेकर वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के रूप 'आबद्ध' कहलाते हैं। कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं

घोड़ा, लड़का	मुक्त रूप
घोड़े, लड़के	मुक्तरूप + आबद्धरूप (घोड़् + ए)
प्रतिपालक	आबद्धरूप + मुक्तरूप
राजपुत्र	मुक्त रूप + मुक्त रूप
तारतम्य	आबद्धरूप + आबद्धरूप

हिन्दी भाषा के उपसर्ग एवं प्रत्यययुक्त शब्द मुक्त और आबद्ध अथवा आबद्ध और मुक्त रूपों में ही आते हैं। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द के रूपों में अन्तर नहीं होता एवं कतिपय प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में तो पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द का एक इकाई होने के कारण उसमें विकार उत्पन्न नहीं होता। अतः ऐसी भाषाओं के शब्द एवं रूप में कोई अन्तर नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि अयोगात्मक भाषाओं में वाक्य में प्रयुक्त होने के लिए सम्बन्ध तत्व की आवश्यकता ही नहीं होती, जब कि योगात्मक भाषाओं में शब्द के सम्बन्ध तत्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि सम्बन्धतत्वों का प्रयोग वाक्य में शब्दों का अर्थ ही परिवर्तित कर देता है। इनका वर्णन आगे किया जाएगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रूप-विज्ञान के अन्तर्गत शब्दों की संरचना एवं वाक्य में शब्दों के प्रयोग को जाना जाता है। इसमें शब्दों के सम्बन्धतत्व, अर्थतत्व एवं व्याकरणिक तत्वों का विवेचन किया जाता है। शब्दों की संरचना

में प्रकृति एवं प्रत्यय आदि का महत्व होता है और व्याकरणिक श्रेणियाँ शब्दों की अध्ययन की सुविधा के लिए बना लेते हैं। शब्दों की व्याकरणिक कोटियों के अन्तर्गत हम संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि शब्दों का अध्ययन करते हैं। इसी प्रकार व्याकरणिक धाराओं के अन्तर्गत लिङ्ग, वचन, कारक आदि का निर्धारण किया जाता है। आगे इनका विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

ध्वनियों का संयोजन 'शब्द' तथा पदों का संयोजन 'वाक्य' के रूप में प्रकट होता है। शब्द से जब व्याकरणिक अर्थ का भी बोध होता है तो उसे 'पद' की संज्ञा दी जाती है। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'सुप्तिङन्त पदम्' सूत्र में पद की परिभाषा स्पष्ट की है। संस्कृत में सुप् और तिङन्त् क्रमश संज्ञा, सर्वनाम आदि और क्रिया के विकास में जुडनेवाली विभक्तियों के सूत्र-नाम है। पद में व्याकरणिक अर्थ प्रकट करने की क्षमता होती है किन्तु स्वतन्त्र शब्द केवल सामान्य या विशेष अर्थ को ही व्यक्त करता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द की विशेष स्थिति हो जाती है। प्राचीन आर्य भाषाओं में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों के साथ विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होता था। इन भाषाओं के वाक्यों में विभक्तियों के प्रयोग के बिना शब्दों का प्रयोग समर्थ नहीं था। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्राय विभक्तिरहित शब्द वाक्य में व्यवहृत होते हैं। किन्तु शब्द के व्याकरणिक अर्थ को प्रकट करने के लिये व्याकरण संबंधी अन्य रूपों-शब्द-क्रम, कारक-चिह्न आदि का व्यवहार आवश्यक होता है। अत यह स्पष्ट है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के परस्पर संबंध को व्यक्त करने के लिये व्याकरणिक रूपों का प्रयोग आवश्यक है।

भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि आरंभिक अवस्था में शब्दों का आज जैसा कोई व्याकरणिक विभाजन नहीं था। प्रयोग की सुविधा के कारण शनै-शनै शब्दों के अलग-अलग रूप स्थिर होते गये और उनका विभाजन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि रूपों में किया गया। यूनान के प्राचीन वैयाकरणों ने शब्दों के ऐसे दस विभाजन किये थे। यूरोप में शब्दों का व्याकरणिक विभाजन सर्वप्रथम यूनान में हुआ। तदुपरान्त रोम, आर्मीनिया, अरब आदि देशों में यह विभाजन व्यापक बन गया। इनमें यूनान इस दृष्टि से अग्रणी है। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द का विभाजन नाम (सुबन्त्) और आख्यात (तिङन्त्), उपसर्ग और निपात रूपों में किया था। सुबन्त के अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम के रूप दिए गए हैं और तिङन्त् के अन्तर्गत किया-रूपों का वर्णन किया गया है। विशेषण, क्रिया-विशेषण क्रमशः इन दो प्रधान भेदों से ही संबंधित हैं। उपसर्ग के अन्तर्गत विभक्ति, कारक-चिह्न आदि तथा निपात के अन्तर्गत अव्यय की गणना

की गई। शब्द का यह व्याकरणिक विभाजन यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि प्राचीन भारतीय विद्वानो के द्वारा विशद रूप प्रस्तुत किया गया है।

शब्द का व्याकरणिक विभाजन

आधुनिक काल मे यूरोपीय और भारतीय वैयाकरणो के शब्द-विभाजन मे कोई विशेष अन्तर नही पाया जाता। इनका विभाजन आठ रूपो मे मिलता है संज्ञा (noun), सर्वनाम (pronoıın), विशेषण (adjective), क्रिया (verb), क्रियाविशेषण (adverb), विस्मयादिबोधक अव्यय (interjections), समुच्चयादिबोधक अव्यय (conjunctions), परसर्ग (postposition), किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शब्दो के इन आठ रूपो की निश्चयात्मकता के संबंध मे संदेह प्रकट किया गया है। व्याकरणिक दृष्टि से विस्मयादिबोधक अव्यय का पद-रूप मे विभाजन युक्तिसंगत नही जान पडता। ये शब्द मनोभावो की आकस्मिक अभिव्यक्ति के परिणाम कहे जा सकते हैं। ओह! आह! हाय! छि! धत्! भयकर! चमत्कार! आदि ऐसे ही शब्द हैं। ये शब्द हृदय के शोक, दुख, सुख, प्रसन्नता आदि भावो की तीव्रता को व्यक्त करते हैं। इनमे प्रभावात्मकता का गुण ही विशेष होता है। वाक्य मे इनका अस्तित्व अलग ही होता है। इन शब्दो के लिये वाक्य के अन्य शब्दो की उपेक्षा नही होती। कभी-कभी ठहरो! खून! चुप! साँप! क्या! आदि शब्दो का प्रयोग आकस्मिक मनोभावो को प्रकट करने के लिये किया जाता है। लेकिन ऐसे शब्दो की गणना संज्ञा, क्रिया आदि के रूपो मे की जा सकती है।

शब्दो के अन्य विभाजन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण मे भी विभेद की रेखा बहुत स्पष्ट नही है। सर्वनाम संज्ञा के पूरक होते हैं। सर्वनाम का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। वे एक प्रकार से सम्बन्ध-रूप को प्रकट करते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम मैं, हम, तू, तुम, वह, वे आदि का प्रयोग वाक्य मे व्यक्तिवाचक रूप को प्रकट करने के लिये होता है। सर्वनामो का सम्बन्ध क्रिया से भी जोडा गया है। क्रिया और सर्वनाम मे पुरुष-भेद और वचन-भेद की समानता मिलती ही है। कुछ भाषाओ मे क्रिया द्विवचन के साथ-साथ सर्वनाम मे भी द्विवचन मिलते हैं। इस प्रकार सर्वनाम संज्ञा का पूरक होने के साथ क्रिया से सम्बन्धित तथा प्रभावित रहता है। अत यह एक स्वतन्त्र व्याकरणिक विभाजन के रूप मे स्वीकार न किया जाय, ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। इसी प्रकार संज्ञा और विशेषण मे भी कोई तात्विक भेद नही माना जाता। यूनानी वैयाकरण थ्रैक्स ने शब्दो के दस विभाजित रूपो मे विशेषण को संज्ञा से भिन्न नही

माना। विशेषण सज्ञा पर आधारित माना गया है और सज्ञा के गुण विशेष से सम्बन्धित है।

प्रारम्भिक शब्द व्याख्यात्मक और गुणवाची थे और वे ही बाद मे सज्ञा के लिये सीमित हो गये। सस्कृत गो, नेत्र, रदन, सर्प आदि ऐसे ही शब्द हैं। 'नेत्र' का अर्थ प्रकाशित करनेवाला, 'गो' का अर्थ चलने वाला, 'रदन' का अर्थ फाडने वाला और 'सर्प' का रेगनेवाला था जो प्राय गुण विशेष के ही बोधक थे। बाद मे वे प्राणी विशेष, वस्तु विशेष आदि के लिए सीमित हो गए। भाववाचक सज्ञाएँ विशेषणो पर आधारित हैं। जैसे सत्य से सत्यता, अच्छा से अच्छाई, सुन्दर से सुन्दरता आदि। कभी-कभी विशेषण से ही सज्ञा का बोध कराया जाता है। जैसे अच्छो को भी बुलाओ और बुरो को भी, टूटे-टूटे अलग कर दो आदि। इनमे अच्छे, बुरे, टूटे विशेषण के रूप मे प्रयुक्त न होकर सज्ञा के रूप मे हुए हैं। चीनी परिवार की भाषाओ मे सुर-भेद से एक शब्द सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा क्रिया होता ही है। कुछ विद्वानो के मतानुसार प्रारम्भिक अवस्था मे शब्द गुण-बोधक अधिक थे और सज्ञा-रूपो का विकास उन्ही के आधार पर हुआ। क्रिया-विशेषण (adverb) भी विशेषण पर आधारित हैं। विशेषण क्रिया से सम्बन्धित होने पर इस रूप मे प्रकट होते हैं। जैसे ऊँचे उठो, बडे बनो, धीरे-धीरे चलो, जल्दी आओ, नजदीक बैठो आदि मे क्रिया के साथ क्रिया-विशेषणो का व्यवहार हुआ है जो क्रिया की विशेषता को ही प्रकट करते हैं। इसी प्रकार समुच्चयादि-बोधक अव्यय भी केवल सम्बन्ध-रूप को ही प्रकट करते हैं। वे वाक्य मे अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखते, शब्दो मे अथवा वाक्य-खडो मे परस्पर सम्बन्ध का बोध कराते हैं। अत इन्हें व्याकरण के एक स्वतन्त्र विभाजन के रूप मे मानना युक्तिसगत नही जान पडता। यथा—और, अथवा, कि, जैसे आदि शब्दो के द्वारा इस सम्बन्ध को दिखाया जाता है। भारतीय भाषाओ मे परसर्गो (postposition) अथवा यूरोपीय भाषाओ मे प्रिपोजिशन (preposition) का प्रयोग वाक्य मे सज्ञा आदि का क्रिया से अथवा सज्ञा आदि रूपो मे परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिये होता है। इनका भी वाक्य मे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। अतएव इन्हें भी व्याकरण का एक पृथक् विभाजन मान लेना कुछ विद्वानो की दृष्टि मे समीचीन नही है। अग्रेजी तथा फ्रेंच आदि भाषाओ मे आर्टिकिल् (article) जैसे ए (a), ऐन् (an), द (the) (अग्रेजी), ल (le), ला (la) (फ्रेंच) की स्थिति भी ऐसी ही है। भारतीय भाषाओ मे प्रत्यय, उपसर्ग को कोई स्वतन्त्र शब्द-विभाजन के अन्तर्गत नही रखा जाता।

अन्त में शब्दों के व्याकरणिक विभाजन में केवल संज्ञा और क्रिया ये दो मुख्य भेद शेष रह जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत में सुबन्त् और तिङन्त् की विभक्तियाँ अलग-अलग होती हैं। किन्तु कई भाषाओं में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होता है। मलया-पोलीनेशी की भाषा जावानी में 'तुरु' (turu) शब्द 'शयन' (sleep) और 'सोना' (to sleep'), फीजी (Fizi) में 'मते' (mate) शब्द मृत्यु और मरना, समोई (Samoan) में 'ओफु' (ofu) शब्द वेश-भूषा और पहनना अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। चीनी भाषा में भी संज्ञा और क्रिया में अन्तर शब्द-क्रम और सुर-भेद से जाना जाता है। जैसे लओ लओ (lao lao) का अर्थ बुड्ढों की तरह व्यवहार करना, येओ येओ (yeo yeo) का अर्थ बालकों का बालकों के समान व्यवहार करना होता है। इसमें शब्द-क्रम की विशेषता है। एक शब्द संज्ञा है और दूसरा क्रिया। हओ (hao) शब्द का अर्थ एक सुर से उच्चारण होने पर 'अच्छा' और दूसरे उच्चारण से 'प्रेम करना' होता है। त्साङ् (tsang) शब्द का अर्थ एक सुर में 'कोष' और दूसरे सुर में 'छिपाना' होता है। अंग्रेजी में भी उच्चारण-भेद से एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया होता है। जैसे 'कन्डक्ट' का अर्थ 'आचरण' और 'आचरण करना' दोनों होता है। तुम गाना गाना, तुम खाना खाना (हिन्दी)। इन वाक्यों में गाना, खाना संज्ञा भी हैं और क्रिया भी। क्रियाओं से संज्ञाएँ और संज्ञा से क्रियाएँ बना ली जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। कभी-कभी संज्ञा में ही क्रिया का भाव निहित रहता है। यह विशेषता आर्य कुल की भाषाओं में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। संस्कृत में 'त्वं वरुण' (तुम वरुण हो), प्राचीन फारसी में 'मना पिता विस्तास्प' (मेरे पिता विस्तास्प हैं)। इनमें क्रिया-शब्द का बोध संज्ञा, सर्वनाम रूप से ही होता है। रूसी भाषा में ज़फट्रक् गॉटॉफ् (zavtrak gotov) का अर्थ है कलेवा (breakfast) तैयार है, डॉम नॉफ् (dom nov) अर्थात् घर नया है। इसमें क्रिया-शब्द का अभाव है। चीनी भाषा में 'त कुओक्' (ta kuok) अर्थात् बड़ा राज्य और शब्द-क्रम बदल देने पर कुओक् त् (kuok ta) का अर्थ है राज्य बड़ा है। इसमें क्रिया-पद का अभाव है। ऐसे उदाहरणों को संज्ञात्मक वाक्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

प्राचीन भाषाओं में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम से प्रभावित होकर, विशेषण-रूप में व्यवहृत होती है। पुरानी स्यामी में 'परे निचि' का अर्थ है वह गिर पड़ा। इसमें विशेषण से प्रभावित क्रिया-रूप की प्रधानता है। लौकिक संस्कृत में तिङन्त् रूपों के स्थान पर कृदन्त-रूपों

का व्यवहार अपनाया गया। वर्तमानकालिक कृदत (present participle) के लिये शतृ, शानच् तथा भूतकालिक कृदत (past participle) के लिये-क्त, क्तवत् तथा कुछ भिन्न प्रयोगो मे तुमुन् प्रत्ययो का प्रयोग मिलता है। कृदन्त-रूप सज्ञा, विशेषण से प्रभावित रूप होते हैं। स गत॰ (वह गया), ते गता. (वे गये), सा गता (वह गई) आदि तिङन्त रूपो के स्थान पर कृदन्त-रूप इतने प्रचलित हुए कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ पालि, प्राकृत तथा आधुनिक कार्य भाषाओ मे मुख्य क्रिया प्राय कृदन्त-रूप मे ही व्यवहृत होने लगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सज्ञा और क्रिया मे कोई मौलिक भेद नही है। अतएव सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि शब्दो का व्याकरणिक विभाजन स्वाभाविक होते हुए भी तर्क तथा विज्ञान की कसौटी पर पूर्ण स्थिर नही जान पडता।

व्याकरणिक तत्त्व

भाषा का गठन व्याकरणिक तत्त्वो पर आधारित होता है। सस्कृत मे इसे 'प्रत्यय' का नाम दिया गया है। सस्कृत मे 'प्रकृति' से शब्द के अर्थ-तत्त्व का और 'प्रत्यय' से सबध-तत्त्व का बोध होता है। 'पद' अथवा 'वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय रूप मे सभव होता है। प्रकृति (fundamental element) से किसी वस्तु, भाव, विचार, स्थान, व्यक्ति आदि का सकेत मिलता है और प्रत्यय (modifying element) प्रकृति के विविध रूपो मे परस्पर सबध के भावो को प्रकट करता है। प्रकृति अथवा अर्थ तत्त्व (semanteme) का कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है, किन्तु उसका व्याकरणिक अर्थ वाक्य मे प्रयुक्त होने पर ही प्रकट होता है। शब्द-रूप मे आई हुई प्रकृति वाक्य मे व्यवहृत हो सके इसके लिए उसे सबध तत्त्व (morpheme) से मैत्री करनी पडती है। भाषाओ मे सबध तत्त्वो के रूप पृथक-पृथक होते हैं। सबध तत्त्व अपनी कभी स्वतत्र सत्ता रखते हुए अर्थ-तत्त्व की सहायता करता है और कभी अपनी सत्ता को अर्थ-तत्व मे घुस-मिला करके। वैयाकरणो ने सबध तत्त्व के स्वतत्र रूप को परसर्ग, सयोजक-अव्यय, प्रिपोजिशन (preposition) आदि और जब वह अर्थ-तत्त्व के साथ जुडता है तो उसे प्रत्यय, उपसर्ग, विभक्ति आदि नामो से दिया है।

यूरोपीय तथा अन्य भाषाओ मे ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनमे सबध-तत्त्व स्वतन्त्र शब्दाश के रूप मे व्यवहृत नही होता वरन् अर्थ-तत्व की ध्वनियो मे थोडा परिवर्तन कर देने से उसका योग हो जाता है। जैसे अग्रेजी मे मैन्

(man) और मेन् (men), फुट् (foot) और फीट् (feet), गूज़ (goose) और गीज़ (geese), माउस (mouse) और माइस (mice)। जर्मन भाषा मे वीर गबेन् (wir gaben) हमने दिया, वीर गेबेन् (wir geben) हम देते हैं। अरबी-हिमर (गदहा), हमीर (गधे) यथा किताब, कातिब आदि। हिन्दी मे कटना, 'काटना' चलना, चलाना, हैं, हैं, थी, थीं आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। इनमे व्याकरणिक रूप का परिवर्तन ध्वनि-विकास पर आधारित है। है। सबध-तत्व के इस रूप को कुछ भाषावैज्ञानिकों ने शून्य विभक्ति (zero inflection) अथवा मारफोफॉनेमिक् (morphophonemic) उदाहरण के अन्तर्गत रखा है।

व्याकरणिक भेद को सुर (tone) के द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। यूरोपीय, अफ्रीकी आदि भाषाओं मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। चीनी, जापानी भाषाओं का यह एक प्रमुख व्याकरणिक तत्व है। अफ्रीका की फुल भाषा मे 'मि वरत' का अर्थ है मैं मारूँगा या मारता हूँ, किन्तु अन्तिम स्वर का दीर्घ उच्चारण करने से अर्थ होगा मैं नहीं मारूँगा या नहीं मारता हूँ। सुर-भेद से निषेध का बोध होता है। भारोपीय भाषाओं की विभक्तियों मे सबोधन (vocative) का रूप सुर से प्रभावित है। चीनी मे त्सि, यु शब्दों के सुर-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। ये परसर्ग का काम करते हैं और अन्य सज्ञा या क्रिया-अर्थ को भी व्यक्त करते हैं।

सबध-तत्व का एक रूप 'शब्द-क्रम' है। वाक्य मे शब्दों के स्थान से ही उनका व्याकरणिक अर्थ प्रकट हो जाता है। चीनी, जापानी मे इसका व्यापक प्रयोग मिलता है। चीनी मे 'न्गोतनि' का अर्थ है मैं तुझे मारता हूँ और 'नितन्गो' का अर्थ है तू मुझे मारता है, 'जिनत' बडा आदमी और 'जिनत'-आदमी बडा है। भारतीय भाषाओं मे भी ऐसे समास-शब्द मिलते हैं जैसे राजकवि और कविराज, ऋषिराज और राजर्षि। वाक्य मे कर्ता, कर्म आदि का बोध बिना परसर्ग लगाये हुए उनके स्थान से ही व्यक्त हो जाता है।

पहले स्वतत्र शब्दों के रूप मे प्रयुक्त सबध तत्त्व का उल्लेख हो चुका है। शब्दांश के रूप मे व्यवहृत सबध तत्व विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि होते हैं। प्राचीन भारोपीय भाषाओं मे शब्द के अत मे विभक्ति का योग होता था। संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं मे आज वैसे ही रूप मिलते हैं। पठ् (पढना) का पठामि, पठसि, पठति मे विभक्ति के योग से क्रमश उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष को व्यक्त किया गया है। कभी कभी उपसर्ग का भी प्रयोग होता है। जैसे भूत-काल मे 'अगमत्' शब्द के मध्य और अन्त मे प्रत्ययों का प्रयोग भी संस्कृत की

विशेषता है। यथा-प्रेरणार्थक रूप के लिये मध्य प्रत्यय रा० करोति से कार-यति, स्नाति से स्नापयति। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रत्ययों का प्रयोग बहुतायत से होता है। वचन-भेद, लिंग-भेद आदि के विविध रूपों में प्रत्ययों का प्रयोग बहुतायत से होता है। वचन-भेद, लिङ्ग-भेद आदि के विविध रूप प्रत्ययों के योग से ही संभव होते हैं। जैसे पुस्तक, पुस्तकें, लडका, लडकी, पढ़ेगा, पढ़ेगी। मध्य प्रत्यय का प्रयोग जैसे पढना, पढवाना (प्रेरणार्थक), मलाया-पोलीनेशी (आस्ट्री) भाषाओं में मध्य प्रत्यय-योग की मुख्य विशेषता मिलती हैं। जैसे मुडारी में मझि (मुखिया), मपझि, (मुखियो)। अफ्रीका की बाटू भाषा में उपसर्ग का प्रयोग मुख्य विशेषता है। जैसे काफिर भाषा में न्तु-मनुष्य, उमुन्तु-एक मनुष्य और अबन्तु-अनेक मनुष्य, कु-को (सम्प्रदान कारक), कुति-हमको, कुनि-उनको, कुजे-उसको। द्राविड तथा उराल-अल्ताई समुदाय की भाषाओं में शब्द के अन्त में प्रत्यय जोडकर व्याकरणिक रूप बनाने की मुख्य विशेषता मिलती है।

विभिन्न भाषा-समुदायों में ऊपर गिनाये हुए संबंध तत्त्वों में कोई एक ही प्रकार का संबंध तत्त्व प्रयुक्त होता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक ही समुदाय की भाषा में उपसर्ग और प्रत्यय अथवा प्रत्यय और विभक्ति दोनों के योग की विशेषता मिल सकती है। भाषाओं के गठन से स्पष्ट होता है कि उनमें अर्थ तत्त्व और संबंध तत्त्व का योग विभिन्न प्रकार से हुआ है। कुछ भाषाओं में दोनों तत्त्व अपना अस्तित्व पृथक् रखते हैं, कुछ में संबंध तत्त्व के योग से अर्थ-तत्त्व में परिवर्तन हो जाता है और कुछ में इस प्रकार से योग होता है कि दोनों अंशों को पृथक करना केवल उस भाषा के विशेषज्ञों के द्वारा ही संभव होता है। अमेरिका की भाषाएँ तीसरे प्रकार की हैं। इसमें प्रकृति और प्रत्यय प्रश्लिष्ट रूप ले लेते हैं। भाषा के इसी गठन के आधार पर उसका वर्गीकरण विभिन्न समुदाय, समूह, शाखा, परिवार आदि रूपों में संभव हो सकता है। एक ही व्याकरणिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी सम्बन्ध तत्त्व के किसी एक प्रकार के कई रूपान्तर भी देखे जाते हैं। इन रूपान्तरों में जो बहुप्रच-लित होता है उसे प्रमुखता देकर उनके रूपान्तरों को हम उस प्रमुख रूप के एलोमार्फ (allomorph) कह सकते हैं। जैसे हिन्दी का स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय-ई बहुप्रचलित है, उसके अतिरिक्त-आइन-आ आदि भी हैं। अतएव आइन, आ आदि को स्त्रीलिङ्ग-ई प्रत्यय का एलोमार्फ (allomorph) कहेंगे।

व्याकरणिक धाराएँ

भाषा में व्याकरणिक रूपों का विकास शनैः शनैः हुआ यह एक मान्य मत है। मनुष्य की विचार-धारा सदैव एक सी नहीं रहती। वह अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार मस्तिष्क के सहारे नये रूपों का विकास करता रहा है। संज्ञा का प्रयोग लिंग, वचन, कारक (विभक्ति) के अनुसार तथा क्रिया का प्रयोग लिंग, वचन, पुरुष, काल, वाच्य, अर्थ (moods) के अनुसार होता है। इसके समुचित विकास में काफी समय लगा होगा। इसका प्रारंभिक रूप ऐसा न रहा होगा, यह तो निश्चित है। भाषा में पदों के द्वारा व्यक्त इन व्याकरणिक धाराओं का प्रयोग प्रारंभ में नैसर्गिक ढंग से होता रहा होगा, वह अधिक तर्कसंगत तथा युक्तिसंगत होगा, किन्तु बाद में वह एक व्याकरणिक प्रयोग के रूप में स्थिर हो गया, ऐसा कहा जा सकता है।

लिङ्ग भेद

भाषा में लिङ्ग-भेद के अनुसार शब्दों का विभाजन सभी भाषाओं की विशेषता है। उन्नत भाषाओं में यह रूप अधिक विकसित है और अपेक्षाकृत कम उन्नत भाषाओं में यह उतना विकसित नहीं मिलता। सांसारिक अनुभव से ज्ञात होता है कि चेतन और अचेतन दो मुख्य भेद हैं। चेतन में भी पुरुष और स्त्री-दो मुख्य वर्ग हैं। इस आधार पर पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग-ये तीन भेद स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। किन्तु इनसे सदैव क्रमशः पुरुष, स्त्री और अचेतन पदार्थ का ही बोध होता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारोपीय भाषाओं-संस्कृत, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि में ऐसा कोई नैसर्गिक प्रयोग नहीं पाया जाता। संस्कृत में 'दारा', 'कलत्र' शब्द स्त्री के अर्थ में होते हुये क्रमशः पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में व्यवहृत हुए हैं। 'देवता' शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है किन्तु उससे पुरुष का बोध होता है। नपुंसक लिङ्ग में 'वारि' जल का पर्याय है। इसी प्रकार 'अप' शब्द अचेतन जल पदार्थ के लिये होते हुये स्त्रीलिङ्ग में मिलता है। कतिपय आधुनिक आर्य भाषाओं को छोड़ कर प्रायः सभी में सारे अचेतन पदार्थ पुंलिंग और स्त्रीलिङ्ग के अन्तर्गत रखे जाते हैं। नपुंसक लिङ्ग का लोप ही हो गया। अचेतन पदार्थ सम्बन्धी शब्दों को उनके गुण एवं व्याकरणिक रूप के आधार पर पुंलिङ्ग के अन्तर्गत रख दिया गया है। इस कारण भाषाओं में लिङ्ग-प्रयोग में समानता नहीं पाई जाती। एक ही शब्द एक भाषा में पुंलिङ्ग है और दूसरी भाषा में स्त्रीलिङ्ग। फ्रेंच में एक ही शब्द आर्टिकिल (article) के भेद से पुंलिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत होता है। जैसे ल लीव्र (le livre)

पुस्तक, ला लीव्र (la livre) पोंड। पहला पुलिङ्ग और दूसरा स्त्रीलिङ्ग है, ला ताब्ल (la table) मेज, ला शेज (la chaise) कुर्सी स्त्रीलिङ्ग हैं।

शब्दों के अन्त प्रत्यय के अनुसार भी लिङ्ग-निर्णय होता है जैसे प्रोफेट् (prophete—अं० prophet) पॉप, पोप (pape, pope) स्त्रीलिङ्ग है और प्रोफेस्यूर (professeur) पुलिंग है यद्यपि स्वाभाविक रूप से (prophet) और पोप (pope) भी पुलिङ्ग में होने चाहिए। स्त्री-प्रोफेसर के लिये फ्रेंच में 'ला फेम् प्रोफेस्यूर' (la femme professeur) होगा। इसमे स्त्री-वाची शब्द अलग से जोडा गया है। अंग्रेजी में भी पुरुषवाची और स्त्रीवाची सर्वनामो को जोड कर लिङ्ग-भेद किया जाता है। जैसे हि गोट् (he goat), शि गोट् (she goat), हि बफैलो (he buffalo,), शि बफैलो (she buffalo)। मुन्डा भाषा में इसी प्रकार शब्दो के योग से लिङ्ग-निर्णय किया जाता है। उदाहरण-आॅडिया कूल (बाघ) पु०, एगा कूल (बाघिन) स्त्री०। कभी-कभी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के सर्वनामो और सज्ञाओ मे पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग का निर्णय क्रिया मे लिङ्ग-भेद करके किया जाता है, जैसे वह पढता है, वह पढती है। क्रिया मे लिङ्ग-भेद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की मुख्य विशेषता है। कुछ वैयाकरणो ने शब्द के अन्त्य स्वर के अनुसार सस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि भारोपीय भाषाओ मे अकारान्त शब्द पुलिङ्ग, आकारान्त तथा ईकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग माना है। किन्तु इसमे अनेक अपवाद मिलते हैं। एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा मे प्रवेश करते हैं तो उनका लिङ्ग-विपर्यय भी हो जाता है। यह प्राय उस भाषा के समानार्थी शब्दो के लिङ्ग के अनुसार होता है अथवा कभी यह परिवर्तन स्वत होता है। उदाहरण के लिये 'किताब' शब्द हिन्दी 'पोथी' के अनुकरण पर स्त्रीलिङ्ग मे व्यवहृत होता है। इसी प्रकार सस्कृत के पवन, वायु, अग्नि, आत्मा शब्द हिन्दी मे स्त्रीलिङ्ग हो गये हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा मे लिङ्ग का नैसर्गिक प्रयोग न होकर एक व्याकरणिक उपकरण के रूप मे हुआ है। लिङ्ग-प्रयोग की इसी अस्थिरता के कारण कुछ विद्वान् इस पक्ष मे हैं कि उसके प्रयोग मे एकरूपता लाई जाय।

वचन-भेद

भाषा मे वचन का प्रयोग काफी व्यापक है किन्तु इसका विकास नैसर्गिक रूप मे नही पाया जाता। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था मे सम्भव है वचन का स्वाभाविक प्रयोग प्रचलित रही हो। एक सख्या के लिये एक वचन, दो

के लिये द्विवचन, तीन के लिये त्रिवचन अथवा कई के लिये बहुवचन का प्रयोग स्वाभाविक माना जा सकता है किन्तु बहुवचन कितनी संख्या के बाद अभिहित हो सकता है, यह निश्चित नही है। अतएव एक वचन और बहुवचन ही स्वाभाविक और युक्तिसंगत जान पडते हैं। भारोपीय प्राचीन भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग होता था और इस संबंध में लोगों का विचार है कि सदैव दो संख्या में ही विचारी या देखी जानेवाली वस्तुओं के लिये द्विवचन का नैसर्गिक प्रयोग शुरू हुआ। जैसे आँख, कान, हाथ, पैर आदि से सदैव दो की संख्या का ही बोध होता है लेकिन बाद मे द्विवचन का प्रयोग सभी रूपों के लिये व्यापक हो गया और यह एक व्याकरणिक उपकरण बन गया। दो से अधिक संख्या का बोध बहुवचन से होता था, किन्तु बाद मे द्विवचन का व्याकरणिक प्रयोग लोगों को अस्वाभाविक जान पडा और इसका प्रयोग समाप्त हो गया। भारतीय मध्यकालीन आर्य भाषाओं पालि, प्राकृत आदि मे केवल एक वचन और बहुवचन का ही प्रयोग मिलता है। आधुनिक सभी भारोपीय भाषाओं में भी केवल एक वचन और बहुवचन का प्रयोग मिलता है। यूरोप की लिथुएनी भाषा में द्विवचन के कुछ रूप अवशिष्ट मिलते हैं। लेकिन उसका भी शनैः शनैः लोप हो रहा है। द्विवचन का प्रयोग बहुवचन का ही एक विशेष प्रयोग माना जा सकता है और बाद मे अनावश्यक होने के कारण उसका लोप हो गया।

बहुवचन का रूप दिखाने के लिये अनेक व्याकरणिक उपकरणों का प्रयोग होता है। शब्द के अन्त मे कभी प्रत्यय, कभी शब्द के साथ कोई स्वतन्त्र समूहवाची शब्द, कभी उस शब्द की पुनरुक्ति से बहुवचन को प्रदर्शित किया जाता है। प्राचीन आर्य भाषाओं मे विभक्ति और आधुनिक आर्य भाषाओं मे प्रत्यय और विभक्ति द्वारा बहुवचन के रूप बनाये गये हैं। अंग्रेजी मे –s, es, –en, हिन्दी मे–ए, –ओं,–आ, –ई आदि के योग के बहु वचन के रूप बनते हैं। समूहवाची शब्द गण, अनेक, जन, वृन्द, समूह, सब आदि का योग भी होता है। जैसे बालक गण, मनुष्य लोग, अनेक बात, भक्तजन, मुनिवृन्द आदि। यथा तिब्बती-ब्रह्मी मे 'कई' के लिये मए (mae) शब्द जोड कर आ बमए (a bamae)–पिताओं, नहुअत्ल (अमरीका) में 'कई' के लिए मिक (mick) शब्द जोड कर मिक तेत्ल–पत्थरों, अफ्रीका की बुशमैन भाषा मे तु मुख, तुतु–अनेक मुख, जापानी मे कुनि–देश, कुनि गुनि –अनेक देश, मलयायी मे दूरि–कांटा, दूरि दूरि कांटें, सुमेरी से कुर्–पर्वत, कुर् कुर्–अनेक पर्वत आदि। अनेक भाषाओं मे समूहवाची शब्दों के योग से बने बहुवचन रूप को देखने से यह स्पष्ट होता है कि भाषा मे बहुवचन का विकास एकवचन के

वाद हुआ और एकवचन के रूपों में धीरे-धीरे विभक्ति, प्रत्यय आदि जोड़ कर बहुवचन रूप बनाने की प्रथा व्यापक हुई।

विभक्ति-प्रयोग

प्राचीन काल में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि में परस्पर संबन्ध को स्पष्ट करने के लिए भाषा में विभक्ति का प्रयोग किया गया। भाषाओं में विभक्ति के रूप विभिन्न प्रकार के मिलते हैं। प्राचीन आर्य भाषाओं में विभक्ति शब्द के अन्त में जुड़ती है और उसके योग से कभी कभी शब्द की प्रकृति में विकार हो जाता है। प्राचीन भारोपीय भाषाओं में आठ विभक्तियाँ थीं और आधुनिक आर्य भाषाओं में यही विभक्तियाँ आठ कारकों के रूप में मिलती हैं। अन्तर इतना है कि विभक्ति शब्द की प्रकृति का अंग होती थी और कारक-चिह्न (postposition) शब्द की प्रकृति के साथ अलग से जोड़े जाते हैं। यूरोपीय भाषाओं में ये कारक-चिह्न संज्ञा आदि शब्दों के पूर्व जुड़ते हैं और भारतीय आर्य भाषाओं में ये संज्ञा आदि के पश्चात् लगाये जाते हैं। विभक्ति अथवा कारक-चिह्न के द्वारा संज्ञा, सर्वनाम आदि का संबन्ध क्रिया के साथ व्यक्त किया जाता है। षष्ठी, एवं संबोधन विभक्तियों को इसीलिए संस्कृत में विभक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। षष्ठी से संज्ञा, सर्वनाम आदि शब्दों में परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होता है, क्रिया के साथ उनका सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो पाता। संबोधन से केवल आह्वानसूचक रूप का ही बोध होता है।

आधुनिक चीनी भाषाओं में विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता। इन्हें शून्य विभक्ति (zero inflection) का उदाहरण माना गया है। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि आदिम अवस्था में चीनी विभक्ति-प्रधान भाषा थी। कालान्तर में यह पूर्ण अयोगात्मक हो गई। पुरानी चीनी में कर्ता-रूप में न्गुओ-मैं, न्जीवो-तुम, कर्म में ना गुझको न्जिअ-तुमको के प्रयोग मिलते हैं, किन्तु आधुनिक चीनी में सुर-भेद से इन सम्बन्धों को प्रकट किया जाता है। विभक्तियों की संख्या भाषा और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न मिलती है। काकेशी में २३ विभक्तियों का उल्लेख किया गया है। पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारोपीय भाषाओं में सात विभक्तियाँ थीं। संस्कृत तथा यूरोपीय-ग्रीक, लिथुएनी में सात, हित्ती, स्लावी में छ, ट्यूटानी, लेटिन में पाँच, अल्बानी में चार, आर्मीनी, प्राचीन आयरी में तीन विभक्तियों के प्रयोग मिलते हैं। शनैः शनैः, ध्वनि-परिवर्तन आदि कारणों से विभक्तियुक्त शब्दों में एकरूपता आ गई। विभक्ति-रूपों की इस एकरूपता के कारण एक ही विभक्ति कई विभक्तियों

के लिये समान रूप से प्रयुक्त होने लगी। प्राचीन काल से ही सातो विभक्तियों के प्रयोग विविध रूपों के लिये सपूर्णतया भिन्न नही थे। कई रूपो मे समानता थी। उदाहरण के लिये सस्कृत के पुलिग एक वचन मे पचमी, पष्ठी, द्विवचन मे तृतीया, चतुर्थी, पचमी, वहुवचन मे तृतीया-चतुर्थी आदि, नपुसक लिङ्ग के तीनो वचनो मे प्रथमा, द्वितीया के रूप समान पाये जाते हैं। आगे चलकर विभक्तियो की यह समानता और व्यापक हुई। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-पालि, प्राकृत के पुलिङ्ग रूप के दोनो वचनो मे चतुर्थी, पष्ठी, तृतीया, पचमी तथा स्त्रीलिङ्ग के एक वचन मे तृतीया से सप्तमी तक के एक रूप मिलते हैं। पहले कहा जा चुका है कि काल तर मे द्विवचन का लोप हो गया। अतएव द्विवचन के सभी रूप वहुवचन के समान ही व्यवहृत होने लगे।

इस प्रकार विभक्तियो का सर्वथा ह्रास सा हो गया और आधुनिक आर्य भाषाओ मे केवल दो विभक्तियो के रूप अवशिष्ट रह गये। एक था, मूल रूप और दूसरा विकारी रूप। फ्रेंच, अग्रेजी, हिन्दी आदि मे ये दो रूप ही पाये जाते हैं। हिन्दी मे पुत्र-पुत्त शब्द के पूत और पूतो दो अवशिष्ट विभक्ति-रूप हैं। विभक्ति-चिह्नो के घिस जाने के कारण परसर्गो का प्रयोग इन रूपो के साथ होना प्रारम्भ हुआ। इन परसर्गो से ही विभक्ति अथवा कारक के अलग-अलग रूपो को प्रकट किया जाने लगा। कारक-चिह्नो को विकारी-रूप एक वचन और वहुवचन दोनो मे जोडकर सज्ञा का क्रिया के साथ अथवा परस्पर एक दूसरे मे सम्बन्ध प्रकट किया जाता है। मूल रूप एक वचन तथा वहुवचन मे कारक-चिह्न नही जुडते। कारक-चिह्नो को सपूर्ण शब्दो का अवशिष्ट रूप माना जाता है। ये शब्द वाक्य मे व्यावहारिक अर्थ के सम्यक् स्पष्टीकरण के लिये सहायक शब्द के रूप मे व्यवहृत होते थे और शनै शनै वे ही घिस कर को, ने, से, मे आदि रूपो मे मिलते हैं। कुछ विद्वानो ने विभक्तियो को भी ऐसे ही सहायक शब्द का अवशिष्ट रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु अभी तक यह पूर्णतया सिद्ध नही हो पाया है।

क्रिया-भेद

वाक्य मे क्रिया का प्रधान स्थान होता है। क्रिया के समुचित प्रयोग एव उसके द्वारा सूक्ष्मतम भावो का बोध कराने के लिये कुछ व्याकरणिक धाराओ को क्रिया से सम्बन्धित किया गया है। क्रिया का प्रयोग काल (tense), वाच्य (voice), अर्थ (mood), पुरुष (person), वचन (number), लिंग (gender) के अनुसार किया जाता है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था मे क्रिया

का प्रयोग इतने सूक्ष्म और विस्तृत रूप में संभव नहीं था। क्रिया से संबंधित इन व्याकरणिक विचारधाराओं का विकास धीरे धीरे हुआ। वाक्य में प्रयुक्त क्रिया से काल का भी बोध हो जाता है। किन्तु क्रिया से सदैव निर्दिष्ट काल का ही बोध होता हो, यह नहीं कहा जा सकता। क्रिया का गठन वर्तमान काल सम्बन्धी है परन्तु उससे भूतकाल अथवा भविष्यकाल का बोध होता है। कुछ भाषाओं में क्रिया से काल का बोध नहीं होता वरन् कार्य-व्यापार के ढंग का पता चलता है। जैसे कार्य पूरा हो गया या नहीं, कितना कार्य हुआ, कितना नहीं आदि। आर्येतर परिवारों की अरबी, हिब्रू भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरण यक्तुलु 'वह मारेगा' में भविष्य-काल का बोध नहीं होता वरन् मारने का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ तथा कतल 'उसने मारा' में भूतकाल का नहीं वरन् मारने का काम पूरा हो गया इस बात के संकेत किए गये हैं।

भारोपीय भाषाओं में क्रिया से संकेतित काल का कभी बोध होता है और कभी नहीं भी होता। क्रिया और काल में सदैव सामंजस्य नहीं मिलता। संस्कृत, प्राकृत में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें वर्तमान काल की क्रिया से भूत-काल का बोध होता है (सं० भूतार्थे लट्, अं० (historical present)। पुरानी कहानियों में संस्कृत क्रिया 'अस्ति' (है) से 'आसीत्' (था) का बोध होता है। हिन्दी में-मैं पास हो गया तो आगे पढ़ूंगा। यहाँ 'गया' शब्द का गठन भूतकाल में है किन्तु उससे भविष्य की बात का बोध होता है। अंग्रेजी में-आइ विश् आइ हैड् मनी (I wish I had money) में 'हैड्' शब्द का रूप भूतकाल का है, किन्तु यहाँ इससे वर्तमान का बोध होता है। वर्तमान काल ही निश्चित और असंदिग्ध है क्योंकि भूत और भविष्य तो दृष्टि से ओझल रहते हैं। भाषा में भविष्य काल का रूप वर्तमान के रूपों में प्रत्यय अथवा अलग से शब्द जोडकर बनाया जाता है। संस्कृत में वर्तमान काल पठति (पढता है) में—इष्य प्रत्यय जोडकर पठिष्यति (पढेगा), भविष्य रूप बनाया गया है। इसी प्रकार भविष्य के अन्य रूप भी वर्तमान पर आधारित हैं। हिन्दी में वर्तमान संभावनार्थ के रूपों में —गा, —गी, —गे, —गें प्रत्यय जोड कर भविष्य के रूप बनते हैं। जैसे पढेगा, पढेगी, पढोगे, पढेंगे आदि। अंग्रेजी में भी शैल् (shall), शुड् (should), विल् (will), वुड् (would) शब्दों को वर्तमान काल के रूपों में जोडकर भविष्य के रूप बनाये जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ भाषाओं में क्रिया से केवल कार्य-व्यापार के ढंग का बोध होता है। भारोपीय भाषाओं में क्रिया के काल और अर्थ (mood)

दोनों का भाव मिला रहता है। क्रिया से केवल कार्य की पूर्णता, अपूर्णता का ही बोध नहीं होता वरन् निश्चय, संदेह, सम्भावना, आज्ञा, संकेत आदि भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। 'वहाँ न जाना' में जाना क्रिया से भविष्य काल और आज्ञार्थ (imperative) दोनों का बोध होता है। वह पढ़ता है, उसने पढ़ा, वह पढ़ेगा में क्रिया से क्रमशः वर्तमान, भूत और भविष्य काल के साथ निश्चयार्थ (indicative) का बोध होता है। संस्कृत में कालों का विभाजन दस लकार लट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्—विधि, आशी., लृङ्, लुङ्, लिट्, लृट् के रूप में हुआ है किन्तु इनसे केवल विशुद्ध काल का ही बोध नहीं होता। क्रिया-व्यापार के घटित होने के ढंग, भाव अथवा अर्थ भी इसमें निहित हैं। केवल संस्कृत एवं हिन्दी में ही अर्थ (mood) और काल (tense) का सामंजस्य नहीं मिलता वरन् भारोपीय भाषाओं की यह एक सामान्य विशेषता कही जा सकती है।

संयुक्त क्रिया (compound verb) का विकास आधुनिक भाषाओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रायः भाषा में कृदंत (participles) और सहायक क्रिया (auxiliary verbs) के योग से इनका विकास होता है। संयुक्त क्रिया से कुछ विशेष भावों का भी बोध होता है। विशेष विशेष भावों के लिये कुछ शब्द रूढ़ हो गये हैं और संयुक्त क्रिया के रूप में उन शब्दों के योग से उन भावों का बोध कराया जाता है। उदाहरण के लिये काम होने लगा में 'लगा' शब्द से आरंभ-द्योतक भाव, करना पड़ता है—में 'पड़ता' से विवशता का भाव, चला नहीं जाता—में 'जाता' से असमर्थता का भाव, गिन रहा हूँ—में 'रहा' से निरन्तरता का भाव, पढ़ने दो—में 'दो' से अनुमति का भाव, जाना चाहता है—में 'चाहता' में इच्छा का भाव, वह कर बैठा—में 'बैठा' से तात्कालिक भाव, पढ़ चुका—में 'चुका' से समाप्ति के भाव का बोध होता है। इनमें जाता, रहा, दो, बैठा आदि शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं। संयुक्त क्रिया के मूल में यही भावना मुख्य है। दो क्रियाओं के योग से इनका विकास होता है। किन्तु इनसे एक ही क्रिया-भाव का बोध होना चाहिए। संयुक्त क्रिया में दोनों क्रियाओं के पृथक अर्थ यदि सुरक्षित रहेंगे तो फिर उन्हें संयुक्त क्रिया की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह कहा जा सकता है कि संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में क्रिया के तिङन्त रूप का प्रयोग जब कम हो गया और कृदन्तों का व्यवहार अधिक होने लगा तो क्रिया द्वारा व्यक्त भाव में अस्पष्टता आ गई और इसलिये क्रिया के भाव को और अधिक स्पष्ट बनाने के लिये संयुक्त क्रिया का विधान किया गया। इस प्रकार आधुनिक आर्य

भाषाओं में संयुक्त क्रिया के विकास को एक नई व्याकरणिक धारा के रूप में माना जा सकता है।

वाच्य-भेद

क्रिया के रूपों का विकास वाच्य (voice) के भेद पर भी आधारित है। कार्य-व्यापार किसके द्वारा, किसके लिये एवं किसलिये घटित होता है इसे वाच्य के द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्राचीन भारोपीय भाषा में केवल कर्तृ-वाच्य और भाववाच्य थे। कर्मवाच्य का विकास बाद में किया गया। कर्तृ-वाच्य में कर्ता, कर्मवाच्य में कर्म और भाववाच्य में क्रिया की प्रधानता रहती है। यथा मैं चलता हूँ कर्तृवाच्य, तुम मुझको पढाते हो कर्मवाच्य, मुझसे चला नही जाता भाववाच्य। क्रिया के इसी आधार पर क्रमश. कर्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग मिलते हैं। कर्तरि में क्रिया कर्ता के अनुसार, कर्मणि में कर्म के अनुसार प्रयुक्त होती है। कर्ता, कर्म का जो लिङ्ग, वचन पुरुष होगा वही क्रिया का भी होगा। कर्तृवाच्य में क्रिया सकर्मक और अकर्मक, कर्म वाच्य में क्रिया केवल सकर्मक और भाववाच्य में केवल अकर्मक होती है।

प्रेरणात्मक रूप

क्रिया के द्वारा व्यक्त व्याकरणिक विचारधारा का एक अन्य ढंग प्रेरणार्थक रूपों (causals) का है। कार्य-व्यापार कर्ता के द्वारा स्वत. घटित होता है अथवा वह किसी दूसरे के द्वारा वैसा करने के लिये बाध्य किया जाता है ये दो अलग-अलग रूप हैं। भरोपीय भाषाओं के आरंभिक काल से प्रेरणार्थक रूप का प्रयोग मिलता है। संस्कृत में—अप अथवा-आपय प्रत्यय के योग से इसका रूप बनाया जाता है। यथा 'करोति' (करता है), 'कारयति' (करवाता है), 'ददाति' (देता है), 'दापयति' (दिलवाता है)। हिन्दी में —आ अथवा —वा के योग से प्रेरणार्थक रूप बनाये जाते हैं। उदाहरण चलना, चलाना, चलवाना, अंग्रेजी में कॉज (cause) अथवा मेक् (make) शब्दों के योग से प्रेरणार्थिक रूप बनते हैं। जैसे I make him to read, I made him to go आदि।

संस्कृत में क्रिया-धातुओं को दस गणों में बाँटा गया है। प्रत्येक गण की धातुओं को पद-रूप बनाने के लिये अन्त में विभक्ति के जुड़ने के अतिरिक्त कुछ विकरण-प्रत्यय भी जुड़ते हैं। विभिन्न धातुओं के विकास में विचार-धारा की कुछ भिन्नता अवश्य रही होगी अन्यथा-पृथक्-पृथक् रूपों में उनके विकास का कोई कारण नही था। संस्कृत में क्रिया का विकास परस्मै और आत्मने-दो पदों

मे मिलता है। कुछ धातुएँ परस्मै पद, कुछ आत्मने पद और कुछ उभय पद मे विकसित हुई। आत्मने मे क्रिया का फल कर्ता और परस्मै मे अन्य पर गिरता है। पदो का यह विभाजन व्याकरणिक भावो-धारा की स्पष्टता के लिये किया गया होगा। किन्तु बाद के लोगो को इनकी आवश्यकता नही जान पडी और शनै शनै इनका लोप हो गया।

वाक्य अथवा पद मे निषेध (negation) की भावना के लिये कई रूपो का प्रयोग मिलता है। स्वतन्त्र (प्रातिपदिक) शब्द, उपसर्ग आदि की सहायता से इसे प्रकट किया जाता है। अंग्रेजी मे नो (no), नॉट (not), हिन्दी मे न, नही आदि शब्दो को जोडकर अथवा उपसर्गो के योग से इस भावना को प्रकट किया जाता है। अंग्रेजी मे जैसे हैपी (happy), अनहैपी (unhappy), ह्यूमन (human), इनह्यूमन (inhuman), हिन्दी मे जैसे आवश्यकता, अनावश्यकता, हिन्दी, अहिन्दी। कभी कभी वाक्य का सुर-भेद से ही निषेध का बोध हो जाता है। जैसे क्या मैं जा रहा हूँ। भाव होगा कि मैं नही जा रहा हूँ। शब्दो के द्वित्व (reduplication) रूप के द्वारा भी पदो का विकास मिलता है। संस्कृत मे √दा देना का भूतकाल मे—ददु (दिया), वर्तमान मे देदीयते (देता है), बुबोध, चकार, जुहोति आदि पद इसी प्रकार निर्मित हुए हैं। शब्दो की पुनरावृत्ति से सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया—विशेषण, विस्मयादिबोधक आदि विशेष भावो को प्रदर्शित किया जाता है। शब्दो की आवृत्ति कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण होती है।

सज्ञा के अन्तर्गत जैसे रोम-रोम फडकना मे अतिशयता, फूल-फूल बिनना से एकजातीयता, बात-बात मे झगडा से भिन्नता, हाथो हाथ, रातो रात से निश्चयता, सर्वनाम के अन्तर्गत—जो जो आना चाहे, कौन कौन आये है से भिन्नता, कोई कोई ऐसा करते हैं से पृथकता, विशेषण के अन्तर्गत अनूठे अनूठे खेल से-भिन्नता, छोटे छोटे से-एकजातीयता, ऊँचे ऊँचे से-अतिशयता, एक एक गिरता है-से भिन्नता आदि, क्रिया के अन्तर्गत मारे-मारे फिरना-से अतिशयता, पढते-पढते सो जाना-से निरंतरता, चलूगा चलूगा-से हठ आदि, क्रिया-विशेषण के अन्तर्गत धीरे-धीरे, पास पास, पीछे पीछे-से अतिशयता आदि भावों का बोध होता है।

कभी-कभी एक शब्द के समानुप्रासिक रूप के योग से विशेष भाववाची शब्दों को बनाया जाता है। इनमे दोनो शब्द कभी सार्थक और कभी निरर्थक होते हैं। यथा-सार्थक शब्दो के योग से सज्ञा के अन्तर्गत बाल-बच्चे, दाल-रोटी, काम-काज आदि, विशेषण के अन्तर्गत लूला-लगडा, ऐसा वैसा, भरा पूरा, क्रिया

के अन्तर्गत बोलना-चालना-समझना, बूझना, लेना-देना आदि, अव्यय के अन्तर्गत जैसे इधर उधर, जहाँ तहाँ, आर पार, जैसे तैसे आदि। पुनरुक्त शब्दों में कभी एक शब्द सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है। यथा-संज्ञा के अन्तर्गत टाल-मटोल, पूछताछ, झाड-झखार, बातचीत, भीडभाड, चालढाल आदि, विशेषण के अन्तर्गत टेढा मेढा, भोला भाला, ठीक ठीक, उलटा पुलटा आदि, क्रिया के अन्तर्गत धोना-धाना, देखना-भालना, खीचना-खाचना आदि, अव्यय के अन्तर्गत आस पास, आमने सामने, औने पौने आदि मे सार्थक शब्द द्वारा व्यक्त भाव की अतिशयता का बोध होता है। कभी-कभी दो निरर्थक शब्दो के योग से विशेष विशेष भावो की अभिव्यक्ति होती है। जैसे अटर सटर, अगड-बगड, टीम टाम, सटर-पटर, अनाप-शनाप, हट्टा-कट्टा, टाय-टाय फिस, अडबड, लबड-घोंघो आदि ऐसे ही पुनरुक्त शब्द हैं।

ऊपर जैसा लिङ्ग, विभक्ति, कारक, वचन, पुरुष, काल, वाच्य, द्वित्व आदि व्याकरणिक धाराओ का उल्लेख किया गया उनसे स्पष्ट है कि ये सभी धाराएँ पूर्णतया तर्कसगत नही है। लिङ्ग, वचन, काल आदि नैसर्गिक रूपो को ही केवल व्यक्त नही करते। अचेतन पदार्थों के लिये पुलिंग अथवा स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग, दो, तीन तथा अपरिमित सख्याओ के लिये बहुवचन का प्रयोग, एक ही क्रिया के द्वारा सभी कालो तथा एक काल की क्रिया से दूसरे काल का बोध आदि तथ्य तर्कसगत नही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाषा की आदिम अवस्था मे समव है, इनसे नैसर्गिक रूपो का प्रयोग होता है किन्तु इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। व्याकरणिक रूपो के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि पुराने रूपो मे कही तो समानता है और कही भिन्नता तथा कालान्तर मे इन्ही मे से कई रूपो का लोप हो गया है एव कई नये रूपो का उद्भव हो गया है। कुछ विद्वानो ने पुराने समान रूपो का लोप और नये रूपो के विकास के मूल मे प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति स्वीकार की है। ध्वनियो के परिवर्तन के प्रसग मे इस प्रवृत्ति का पहले उल्लेख किया जा चुका है। पद-विकास मे इस प्रवृत्ति का योग दूसरे रूप मे होता है। ध्वनि-परिवर्तन के कारण, पद की विभक्ति आदि के लोप के फलस्वरूप अनेक पद-रूपो मे समानता आ गई और इस प्रकार वही समान रूप अन्य रूपो के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। उदाहरण के लिये सस्कृत मे 'पुत्र' का प्रथमा बहुवचन मे 'पुत्रा' और द्वितीया बहुवचन मे 'पुत्रान्' था। प्राकृत मे ध्वनि-परिवर्तन के कारण पुत्रा 7 पुत्ता और पुत्रान् 7 पुत्ता हो गया। इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया बहुवचन के रूप एक हो गये।

संस्कृत के अनेक सुबन्त और तिङन्त् रूपों में समानता थी। एक ही विभक्ति का रूप अन्य विभक्तियों में भी प्रयुक्त होता था। जैसे एकवचन में पंचमी, षष्ठी, द्विवचन, में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तथा बहुवचन में चतुर्थी, पंचमी के प्राय एक ही रूप व्यवहृत होते थे। किन्तु कुछ समानता के अतिरिक्त संस्कृत के सुबन्त् और तिङन्त् रूपों में काफी विविधता और जटिलता थी। इनका परिहार सादृश्य (analogy) के द्वारा किया गया। द्विवचन के सम्बन्ध रूपों का बहुवचन में प्रयोग इसी के अन्तर्गत कहा जा सकता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं—पालि, प्राकृत आदि में द्विवचन का लोप हो गया इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। संस्कृत में स्वरान्त और व्यंजनान्त संज्ञादि के रूपों में विभक्ति-चिह्नों की भिन्नता थी किन्तु पालि, प्राकृत में इस भिन्नता में कमी मिलती है। जैसे अकारान्त में षष्ठी एक० में-स्य विभक्ति-चिह्न का प्रयोग होता था, अन्य स्वरान्त रूपों में ऐसा नहीं था, किन्तु प्राकृत में अकारान्त की यह विभक्ति अन्य स्वरान्त रूपों के लिए भी प्रयुक्त होने लगी। जैसे संस्कृत की षष्ठी एक० में कवि, अग्नि, भिक्षु का कवे:, अग्ने, भिक्षो था, किन्तु प्राकृत में कविस्स, अग्गिस्स, भिक्खुस्स रूप मिलते हैं। प्राकृत षष्ठी एक० और बहु० का रूप चतुर्थी के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार तृतीया एक वचन की विभक्ति-आ के योग का हस्तिन्-हस्तिना रूप हुआ और अन्य रूप कवि, मति, पति, मुनि, भिक्षु, भानु आदि में इसके योग से कव्या, मत्या, पत्या, भिक्ष्वा भान्वा आदि न बनकर पालि में कविना, मुनिना, पतिना, भानुना, भिक्खूना आदि रूप मिलते हैं। प्राकृत में भी कुछ ध्वनि-परिवर्तन के साथ ये ही रूप पाये जाते हैं। संस्कृत सर्वनाम की सप्तमी एक वचन की विभक्ति-स्मिन् पालि, प्राकृत के संज्ञादि रूपों की सप्तमी एक वचन में थोड़े ध्वनि-परिवर्तन के साथ मिलती है। जैसे स्मिन् 7—म्हि, —स्सि। बुद्धे, मुनौ, भिक्षौ 7 बुद्धम्हि, मुनिम्हि, भिक्खुम्हि रूप पाये जाते हैं। सादृश्य का यह प्रभाव तिङन्त (क्रिया) रूपों में भी मिलता है।

संस्कृत में भूतकाल के लिये चार लकार और भविष्य के लिये दो लकार थे। किन्तु पालि, प्राकृत में प्रत्येक के लिये एक ही लकार की व्यापकता मिलती है। विधिलिङ्ग, आशीर्लिङ्ग और आज्ञा के अलग-अलग रूप थे, किन्तु प्राकृत में विधि और आशी: का एक रूप हो गया और हिन्दी आदि भाषाओं में इन तीनों को एक ही रूप से दिखाया जाता है। प्राकृत में आत्मनेपद का प्राय: लोप हो गया और इसके वे रूप परस्मैपद में व्यवहृत होने लगे। व्याकरणिक रूपों की विविधता में एकरूपता लाने के लिये मानव-मस्तिष्क जितना प्रयत्नशील

रहता है, उतना ही रूपो की कमी से अर्थ-बोध मे अस्पष्टता होने पर नये-नये रूपो को बनाने के लिये भी वह जागरूक रहा है।

कारक-रचना

सज्ञा, सर्वनाम आदि विभक्तियो मे विभक्तियो के एकीकरण हो जाने, पर प्रत्येक विभक्ति के रूप को समझने मे कठिनाई होने लगी। रूपो के स्पष्टीकरण के लिये सहायक शब्दो का प्रयोग सज्ञा आदि रूपो के साथ होने लगा। जैसे सप्तमी एक० मे 'गृहे' के अतिरिक्त 'गृहमध्ये' का प्रयोग भी होने लगा। पहले उल्लेख हो चुका है कि आधुनिक आर्य भाषाओ मे विभक्तियो के केवल मूल और विकारी दो ही रूप अवशिष्ट मिलते हैं। अतएव सहायक शब्दो के सदृश ही अलग-अलग विभक्तियो मे कारक-चिह्नो अथवा परसर्गों का विकास आधुनिक भाषाओ की मुख्य विशेषता है।

सस्कृत की भाँति ही प्राचीन यूरोपीय भाषाओ-ग्रीक, लेटिन, स्लावी, गॉथी आदि मे विभक्तियो का प्रयोग होता था और कालान्तर मे जब इनका ह्रास हो गया तो आधुनिक भारतीय भाषाओ के परसर्गों के सदृश ही आधुनिक यूरोपीय भाषाओ, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि मे प्रिपोजीशन का व्यवहार किया जाता है। परसर्ग और प्रिपोजीशन मे केवल इतना ही अन्तर है कि पहला सज्ञा आदि के अनन्तर रखा जाता है और प्रिपोजीशन सज्ञा आदि के पूर्व प्रयुक्त होता है।

क्रियाओ मे विभक्तियो के लोप अथवा विकृत हो जाने के कारण रूपो मे सुस्पष्टता स्थिर नही रह गई। अत तिङन्त रूपो के स्थान पर कृदन्त का प्रयोग अधिकाधिक किया जाने लगा। भूतकाल के कृदन्तरूप का ही प्राय व्यवहार किया जाता था। किन्तु कृदन्त अथवा सहायक क्रिया से कार्य-व्यापार का पूरा पूरा बोध नही हो पाता था। सूक्ष्म भावो की अभिव्यक्ति इससे सभव नही थी। अतएव सयुक्त क्रिया का शनै शनै विकास हुआ। सयुक्त-क्रिया के रूपो के विकास-चिन प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओ मे मिलते है। आधुनिक आर्य भाषाओ मे सयुक्त क्रिया का अत्युन्नत रूप दृष्टिगत होता है। सयुक्त क्रिया के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा विशेष विशेष भावो की अभिव्यक्ति होती है जिसे सोदाहरण बताया जा चुका है। इस प्रकार सादृश्य के कारण पुराने रूपो का ह्रास और अस्पष्टता के कारण नये नये रूपो का विकास पद-विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। डा० तारापोरवाला ने अंग्रेजी मे भूतकाल के रूप कुड् (could) का उद्भव सादृश्य के द्वारा स्पष्ट किया है। अंग्रेजी शैल

(shall) का भूतकाल में शुड् (should), विल् (will) का इसी प्रकार वुड् (would) नियमित है क्योंकि ल् (l) ध्वनि दोनों में है, किन्तु अंग्रेजी कैन (can) का भूतकाल में कुड् (could) अकारण है क्योंकि कैन (can) में ल् (l) ध्वनि नहीं है किन्तु कुड् (could) में यह वर्तमान है। अतः अंग्रेजी कुड् (could) का प्रयोग शुड् (should) और वुड् (would) के सादृश्य पर प्रचलित हो गया।

बच्चों में सादृश्य के द्वारा क्रिया-रूपों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अंग्रेजी में ईट् (eat), हाइड् (hide) का भूतकाल में एट् (ate) और हिड् (hid) होता है। इसी के सादृश्य पर बच्चों में बीट् (beat) और राइड् (ride) का क्रमश बेट् (bate) और रिड् (rid) मिलता है यद्यपि व्याकरणसम्मत प्रयोग वेट् और रोड् (rode) है। इसी प्रकार बहुवचन में प्राय -s अथवा-es का योग होता है, लेकिन कई ऐसे रूप भी है जिनमे बहुवचन के लिये इनका योग नहीं होता, किन्तु सादृश्य से उन रूपों में भी-s अथवा-es का योग करके बच्चो द्वारा नये रूप बना लिये जाते हैं। जैसे गूज (goose) का गूजेज् (gooses), टूथ (tooth) का टूथ्स् (tooths) नाइफ (knife) का नाइफ्स् (knifes), चीफ (chief) का चीव्ज (chi-eves) यद्यपि इनके शुद्ध रूप क्रमश गीज (geese), टीथ् (teeth), नाइव्ज (knives) चीफ्स् (chiefs) हैं। थीफ (thief) का बहुवचन थीव्ज (thieves) होता है और इसी के अनुकरण पर चीफ् (chief) का बहुवचन चीव्ज (chieves) कर लिया गया। गुणवाचक विशेषण की उत्तमावस्था (superlative-degree) के लिये अंग्रेजी में-est का योग होता है और इसका प्रयोग ऐसे शब्दों में भी कर लिया जाता है जो उत्तमावस्था में एक जैसे ही रहते है। जैसे गुडेस्ट (goodest), बैडेस्ट् (baddest), लिटिलेस्ट् (Littlest) यद्यपि गुड् (good), बैड् (bad), लिटिल् (little) के रूप उत्तमावस्था में भी ये ही रहेंगे। क्रिया में भी सादृश्य के द्वारा बने रूप बच्चो में पाये जाते हैं। भूतकाल का रूप अंग्रेजी की क्रिया में प्राय -ed जोडकर बनाया जाता है। इसका योग ऐसे शब्दों में भी करके नया रूप बना लिया जाता है जिनका अपना व्याकरणसम्मत रूप भिन्न है। जैसे कैच् (catch) का कैच्ड् (catched), बाइ (buy) का बाइड (buyed), हैंग (hang) का हग्ड् (hunged), ड्रिंक (drink) का ड्रिंक्ड् (drinked) यद्यपि इनके शुद्ध रूप क्रमशः कॉट् (cought), बॉट् (bought), हैंग् (hang), ड्रैंक (drank) होगे। सादृश्य के द्वारा ऐसे अनियमित रूपों का विकास न केवल बच्चों में ही वरन् उस

भाषा के कम शिक्षित व्यक्तियों में भी पाया जाता है और इनमें से कुछ रूप अधिक व्यापक होने पर उस भाषा के नियमित रूप बन जाते हैं। हिन्दी मे भी इस प्रकार के अनेक रूप मिलते हैं। यथा-'किया' के स्थान पर 'करा' क्रिया का प्रयोग चल पड़ा है। ग्रामीण बोली मे 'हुआ' के लिए 'भवा' का प्रयोग व्यापक मिलता है।

रूप-परिवर्तन की विभिन्न दिशाएँ एवं कारण

भाषा के रूपों मे ध्वनियों का परिवर्तन होने से अर्थ मे अन्तर आ जाता है परन्तु रूप मे परिवर्तन होने पर अर्थ-परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है। इसी कारण भाषाओं मे एक शब्द के अनेक रूप प्राप्त होते है अर्थात् एक ही समान संरचना वाले शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन प्राप्त होता है जिसमे ध्वनि परिवर्तन होते ही अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। जैसे–

आ	अ+आ
जा	ज+आ
खा	ख+आ
ला	ल+आ

उपरोक्त शब्दों मे केवल व्यंजन परिवर्तित होते हैं एवं एक ही स्वर 'आ' अनेक शब्दों की रचना करता है। कतिपय शब्द ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमे कुछ ध्वनियाँ समान रहती हैं, कुछ ध्वनियाँ परिवर्तित होती रहती हैं। जैसे—चल, चाल, टल, टाल।

इन शब्दों मे अर्थ-परिवर्तन के साथ ही शब्द-वर्ग की कोटि बदल गई है जिनमे एक शब्द क्रिया है तो दूसरा संज्ञा-वर्ग मे आ जाता है। अरबी भाषा मे 'क त ब' ध्वनियों से किताब, कातिब, कुतुब आदि अनेक शब्दों की रचना होती है। इसी प्रकार हिन्दी मे भी 'क ल म' ध्वनियों से कलम, कमल आदि शब्द बनते हैं। उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-परिवर्तन से या ध्वनि-व्यवस्था परिवर्तित हो जाने से शब्द के रूप परिवर्तित हो जाते है। रूप-परिवर्तन की दिशाए इससे भिन्न होती हैं, क्योंकि उसमे शब्दों के रूप मे परिवर्तन आ जाता है परन्तु अर्थ मे नहीं। एक ही शब्द के अनेक रूप प्राप्त होते है। जैसे लडका, लरिका, लरिकन, लडकवा आदि। इन शब्दों से एक ही अर्थ का बोध होता है परन्तु 'लडका' और 'लरिकन' शब्दों के रूप पर्याप्त भिन्न प्रतीत होते हैं। रूप-परिवर्तन की दिशा में दो विशेषताए दृष्टिगोचर होती हैं समानता एवं विषमता।

प्रयत्न-लाघव के कारण बहुत से शब्दों के रूप बहु-प्रचलित अन्य शब्दों

के आधार पर परिवर्तित हो जाते हैं। यह रूप-परिवर्तन सादृश्य के आधार पर होता है। एक ही प्रकार के अनेक शब्द पृथक्-पृथक् रचना वाले होने पर मस्तिष्क मे प्रयत्नलाघव के कारण उनकी समानता की वात उठती है, जिससे एक ही प्रकार के अनेक शब्द समान रूप मे प्रयुक्त होकर सुगम हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेजी भाषा मे जहाँ, 'गुड, वेटर, वैस्ट', 'गो, वेंट, गॉन' जैसे असमान रूप प्राप्त होते हैं। इन रूपो मे शब्दो की ध्वनियाँ इतनी परिवर्तित हो जाती हैं जिन्हे देख कर यह नही समझा जा सकता कि ये शब्द एक ही प्रकार के अर्थ का बोध कराते हैं। इसके विपरीत दूसरी शृंखला ऐसे शब्दो की प्राप्त होती है जो समान ध्वन्यात्मक संदर्भ मे ही प्रयोग मे आते हैं। जैसे सिंग (sing), सैंग, (sang) संग, (sung) अथवा शब्द के अन्त मे-एड (ed) लगाकर भूतकाल के क्रिया-रूपो का बोध। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दो मे समानता लाने की प्रवृत्ति परिवर्तन का परिणाम होता है और सादृश्य के आधार पर प्रयत्नलाघव की भावना के कारण समानता की दिशा मे शब्दो के रूप परिवर्तित होते हैं। कभी कभी इस प्रकार के रूपो मे व्याकरणिक दृष्टि से अशुद्धियां भी आ जाती हैं। जैसे सौन्दर्य, औदार्य के स्थान पर सौन्दर्यता एव औदार्यता जैसे शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी भाषा मे प्राप्त होता है। इस प्रकार की शब्द समानता के उदाहरण संस्कृत से प्राकृत में आ गए हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत पुत्रस्य7 पुत्तस्स, सर्वस्य 7 सव्वस्स रूप प्राकृत मे आये थे। इन्ही के आधार पर संस्कृत के अग्ने एव वायो रूप भिन्न होते हुए भी प्राकृत मे क्रमश. अग्गिस्स एव वाउस्स रूप मे लिए गए हैं।

शब्दो के रूपो मे अन्य परिवर्तन नवीनीकरण के कारण प्राप्त होता है। समानता की दिशा मे तो असमान रूपो को भी समान रूप बनाने की प्रवृत्ति रहती है परन्तु नवीनता की दिशा मे समानता से असमानता की ओर रूप-परिवर्तन होता है अर्थात् अभिव्यक्ति की स्पष्टता प्रदान करने के लिए नए ढंग से शब्दो के रूप मे ढाल लिए जाते हैं। शब्दो के रूप मे समानता प्रयोग की दृष्टि से सुविधाजनक न लगने पर ही ध्वनियों मे परिवर्तन होता है। जैसे एकवचन एव बहुवचन के गइया एव लरिका, लरिका। समान रूप प्राप्त होने पर प्रयोग मे भ्रम की आशंका हो जाती है। अत. इनमे बहुवचन के रूपो में 'गइयन' एव 'लरिकन' शब्दो मे प्रयोग किया जाने लगा। हिन्दी के परसर्गों के प्रयोग मे आने का यही कारण था। सम्बन्ध तत्वो को स्पष्ट करने वाले तत्व विभक्ति आदि के रूप के लोप के कारण विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के लिए ही हिन्दी मे परसर्गो का प्रयोग होने लगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नवीनता एव भावों की स्पष्टतम अभिव्यक्ति के लिए भी रूप-परिवर्तन हो जाता है। पूर्वी हिन्दी की भाषाओ मे बहुवचन के लिए 'न' का प्रयोग ऊपर किया जा चुका है। हिन्दी मे 'मैं' शब्द के लिए 'हम' बहुवचन का प्रयोग होने लगा है एव 'हम' शब्द के स्थान पर 'हमलोग' रूप बहुवचन मे प्रयुक्त होने लगा है जो कि व्याकरण की दृष्टि से सगत नही जान पडता। बहुवचन में अशुद्धि के अन्य प्रयोग भी प्राप्त होते हैं जिनके पीछे अधिक बल देकर शब्द को प्रयुक्त करने की भावना जान पडती है। यथा 'अनेक' शब्द बहुवचन है किन्तु बहुवचन की 'ओ विभक्ति को अनेक मे सयुक्त कर 'अनेकों' शब्द का प्रयोग भी प्राय मिलता है। यह प्रयोग अशुद्ध है। कभी-कभी बलपूर्वक कोई बात कहने के लिए शब्द ऐसे भी प्रयोग मे आते हैं जिनका रूप परिवर्तन हो जाने से अर्थ विपरीत हो जाता है, परन्तु वह अपने पहले अर्थ मे ही प्रयोग मे आता है। यथा बेकार, बेवक्त जैसे शब्दो के सादृश्य पर 'बेफजूल' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार के प्रयोग प्राय अनपढ़ व्यक्तियो द्वारा होते हैं और धीरे धीरे प्रचलन मे आ जाते है। अत. अनपढ व्यक्तियो द्वारा सादृश्य या सरलता के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दो के भी रूप परिवर्तित हो जाते हैं। हिन्दी क्रियाओ मे 'करना' से 'करा' रूप शुद्ध होते हुए भी परिनिष्ठित भाषा मे 'किया' रूप मान्य है, यह केवल अज्ञानता के कारण ही प्रयोग मे आया। कभी-कभी सामान्य व्यक्ति भाषा को अधिक सुसस्कृत रूप मे प्रयोग करने के लिए ऐसे बना लेते हैं जिनमे शुद्ध शब्दो मे अतिरिक्त ध्वनियो का सयोजन हो जाता है अर्थात् एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए दो विभिन्न ध्वनियो को एक साथ सयुक्त कर दिया जाता है। जैसे 'कुटिल' शब्द से 'कुटिलाई' अथवा 'कुटिलता' दो रूप बनाये जा सकते हैं जो समान भावो की अभिव्यक्ति करते है। परन्तु इन दोनो रूपो का प्रयोग न करके 'कुटिलाई', 'सुधरताई' जैसे शब्दो का प्रयोग लोक-भाषाओ मे प्रचलित है। इसके अतिरिक्त कुछ रूपो की प्रधानता के कारण भी रूप-परिवर्तन हो जाते हैं। पश्चिमी हिन्दी के कुछ क्षेत्रो मे सम्बन्धकारक की प्रधानता के कारण, मुझे, मुझसे के स्थान पर 'मेरे को', 'मेरे से' आदि रूपो का प्रयोग प्राप्त होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समानता एव विभिन्नता के आधार पर अनेक रूपो मे परिवर्तन हो जाता है।

(ग) अर्थ-विज्ञान

सगीत की स्वरलहरी, सुन्दर चित्रो का लालित्य, वास्तुकला के उत्कृष्ट

रूप, प्राकृति का रम्य वातावरण सभी हमारे हृदय को भावविभोर कर देते हैं और वे मूक रूप से ही सब कुछ व्यक्त करते देखे जाते हैं। पत्र के अक्षर बिना बोले ही सब कुछ कह देते हैं और हम विचारमग्न हो जाते हैं। अपनी वाणी को सम्भवत. अशक्त समझकर हम किसी भाव पर अधिक या कम बल देने के लिये इंगितो का सहारा लेते हैं। ये इंगित हमारे अभीष्ट अर्थ को कितनी तत्परता के साथ श्रोता के मस्तिष्क मे बैठा देते है, यह एक सहज अनुभव की बात है। इस प्रकार अर्थ की व्यापकता शब्द से भी अधिक है। सृष्टि की कोई ऐसी वस्तु नही है जो अर्थ से विलग हो। इसीलिए सम्भवत. शब्द-ब्रह्म से सृष्टि का विकास माना गया है। पशु, चर-अचर सभी एक दूसरे से अर्थ के द्वारा ही बँधे हैं। प्रत्येक वस्तु अथवा प्राणी मे एक संकेत निहित है। वही संकेत रूप, रग, रस, ध्वनि आदि के द्वारा मुखर हो कर हमारे मस्तिष्क को उद्वेलित कर देता है और हम उनसे विशेष-विशेष भाव या अर्थ लगा लेते हैं। अर्थ की यह जाँच-पडताल यूरोप मे संकेत-विज्ञान, शब्दार्थ-विज्ञान आदि रूपो मे हुई है।

भारतवर्ष मे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर अनेक वैयाकरणो तथा दार्शनिकों ने विस्तार से विचार किया है। वे शब्द और अर्थ मे नित्य-सम्बन्ध मानते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतजलि आदि वैयाकरण शब्द और अर्थ की नित्यता से यही आशय लेते हैं कि शब्द और अर्थ का कभी सबंध-विच्छेद नहीं होता। अर्थ शब्द की स्वाभाविक विशेषता है। दोनो का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है। पतंजलि के 'सिद्धे शब्दार्थे सम्बन्धे' का भी यही आशय है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है। उनके इसी सम्बन्ध के कारण भावो,, वस्तुओं, पदार्थों की पृथकता का बोध होता है। कोई शब्द कब से विशेष अथवा सामान्य अर्थ मे प्रयुक्त हुआ, यह बताना कठिन है। कुछ भारतीय वैयाकरण इसे अनादि काल से आया मानते हैं किन्तु यह ठीक नही जान पडता। मनुष्य ने आवश्यकतानुसार विभिन्न अर्थों से सम्बन्धित नये-नये शब्दो का विकास शनै-शनैः किया होगा। शब्द और अर्थ का नियमन किसी दैवी सत्ता ने किया और मनुष्य से इसका कोई सम्बन्ध नही, यह कहना युक्तिसंगत नहीं। शब्द और अर्थ मे वाचक-वाच्य, कारण-कार्य का सम्बन्ध है। अत. यह कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

शब्द को कुछ वैयाकरण नित्य नही मानते। उनकी दृष्टि मे शब्द सदैव एक रूप मे वर्तमान नहीं रहता, बोलने पर ही प्रकट होता है और फिर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है। अत. जब शब्द ही नित्य नहीं है तो फिर शब्द और अर्थ

की नित्यता कैसे स्थिर रह सकती है? किन्तु ये तर्क शब्द की सार्थकता को नष्ट नही कर देते। शब्द शून्य मे अथवा मनुष्य के मस्तिष्क मे सदैव वर्तमान रहता है और ध्वनियो के द्वारा आवश्यकतानुसार वह प्रत्यक्ष हो जाता है। शब्दो के रूप या अर्थ मे विकास होने से इसके अस्तित्व मे कोई बाधा नही होती। शब्द मे ध्वनि-सम्बन्धी विकास आता रहता है। तज्जन्य उस पर जो अस्पष्टता का आरोप लोग कर लेते हैं, वह अर्थ सम्बन्धी ही है। शब्द का अर्थ कितना ही क्यो न बदल जाय लेकिन शब्द अर्थहीन कभी नही होता। अतएव शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता से यही आशय लेना चाहिए। रघुवश के प्रारम्भ मे कविसम्राट् कालिदास ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शिव और पार्वती की उपमा से प्रकट किया है। शिव और पार्वती के सबध के सदृश शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी अविच्छिन्न है —

वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

महामना तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ मे वर्ण-समूह और अर्थ मे इसी सम्बन्ध को व्यक्त किया है —

वर्णानामर्थसघाना रसाना छन्दसामपि।
मगलाना च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

शब्द और स्फोट

शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो रूप अथवा एक सिक्के के दोनों भागो के समान कहे जा सकते हैं। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो श्रोता वक्ता के अभिप्राय से तादात्म्य स्थापित कर कथित भाव को समझता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान का अविच्छिन्न सबध है। ज्ञान के द्वारा शब्द का अर्थ प्रकट होता है। पाश्चात्य भाषाविदो ने शब्द और अर्थ मे साकेतिक सबध माना है। उनकी दृष्टि मे प्रत्येक शब्द प्रतीकात्मक अर्थ को व्यक्त करता है। वक्ता इच्छित अर्थ के लिए अपने दृष्टिकोण के अनुसार शब्द का प्रयोग करता है। वस्तु आदि से सबधित जो विचार मस्तिष्क मे हैं उन्ही को व्यक्ति शब्दो से प्रकट करता है। इस प्रकार वस्तु और शब्द विचार से सबद्ध हैं। शब्द विचारो के प्रतीक है। किन्तु शब्द और अर्थ के सबध मे इससे

कोई विरोध नही होता। वाणी और विचार मे जो सबध है वही शब्द और अर्थ मे है। सस्कृत के आचार्यों ने शब्द को स्फोट का पर्याय माना है। स्फोट को शब्द और ध्वनि को शब्द का गुण माना गया है। ध्वनि के द्वारा स्फोट प्रकट होता है। शब्द से अर्थ प्रस्फुटित होता है इसलिये शब्द-तत्त्व स्फोट हुआ। स्फोट और ध्वनि मे कार्य-कारण सबध है। स्फोट के कारण ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अत ध्वनि और स्फोट परस्पर एक-दूसरे पर आधारित हैं। दोनो मे तादात्म्य रहता है। स्फोट ही ऐसी प्रतिमा और शक्ति है जो शब्द मे निहित अर्थ को प्रकाशित करती है। स्फोट आत्मा और ध्वनि शरीर है, स्फोट प्रतिमा है तो ध्वनि ज्ञान है, स्फोट परोक्ष और ध्वनि प्रत्यक्ष होती है।

शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, विकास, परिवर्तन आदि सबन्धी विवेचन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत अर्थविज्ञान (Semantics) के रूप मे किया गया है। पाश्चात्य विद्वानो ने अर्थ का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि वह अनिश्चित, विकारपूर्ण और अपूर्ण होता है। कभी-कभी अज्ञानता और दृष्टिभेद के कारण एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगा लिये जाते हैं। अर्थ की परिवर्तनशीलता और अनिश्चितता पर भारतीय आचार्यों और वैयाकरणो ने काफी विचार किया है। शब्द की अभिव्यक्ति किसी एक प्रयोजन के लिये होती है किन्तु उससे अन्य अर्थों का भी बोध कराया जाता है। अर्थ मे ऐसी शक्ति है जिससे वह विभिन्न अर्थों को व्यक्त कर सकता है। एक ही शब्द 'सुन्दर' के लिये अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रकट करेंगे। यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ अनिश्चित है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति एक शब्द का अपने दृष्टिकोण के अनुसार अर्थ करता । वक्ता जिस प्रकार अपने ढग से अर्थ का प्रयोग करता है, श्रोता उसे अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण करता है। अर्थ-ग्रहण मे वक्ता का जो आशय होता है उसे श्रोता दूसरे अर्थ मे ले सकता है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो ने इसी प्रकार अर्थ से सम्बधित अनेक विशेषताओ का उल्लेख किया है। अर्थ के लक्षणो का विवेचन पाश्चात्य विद्वान् ऑग्डेन व रिचार्डस् की पुस्तक 'मीनिंग आव् मीनिंग' मे विस्तारपूर्वक मिलता है। अर्थ को वस्तुओ के प्रतीक, वस्तुओ से प्रकट किये हुये मनाभावो, सकेत से सबद्ध पदार्थ, अनुभवो से सिद्ध वस्तु का क्रियात्मक परिणाम, वाच्य अथवा लक्ष्य रूप मे निहित विचारात्मक परिणाम, कोई सकल्प, तथ्य, भाव, बात आदि से सम्बन्धित किया गया है।

अर्थ-विकास के कारण

अर्थ-विकास के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वभावत: उठता है कि कि अर्थ का विकास क्यों और कैसे हुआ ? भारतीय वैयाकरणों ने इस तथ्य पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। ऋग्वेद् में उल्लेख मिलता है कि वाक्‌शक्ति का सर्वप्रथम प्रयोग वस्तुओं का नामकरण करने के लिये किया गया। सासारिक नाना प्रकार की वस्तुओं के लिये विभिन्न नामों का निर्धारण मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम है। विभिन्न नामों को कैसे रखा गया, इसकी विस्तृत विवेचना की गई है। नाम वस्तुओं के स्वरूप एव कार्य के अनुसार रखे जाते हैं। 'रुद्र' नाम का प्रयोग इसलिये हुआ कि वह रुलाता है। एक ही वस्तु के अनेक गुणों के कारण विविध नाम पड जाते हैं। प्रत्येक नाम से उसके अलग-अलग गुणों का बोध होता है। परमात्मा एक है किन्तु गुणों के कारण उसके अनेक नाम हो गये हैं। यास्काचार्य ने 'निरुक्त' (शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसग) में ऐसे ही कारणों का उल्लेख किया है। ऋषि विशेष का नाम 'विश्वामित्र' इसलिये पडा क्योंकि वे सभी के मित्र थे।

शब्दों के द्वारा नामों को व्यक्त करने में सब से कम प्रयत्न लगता है। इसलिये ससार का समस्त ज्ञान शब्दों के द्वारा ही प्रकट हुआ है। भारतीय वैयाकरण नामों को धातुज मानते हैं अर्थात् सब नाम किसी-न-किसी क्रिया से सम्बन्धित है। शब्दों में क्रियागुण की प्रधानता है। जैसे 'मनुष्य' शब्द का उद्‌भव 'मननशील प्राणी' होने के कारण हुआ। किन्तु कुछ वैयाकरणों ने आपत्ति की है कि यदि प्रत्येक नाम धातु पर आधारित है तो एक क्रिया से सम्बन्धित अनेक नाम होंगे और फिर भाव-बोध में बाधा होगी। जैसे छेदन करने वाली वस्तु को 'तृण' कहा गया किन्तु छेद करनेवाली अन्य वस्तुयें भी 'तृण' कही जायेंगी और एक वस्तु जितनी क्रियाओं से सम्बन्धित हैं उतने ही उसके नाम होने चाहिये। साथ ही क्रिया से पहले कर्ता की स्थिति होती है इसलिए क्रिया से कर्ता को उत्पन्न नही माना जा सकता, किन्तु लोक-व्यावहारिक रूप में एक ही क्रिया करने वाले के लिये एक ही नाम रखा हुआ नही मिलता। प्रत्येक घूमने वाले को 'परिव्राजक' नही कहते। किसी विशेष के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त होता है। अनेक क्रियाओं से सम्बन्धित होने पर भी एक विशेष क्रिया के आधार पर ही नाम पडता है। जैसे पृथु (व्यापक) होने के कारण पृथिवी नाम पडा। वस्तुओं का नाम क्रिया के अनुसार पहले व्यापक होते हैं, फिर एक अर्थ में रूढ हो जाते है और कर्ता आदि के नाम भी क्रिया-विशेष के आधार पर पडते हैं।

नामकरण के मूल मे भी लाघव की प्रवृत्ति प्रधान है। वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्यक् बोध होने के इसलिए उनके अलग-अलग नाम रख दिये जाते है। यह भी विशेप रूप से नाम का प्रथम प्रयोग करने वाले पर निर्भर करता है। वह अपने अभिप्राय के अनुसार ही नामकरण करता है और बाद मे वही नाम रूढ और सर्वप्रचलित हो जाता है। नाना प्रकार की अवस्थाओं, सम्बन्धो, गुणो के अनुसार नाम पडते हैं और इनमें से किसी एक अवस्था, सम्बन्ध तथा एक गुण की प्रधानता इसका कारण होती है। किसी स्थान विशेप का नाम 'बैसवाडा' इसीलिये पड गया कि वहाँ बैश्य ठाकुरो की प्रधानता थी किन्तु इससे यह आशय नही निकलता कि वहाँ बैश्य विशेप के अतिरिक्त अन्य जातियो के लोग रहते ही नही। अत नाम से निश्चित और पूर्ण अर्थ का बोध नहीं हो पाता। इस आधार पर यह कहा जाता है कि नाम भाव, वस्तु आदि के अश का बोध कराते हैं।

व्यक्तियो तथा जातियो के नाम जो पिता, माता, गोत्र, जन्मस्थान, राशि, क्रिया, गुण आदि पर रखे मिलते हैं उन्हें सार्थक नही माना जाता। प्रारम्भ मे वे सकेतित अर्थ को व्यक्त करते हैं, बाद मे वे अपने मूल आधार का केवल सकेतमात्र ही करते हैं। व्यक्तियो के नाम के साथ चतुर्वेदी, त्रिवेदी आदि नाम इस बात के द्योतक नही हैं कि उस व्यक्ति ने चार वेद या तीन वेद का पारायण ही किया है लेकिन सर्वप्रथम इसी विशेपता के कारण ये नाम रखे गए होगे। कभी कभी रचयिता के नाम से उसकी कृति का बोध होता है। जैसे क्या तुमने तुलसीदास, प्रसाद को पढा है? यहाँ तुलसीदास, प्रसाद से आशय उनकी रचनाओ से है। कभी सपूर्ण के लिये एक अश का प्रयोग प्रचलित हो जाता है। जैसे अग्रेजी बाइसिकिल के लिये केवल 'साइकिल' या 'बाइक' शब्द, गैसबत्ती के लिये केवल 'गैस', मोटरकार के लिये 'मोटर' या 'कार' शब्द के प्रयोग आदि।

प्रकरण अथवा साहचर्य के अनुसार अर्थ-विकास होता है। जैसे 'सैन्धव' शब्द नमक अथवा घोडा अर्थ मे प्रकरण के अनुसार अलग-अलग होगा। सुन्दर चित्र, सुन्दर युवती मे, 'सुन्दर' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न होगा। सादृश्य के अनुसार भी अर्थ का विकास होता है। 'पाद' शब्द प्रारम्भ मे पैर के लिए था, बाद मे पशु के पैर का चतुर्थांश होने के कारण चौथाई के लिए, फिर खाट के पाये के लिए इसका प्रयोग होने लगा। 'मधु' शब्द प्रारंभ मे सोमरस के लिए फिर बाद मे शहद, सुरा आदि के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। तिल और मसे (मच्छड) का प्रयोग शरीर के तिल और मसे के लिए भी होता है।

इसी सादृश्य के कारण आरी के दाँत, अनानास की आँखें, सुराही की गर्दन, पतंग की पूछ आदि का भी प्रयोग कर लिया गया है।

अशुभ, अमंगल तथा अश्लील भावनाओं के निराकरण के लिये भी नये नये शब्द विकसित कर लिये जाते हैं। मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसके लिये सिधार जाना, स्वर्गवास या कैलाशवास होना, पंच तत्त्व में मिलना, शरीर छोड़ना, प्राण पखेरू उड़ जाना, देहान्त आदि अनेक प्रकार की शब्दावली का विकास कर लिया गया है। बीमारी की सूचना ही अशुभ है। अत उर्दू में इसे-उनके दुश्मनों की तबियत नासाज है कहकर प्रकट किया जाता है। दूकान बंद करना अशुभ है इसलिये दूकान बढ़ाना, दिया बुझाना के लिये बढ़ाना, होली जलाने के लिये होली मंगलाना आदि कहा जाता है। वैधव्य का बोध चूड़ी फूटना, माँग मिटना आदि से कराया जाता है। लाश को मिट्टी, जली हड्डियों के अवशिष्ट को 'फूल' कहा जाता है। साँप के काटने को कीड़े का सूंघना, चेचक आदि को देवी की कृपा माना जाता है। भारतीय स्त्रियाँ इसी कारण अपने पति का नाम नहीं लेती। इसके लिये विशेष-विशेष शब्द प्रचलित हैं।

अश्लील बातों को भी घुमा-फिराकर कहने के कारण नई शब्दावली का विकास हो जाता है। गर्भावस्था को सूचित करने के लिये पाँव भारी होना प्रचलित है। सहवास, समागम, आलिंगन, चुंबन आदि को भिन्न भिन्न प्रकार के शब्दों से प्रकट किया जाता है। फारसी भाषा में पेशाब, पाखाना के मूलअर्थ क्रमश आगे का पानी और पैर रखने की जगह है किन्तु विशेष दैनिक क्रियाओं के लिये ये शब्द अब रूढ हो गये हैं। इनके लिये कई अन्य शब्द भी प्रयोग में आ गये हैं, जैसे लघुशंका, दीर्घशंका आदि। गाँवों में शौच के लिये खेत जाना, दिशा जाना, जंगल जाना, नगर में इसके लिये इंगलैंड जाना, पाकिस्तान जाना आदि शब्द भी प्रचलित हो गये हैं। इसी कारण पुरुष और स्त्री के जनेन्द्रियों के लिये देशी नामों का प्रयोग नहीं किया जाता। अशिष्ट समाज में ही इनका प्रयोग पाया जाता है। इसलिये स्त्रियों के आवरण अपेक्षित अंग विशेषों के लिए भी भिन्न भिन्न शब्द प्रत्युक्त किये जाते हैं।

विनम्रता का भाव प्रदर्शित करने के लिमे नई शब्दावली का विकास हो गया है। अन्धे को सूरदास, चमार को रैदास, दर्जी को खलीफा, अछूत को हरिजन, भंगी को मेहतर या जमादार, रसोई बनाने वाले को महाराज, ठाकुर आदि नामों से सबोधित किया जाता है। इसी नम्रता के कारण पुलिस सब-इंस्पेक्टर को डिपुटी साहब, मुंसिफ को जज साहब, डिपुटी कलक्टर को कलक्टर आदि भी

कह दिया जाता है। हरिजन, सूरदास आदि शब्द प्रारम्भ मे भले ही सम्मानित रहे हो किन्तु अब रूढ हो जाने पर वे अपनी विशेषता खो बैठे हैं। उर्दू मे नम्रतासूचक शब्दावली का अधिक प्रयोग किया जाता है। वक्ता श्रोता से उसका दौलतखाना (मकान) पूछता है और श्रोता उत्तर मे अपना गरीबखाना (मकान) अमुक स्थान मे बताता है। चाहे वक्ता का स्थान महल क्यो न हो और श्रोता को केवल एक झोपडी ही हो ? इसी प्रकार अपनी अच्छी बात 'अर्ज' करके कही जाती है और दूसरे की निकम्मी बात को भी 'फरमाने' के लिये कहा जाता है। इसी विनम्रता के कारण अपना लडका आपका लडका, अपना व्यवसाय आपका व्यवसाय हो जाता है। छोटे को भी 'आप' इसी कारण कहा जाता है और वह उसमे लड़कपन का अनुभव करता है। प्रत्येक बात मे 'हुकुम' बजा लाने वाले भी अपनी नम्रता का प्रदर्शन करते हैं। वक्ता पूछेगा—'आपका शुभ नाम क्या है ?' श्रोता का नाम चाहे निकृष्ट ही क्यो न हो !

आलकारिक ढग से किसी बात को कहने मे भी अर्थ-विकास होता है। मार खाना, भय खाना, मीठी बातें, कडवी बात, टेढी बात, सीधी बात, हलका आदमी, भारी आदमी, सीधा आदमी, टेढा आदमी आदि से अर्थ की विशेषता प्रकट होती है। निर्जीव पदार्थ सजीव बना दिये जाते हैं। वेदना का आहे भरना, चाद-सितारो का परस्पर बातें करना आदि ऐसी ही उक्तियाँ हैं। पहाड़ी स्थानो मे एक पत्ती होती है जिसके स्पर्श से बिच्छू काटने का सा दर्द होता है, इसलिए उसे 'बिच्छू' के नाम से कहते हैं। हुक्का पानी का खुलना और बन्द होना भी विशेष उक्ति का परिचायक है। एक ही शब्द उक्ति-वैचित्र्य के कारण कई अर्थों मे प्रयुक्त होता है। हाथ पसारना, हाथ जोडना, हाथ खीचना, हाथ मलना आदि मे 'हाथ' शब्द से विभिन्न अर्थ प्रकट होते हैं।

वक्ता कभी-कभी सीधी बात की अपेक्षा विपरीत बात से अपने अभिप्राय को प्रकट करता है। वह अपने को बडा अक्लमन्द समझता है, भला आपसे बढकर गरीब कौन हो सकता है ? यहाँ अक्लमन्द और गरीब का अर्थ क्रमशः 'मूर्ख' और 'धनी' से होगा। अज्ञानता और भूल के कारण भी कुछ शब्द प्रचलित हो जाते हैं। पुर्तगाली मे 'पाव' का अर्थ रोटी है किन्तु हम 'पावरोटी' का व्यवहार करते हैं। 'रोटी' शब्द का दो बार प्रयोग होने के कारण एक और शब्द इसके लिये 'डबल रोटी' पड गया। विन्ध्याचल पर्वत मे 'अचल' शब्द पर्वत के अर्थ मे है ही, पर्वत शब्द का दुबारा प्रयोग अनावश्यक है। कुछ लोग अन्तर्धान का अन्तर्ध्यान, शाप का श्राप रूप शुद्ध समझते हैं।

भावातिरेक के कारण भी शब्द का अर्थ-विकास हो जाता है। नालायक,

बेवकूफ, शैतान, गधा अशिष्ट शब्द भी प्यार मे कहे जाने पर अशिष्टता के भाव का बोध नही कराते। ये शब्द यदि क्रोध मे कहे जायँ तो अपने संकेतित अर्थ को प्रकट करेंगे। रूपक के द्वारा भी अर्थ की विशेषता प्रकट होती है। वह उल्लू है, वह बैल है, रणजीत सिंह को पंजाब का सिंह कहा जाता है, वह रट्टू तोता है मे उल्लू, बैल, सिंह, तोता का प्रयोग गुण-विशेष के अर्थ मे हुआ है।

शब्दो का अर्थ-विकास सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक कारणो से भी होता है। इन अवस्थाओ से प्रभावित हो कर नये-नये शब्दो का निर्माण होता है। भारतीय स्वतंत्रता के उपरान्त राष्ट्रभाषा हिन्दी मे सैकडो नये-नये पारिभाषिक शब्दो का निर्माण हुआ है और हो रहा है। इस प्रकार अर्थ-विकास कभी अदृष्ट रूप मे और कभी ऐच्छिक प्रयत्न के द्वारा होता है। नई पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण बाह्य प्रयत्न का परिणाम है।

देश-भेद, काल-भेद से भी शब्दो के नये-नये अर्थ विकसित होते हैं। 'असुर' शब्द संस्कृत मे 'राक्षस' के अर्थ मे और यही शब्द 'अहुर' अवेस्ता ग्रंथ मे पारसियो के उपास्यदेव अहुरमज्दाह के रूप मे 'देवता' के अर्थ मे है। 'देव' शब्द संस्कृत मे देवता के अर्थ मे है और ईरानी मे 'देव' राक्षसवाची है। असुर के संबध मे कुछ विद्वानो का कथन है कि पहले 'असुर' शब्द देवता के अर्थ मे था और बाद मे 'अ' को उपसर्ग मानकर 'सुर' देवता अर्थ मे और 'असुर' उसके विपरीत रूप का वाची हो गया। वाटिका शब्द संस्कृत, हिन्दी मे उपवन और बंगला भाषा मे उसका रूपान्तर 'बाडी' घर के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। गुजराती मे 'मीठु' का अर्थ नमक से लिया जाता है। संस्कृत मे अनेक शब्दो का मूल अर्थ आजकल की भाषाओ मे विकसित हो गया है। ऐसे शब्दो के उदाहरण अर्थ-विकास की धाराओ के अन्तर्गत आगे दिये गये हैं।

मुहावरे, लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि समूहवाची शब्दो के द्वारा भी अर्थ की व्यापकता प्रकट होती है। जैसे ठोक बजा लो, काला अक्षर भैंस बराबर, अक्ल बडी कि भैंस, आठ आँसू रोना आदि मुहावरो से विशेष प्रकार की अर्थ-व्यंजना होती है। कभी-कभी एक शब्द मे अनेक अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता होती है। शब्द-शक्ति के द्वारा भी अर्थ का विकास होता है। भारतीय आचार्यों ने तीन शब्द-शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। शब्द और अर्थ के संबध को 'शब्द-शक्ति' के नाम से कहा गया है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत इन तीन शक्तियो से सम्बन्धित शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक कहलाते हैं। संकेतित अर्थ वाचक, लाक्षणिक अर्थ लक्षक और व्यंग्यार्थ व्यंजक शब्द से प्रकट होता है।

शब्द का सामान्य अर्थ प्राय वाच्यार्थ ही होता है। अभिधा के ये तीन भेद होते हैं रूढि, योग और योगरूढि। शब्दो की व्युत्पत्ति किये विना ही समझ मे आ जानेवाले शब्द 'रूढि' कहलाते हैं। जैसे गौ, मृग आदि। जिन शब्दो की व्युत्पत्ति आदि करके अर्थ समझा जाता है उन्हे यौगिक कहते हैं। जैसे कलाविद्, सगीतज्ञ, कुम्भकार आदि। जिन शब्दो की व्युत्पत्ति तो हो सकती है किन्तु अर्थ कुछ वदल जाता है जैसे पकज-कीचड से उत्पन्न होने वाला, किन्तु कमल अर्थ मे वह रूढि हो गया है। इसलिये यौगिक होते हुए भी यह रूढि है। रूढ-शब्द का विभाजन भी तीन रूपो मे हुआ है। नैमित्तिक जिससे जाति विशिष्ट का वोध होता है जैसे गाय। पारिभाषिक जिनसे आधुनिक सकेतो का वोव हो, जैसे देवदत्त। औपाधिक जिनसे उपाधि विशिष्ट पदार्थ का बोध हो, जैसे आकाश, पशु आदि। अभिधा के द्वारा व्यक्त सकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार प्रकार का माना गया है।

शब्दो से मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उससे संवद्ध जव किसी दूसरे अर्थ का वोध होता है तो वह लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत आता है। लक्षणा के द्वारा जव कोई अर्थ लगाया जाता है तो उसमे मुख्यार्थ का न विल्कुल लोप होता है, न वह स्पष्ट रहता है एव मुख्यार्थ नये अर्थ से कुछ सवधित रहता है। साथ ही किसी प्रयोजन या परम्परा के कारण वह प्रकट होता है। लक्ष्यार्थ मे उक्त तीनो विशेषताओ का समावेश रहता है। लक्षणा के मुख्य दो भेद हैं रूढ़ और प्रयोजनवती। इनके मुख्य छ भेद किये गये हैं लक्षण-लक्षणा, उपादान लक्षणा, गौणी सारोपा लक्षणा, गौणी साध्यवसाना लक्षणा, शुद्धा सारोपा लक्षणा, शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा। जव शब्द अपने सकेतित अर्थ को विल्कुल छोड़कर नया अर्थ प्रकट करता है तो वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। जैसे भारतवर्ष शान्ति का पुजारी है। यहाँ पर आशय है कि 'भारतवर्ष' के रहनेवाले' शान्ति चाहते हैं। पूर्वी प्रदेश वाढ़ से पीड़ित है अर्थात पूर्वी प्रदेश के रहनेवाले वाढ़ से पीडित हैं।

जव शब्द अपना मुख्यार्थ भी न छोडे और नये अर्थ का भी वोध हो तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है। जैसे किसी तरह से रोटी का गुज़ारा हो रहा है, सफेद टोपी का राज्य है। यहाँ रोटी के मुख्यार्थ का विल्कुल लोप नही होता। जव एक शब्द के अर्थ पर दूसरे शब्द के अर्थ का गुण की समानता के आधार पर आरोप किया जाय तो वहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होती है। यथा-सच्चा आलोचक हस की गणना मे आता है। हस नीर-क्षीर मे भेद करने के लिये प्रसिद्ध है। इस गुण का आरोप आलोचक पर हुआ है। जव आरोप्य विषय के गुण का आरोपित

में अध्यवसान हो जाय, उपमेय-उपमान एक हो जाय तो वहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे आज चन्द्रमा किधर से उदय हुआ, कमल मुरझाया क्यो है? यहं चन्द्र और कमल मुख के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

जब एक अर्थ का आरोप दूसरे पर गुण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के सबंध के आधार पर किया जाय तो वहा शुद्धा सारोपा लक्षणा होती है। जैसे दूध जीवन है, अनियमित भोग मृत्यु है। यहाँ दूध जीवन मे गुण की कोई समानता नही है किन्तु दोनो मे फिर भी सबंध प्रकट किया गया, इसी प्रकार भोग और मृत्यु मे सबंध दिखाया गया है। इनमे कार्य-कारण का सम्बन्ध कहा जा सकता है। जब आरोप्य विषय का आरोपित मे गुण के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध के कारण अध्यवसान कर दिया जाय तो वहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है। किसी मृतप्राय व्यक्ति को जब आक्सीजन गैस दी जा रही तो तो कोई कहे-उसे जीवन मिल रहा है। यहाँ 'आक्सीजन' आरोप विषय का आरोप्य विषय 'जीवन' के साथ अध्यवसान कर दिया गया है। लक्षणा के ये भेद मान्य हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य भेदो का भी उल्लेख किया गया है। लक्षणा शब्द और वाक्य दोनो मे होती है।

शब्द-शक्ति का तीसरा भेद 'व्यजना' है। शब्द से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त कभी कभी एक अनोखा ही अर्थ व्यक्त होता है। व्यजना-शक्ति केवल शब्द से ही सबंधित नही होती वरन् अर्थ से भी सबंधित होती है। व्यजना को इस आधार पर 'शाब्दी' और 'आर्थी' दो रूपो मे भेद किया गया है। शाब्दी व्यजना अभिधामूला और लक्षणामूला होती है और आर्थी व्यजना वाच्यार्थसभवा, लक्ष्यार्थसभवा एव व्यग्यार्थसभवा होती है।

जब अभिधा द्वारा एक शब्द से अनेक शब्दो का बोध हो और एक अर्थ निश्चित करने के लिये कभी अलग से अन्य कोई स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक शब्द का सयोग किया जाय। जैसे 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु शखचक्र से युक्त हरि केवल 'विष्णु' के अर्थ मे होगा और वज्रहीन हरि से 'इन्द्र' का अर्थ होगा। अन्य शब्दो के साहचर्य से अर्थ का निश्चय होता है। जैसे महाभारत-युद्ध मे हरि का प्रयोग कृष्ण के लिये होगा। प्रकरण-भेद से अर्थ-निर्णय होता है। इसका उत्तम उदाहरण विहारी का निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा है

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यो न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

इसमे राधा वृषभ (बैल) की बहिन अर्थात् गाय और कृष्ण हलधर (बैल)

के भाई हैं अर्थात् बैल हैं। इनमे दोनो शब्दो से व्यंजना प्रकट होती है इसलिये यह शाब्दी व्यजना का उदाहरण है। लक्षणामूला शाब्दी व्यजना मे लक्षणा से अर्थ प्रकट होता है। जैसे बम्बई समुद्र मे बसा है। अर्थात् बम्बई समुद्र के बिल्कुल निकट है क्योकि समुद्र मे कोई नगर नही बस सकता। जब शब्द के वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यजना प्रकट हो तो वहां वाच्यसमवा आर्थी व्यजना होती है। जैसे रात हो गई कहने से रात से सबधित अनेक अर्थ व्यक्त हो जाते हैं। जब शब्द के लक्ष्यार्थ से व्यजना प्रकट हो तो वह लक्ष्यसमवा आर्थी व्यजना होती है। जैसे आप तो गुरू निकले, यहाँ गुरू से गुरू बटाल अर्थ की व्यंजना होती है। जब एक व्यजनार्थ से दूसरे व्यग्य का बोध हो तो वहाँ व्यग्यसमवा आर्थी व्यजना होती है। जैसे प्राकृत भाषा मे गाथासप्तशती की एक गाथा का भावार्थ है 'देखो, कमलिनी के पत्ते पर सारस निश्चल, बिना हिले डुले बैठी हुई कैसी सुन्दर लगती है, जैसे निर्मल मरकत की थाली में शख रखा हो।' यहाँ प्रकृति के वर्णन के बहाने नायिका अपने प्रेमी नायक को एकान्त वातावरण का सकेत कर रही है और दूसरी ओर यह भी सकेत है कि हम वहाँ स्वच्छद रूप से प्रेमक्रीडा कर सकते है। आर्थी व्यजना की विशिष्टता वक्ता और श्रोता से सबधित है। जो व्यक्ति जिससे इसको प्रकट करता है वही इस व्यग्यार्थ को समझता है अन्य व्यक्ति इससे अनभिज्ञ रहता है। काकु (ध्वनिभेद) से भी आर्थी व्यजना प्रकट होती है। जैसे जी हाँ, आप तो बिल्कुल निर्दोष हैं। इस निर्दोष मे ध्वनि-भेद से दोष की भावना प्रकट होती है। व्यजना का व्यापक अर्थ लिया जाय तो सभी प्रकार की भावव्यंजना, अलकार-व्यजना, वस्तु-व्यजना आदि इसके अन्तर्गत आ जायेगी।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

पहले बताया जा चुका है कि शब्द का अर्थ परिवर्तनशील होता है। ऊपर अर्थ-विकास के कारणो का उल्लेख किया गया। पाश्चात्य विद्वान् ब्रेआल (Breal) ने अर्थ-परिवर्तन को तीन धाराओ मे बाँटा है अर्थ-विस्तार, अर्थ-सकोच और अर्थ-विपर्यय। भारतीय वैयाकरणो ने भी अर्थ-विकास के विविध रूपो का विवेचन प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य विद्वानो का यह विभाजन वैज्ञानिक अधिक है। शब्द अपने मूल रूप मे व्यापक अर्थ रखता है। बाद मे विशिष्ट अर्थ मे व्यवहार करने के लिये उसे नियन्त्रित कर दिया जाता है। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु वह 'गाय' के लिये ही प्रयुक्त होता है। 'पशु' के मूल अर्थ मे मनुष्य भी शामिल था। बाद मे पशु केवल चौपायो के लिये सीमित

हो गया। धातुओं के मूल अर्थ व्यापक रूप में होते हैं किन्तु प्रत्यय आदि के योग से उनका अर्थ संकुचित हो जाता है। समास, उपसर्ग, विशेषण आदि के प्रयोग से अर्थ-संकोच सम्भव होता है।

अर्थ-संकोच को पाश्चात्य विद्वानों ने कान्ट्रैक्शन आव् मीनिंग (contraction of meaning) के रूप में दिया है। जैसा कि पहले कहा गया है शब्द के अनेकार्थ में एकार्थता की स्थापना अथवा एक अर्थ का निश्चय करने के लिए संकोच आवश्यक होता है। सभी भाषाओं में अर्थ-संकोच की मूल प्रवृत्ति वर्तमान मिलती है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में 'रत्न' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। इससे प्राणियों तथा विविध पदार्थों का समान बोध होता था। पालि की एक जातक में घोड़ा रत्न, कम्बलरत्न आदि का उल्लेख मिलता है। अब 'रत्न' केवल आभूषण सम्बन्धित बहुमूल्य पत्थर विशेष के लिये ही प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'धान्य' शब्द पहले सभी धनों का बोधक था। बाद में केवल अन्न और अब धान (बिना कुटा चावल) के लिये प्रयुक्त होता है। वैदिक संस्कृत में 'मृग' शब्द सामान्य पशु के लिये व्यवहृत हुआ है। मृगेन्द्र, मृगराज में 'मृग' इसी अर्थ में है। बाद में पशु विशेष (हरिण) के लिये इसका प्रयोग कर लिया गया। 'सर्प' शब्द संस्कृत की √सृप्-रेंगना धातु से सम्बन्धित है। मूल अर्थ में यह रेंगने वाले सभी प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु बाद में यह एक जन्तु विशेष के लिये सीमित हो गया। संस्कृत में रदन और नेत्र शब्द भी ऐसे हैं। वास्तव में रदन-फाड़ने और नेत्र-प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अब रदन (दांत), नेत्र (आंख) मनुष्य के शारीरिक अंग-विशेषों के लिये प्रयुक्त हो गये हैं।

संस्कृत में 'अधर' शब्द का अर्थ था नीचे वाला, बाद में यह नीचे वाले ओठ के लिये सीमित हो गया। फारसी में 'मुर्ग' का प्रयोग पक्षीमात्र के लिये मिलता है पर अब केवल एक पक्षी विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'अन्न' शब्द से पहले सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का बोध होता था पर अब अन्न (अनाज) के अर्थ में सीमित हो गया है। संस्कृत में अन्नप्राशन ऐसा ही शब्द है। इसका अर्थ पहले अन्न को अच्छी तरह से खाना था। अब बच्चों को अन्न शुरू कराने से सम्बन्धित एक संस्कार विशेष के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार का एक शब्द 'दुर्लभ' है। उसका मूल अर्थ है जो कठिनता से प्राप्त किया जाय। यह शब्द प्राकृत, अपभ्रंश में दुल्लह, दूलह और हिन्दी में दूल्हा पति के अर्थ में मिलता है। सुवर दूल्हा ढूंढने में भी कम कठिनाई नहीं होती। संस्कृत में 'वर' शब्द श्रेष्ठ या अच्छे के अर्थ में था। अब यह भी

'दूल्हा' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अर्थ-संकोच के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों का मत है कि सभ्य और उन्नत जातियो मे यह अधिक मिलता है क्योंकि वे अपने विकसित मस्तिष्क द्वारा विविध पदार्थों के लिये एक ही शब्द का प्रयोग न करके उनके लिए अलग-अलग शब्दो का प्रयोग करना अधिक समीचीन समझते हैं। कम उन्नत मस्तिष्क वाले इस प्रकार शब्दो की विविधता का विकास नही कर पाते। किन्तु यह निष्कर्ष सर्वथा ठीक नही जान पडता। शब्द द्वारा व्यक्त अर्थ-वैविध्य की भावना वहुत कुछ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम कही जा सकती है।

जैसा कि पहले कहा गया है भाषा मे अनेक शब्दो का मूल विधान किसी विशेष सकेत के लिये होता है किन्तु वाद मे वह अन्य सकेतो के लिये भी प्रयुक्त कर लिया जाता है। उसका अर्थ-विस्तार (expansion of meaning) कर लिया जाता है। सस्कृत में 'गोष्ठ' शब्द गायो के स्थान के लिये मिलता है। कालान्तर मे गोष्ठ शब्द अन्य पशुओ के रहने के लिये भी व्यापक हो गया और गाय के स्थान के लिए 'गोगोष्ठ' शब्द का विकास हुआ, 'अविगोष्ठ' भेड के रहने का स्थान आदि। वाद मे यह मनुष्य के जमात के लिये भी अपना लिया गया जैसे कवि-गोष्ठी, साहित्यिक-गोष्ठी अर्थात् साहित्यकारो की गोष्ठी। प्रारम्भ मे 'गोहार' शब्द गायो के चुरा जाने पर दी गई पुकार के अर्थ में प्रयुक्त होता था, अव इसका प्रयोग कई प्रकार की पुकारो के लिये होता है। सस्कृत का 'परश्व' शब्द आने वाले कल के वाद के दिन के लिये प्रयुक्त होता था। इसी का विकसित रूप 'परसो' अव न केवल इसी अर्थ मे वरन् वीते हुए दिन के पूर्व वाला दिन भी परसो कहलाता है। सस्कृत 'कल्य' शब्द मे ऐसा ही अर्थ-विस्तार मिलता है। प्रारम्भ मे इसका प्रयोग प्रात काल, फिर आगामी दिन और अव पिछले दिन के लिए मिलता है। सस्कृत मे 'तैल' शब्द का मूल अर्थ 'तिल का सार' था पर अव तेल शब्द केवल तिल के सार के लिये ही नही वरन् कई चिकने द्रव्य-पदार्थ के लिये होता है। जैसे सरसो का तेल, रेडी का तेल आदि। सस्कृत मे 'प्रवीण' शब्द का अर्थ है वीणा-वादन मे जो चतुर हो परन्तु अव इसका अर्थ-परिवर्तन अर्थ-विस्तार के रूप मे हो गया है और किसी भी काम को करने की चतुरता के लिये इसका प्रयोग हो सकता है। ऐसा एक शब्द 'कुशल' है। इसका मूल अर्थ था—जो अपनी हानि किये विना कुशा तोड लाये किन्तु अव यह अनेक कार्यों की निपुणता के लिये व्यवहृत होता है। फारसी 'स्याही' शब्द आरम मे काली स्याही के अर्थ मे था। वाद में यह न केवल काली स्याही, नीली स्याही, लाल स्याही वरन् कुछ स्थानो मे सफेद खडिया का घोल

भी स्याही के नाम से कहा जाता है।

इन शब्दो का अर्थ-विस्तार प्राय शब्दो के सान्निध्य, साहचर्य के कारण हुआ है। अनेक शब्दो का मुहावरो तथा लोकोक्तियो के रूप मे प्रयोग हो जाने पर अर्थ-विस्तार हो जाता है। जैसे—तेल निकाल लेना, कधे से कधा मिडा कर चलना, गाठ पड जाना आदि। यहा तेल, कधा,, गाठ के मूल अर्थ का विस्तार हो गया है। आलकारिक प्रयोग के द्वारा भी अर्थ-विस्तार होता है। जैसे वह पत्थर है, वह बिलकुल गऊ है, उसका शरीर लोहा है आदि। कभी-कभी व्यक्तियो अथवा स्थानो के नाम का भी विस्तार हो जाता है। जैसे सत्यवादी के लिये हरिश्चन्द्र, राजनीतिज्ञ के लिये चाणक्य, भ्रातृ-द्रोही के लिये विभीषण, जातिद्रोही के लिये मानसिंह, झगडा कराने वाले के लिये नारद आदि के नाम अब भी प्रयोग किये जाते हैं। अपने इन विशिष्ट गुणो के कारण ये व्यक्ति अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये हैं। 'गगा' शब्द अनेक नदियो के लिये व्यवहृत होता है। लका, विलायत आदि स्थानो का नाम अत्यधिक दूरी के लिये प्रयुक्त होता है।

शब्द का मूल अर्थ यदि निकृष्ट है तो कभी-कभी वह उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अर्थ निकृष्ट मे परिणित हो जाता है। पहला 'अर्थोत्कर्ष' और दूसरा 'अर्थापकर्ष' कहलाता है। सस्कृत का कर्पट शब्द प्राकृत मे कप्पड और हिन्दी मे कपडा हो गया है। इसका मूल अर्थ जीर्णशीर्ण वस्त्र था, अब कपडा शब्द से सभी प्रकार के वढिया और घटिया कपडे का बोध होता है। इसी प्रकार का सस्कृत मे 'साहसी' शब्द है। इसका मूल अर्थ डाकू, व्यभिचारी आदि था परन्तु अब 'साहसी' अच्छा और वीरता का कार्य करने वाले व्यक्ति या तत्सम्बन्धी गुण के लिये प्रयुक्त होता है। 'साहस' उत्कृष्ट गुण का सकेत करता है। ये शब्द अर्थोत्कर्ष के उदाहरण हैं।

अनेक शब्दो के अर्थ अच्छे से बुरे हो जाते हैं। 'गुरू' शब्द अब 'चालाक' अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। जैसे वाह गुरू हमी से यह दाँव, 'राजा' शब्द का अर्थ भी गिर गया है, महाराज रसोई बनानेवाले या ठाकुर शब्द भी नाई-ठाकुर अर्थ मे कुछ गिर गये है। सहवास, समागम, इन्द्रिय, लिग, काम, वासना आदि शब्दो के अर्थ भी अब कामशास्त्र से सबधित हो गये हैं। 'मय्या' शब्द स० मातृ, हिं० माई का विकसित रूप है किन्तु बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र मे यह नौकर अथवा नीचा पेशा करनेवालो के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार सस्कृत के 'पाखडी', 'नग्न' और 'लुचित' शब्द हैं। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म से इतर सम्प्रदाय के लिये पाखंड तथा जैन साधुओ के लिये पाखडी, नग्न

और लुचित का प्रयोग किया जाता था। अब पाजी तथा नगा (नग्न), लुच्चा (लुचित) शब्द बुरे अर्थ मे व्यवहृत होते है। 'पेशेवर' नाचनेगानेसे रोजी कमाने वाली स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी का सिली (silly) शब्द पहले 'ऐश्वर्यशाली' अर्थ मे था और अब 'मूर्ख' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

उपरोक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि अर्थोत्कर्ष तथा अर्थापकर्ष मे अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार दोनो होता है। शब्द के मुख्यार्थ का जब आमूल परिवर्तन हो जाता है तो उसे अर्थ-विपर्यय या अर्थादेश कहते है। अर्थ-विकास के कारणो के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। संस्कृत मे 'कवि' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ 'क्रान्तिदर्शी' था पर अब केवल काव्य-रचना करने वाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। संस्कृत 'दुहितृ' शब्द 'दूध दुहने वाली' लड़की के लिए प्रयुक्त होता था, अब 'दुहिता' 'कन्या' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है परन्तु दूध दुहने से उसका कोई संबंध नही। पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद मे 'असुर' शब्द देवता के अर्थ मे था, ईरानी मे यही अहुर (मजदह) के रूप मे पारसियो के उपास्यदेव के लिये मिलता है। बाद मे 'असुर' राक्षस के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत 'देव' शब्द भी प्राचीन ईरानी भाषा तथा साधारण बोलचाल की कहानियो मे 'राक्षस' बन गया है। संस्कृत 'शौच' शब्द पवित्रता के अर्थ मे मिलता है पर अब 'शौच' शब्द दैनिक क्रिया से सम्बन्धित हो गया है। संस्कृत 'उष्ट्र' शब्द ऋग्वेद मे पहले 'भैंसे' के अर्थ मे और बाद मे 'ऊँट' के लिये प्रयुक्त मिलता है। 'धन्यवाद' शब्द पहले प्रशंसा के अर्थ मे व्यवहृत होता था और अब कृतज्ञता-प्रकाशन के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। हिन्दी मे 'अघाना' शब्द का अर्थ है खूब तृप्त हो जाना। परन्तु इसका संस्कृत मूल अर्थ 'सूंघना' था। हिन्दी मे 'उतावला' शब्द का प्रयोग मनोभाव से संबंधित शीघ्रता, व्यग्रता, चिन्ता आदि भाव के लिये होता है परन्तु मूल शब्द संस्कृत 'उत्ताप' (गर्म) अर्थ से संबंधित है। इसी प्रकार हिन्दी 'उधार' संस्कृत 'उद्धार' शब्द से बना है लेकिन दोनो के अर्थ मे आमूल परिवर्तन हो गया है। ऐसा ही संस्कृत का 'व्रत' शब्द है। पहले यह नियम विशेष था और अब हिन्दी मे 'उपवास' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

शब्दो के अर्थ-विकास के मूल मे विचारधाराओ का परिवर्तन मुख्य है। जिस समय जैसी विचारधारा प्रधान होती है वैसा ही परिवर्तन शब्दार्थो मे कर लिया जाता है और यह परिवर्तन अर्थ-विस्तार, अर्थ संकोच तथा अर्थ-विपर्यय के रूप मे प्रकट होता है। भाषा के अन्य परिवर्तनो की अपेक्षा अर्थ-परिवर्तन पर

मनुष्य के मनोभावों का प्रभाव अधिक दृष्टिगत होता है। पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वान इस विचार से सहमत हैं।

अर्थ-परिवर्तन मनोभावों से तो संबंधित है ही, मनुष्य की बुद्धि भी इसमें काफी योग देती है। अर्थ-परिवर्तन के रूपों में बुद्धि के द्वारा किये गये परिवर्तन अपना अलग महत्व रखते हैं। परिवर्तन में बुद्धि की प्रधानता होने के कारण इन्हें 'बौद्धिक नियम' के नाम से भी कहा गया है।

भाषा में एक ही भाव, विचार या संबंध प्रकट करने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु उन शब्दों की कमी हो जाने पर कभी-कभी एक शब्द ही विशेष भाव को प्रकट करता है। शब्द को एक विशेष भाव रूप में प्रकट करने के लिये इस प्रकार का जो परिवर्तन होता है उसे विशेष भाव का नियम (law of specialisation) कहा गया है। पहले प्रत्ययों, विभक्तियों के द्वारा इन विशेष भावों को प्रकट किया जाता था। जैसे श्रेष्ठ (अच्छा) को श्रेष्ठतर (उससे अच्छा), श्रेष्ठतम् (सब से अच्छा) रूप में कहने की प्रथा हो गई। यथा सुन्दर, सुन्दरतर, सुन्दरतम् आदि। हिन्दी में इस विशेष भाव को प्रकट करने के लिये प्रत्यय के स्थान पर उससे बढ़िया, सबसे बढ़िया भी कहा जाता है। कम, अधिक, अपेक्षा आदि शब्दों का प्रयोग भी इसके लिये किया जाता है। अधिकता के भाव के लिये 'भी', 'और', 'और भी' शब्दों के प्रयोग से भाव को विशेषता को प्रकट किया जाता है।

भाषा में विभक्ति, प्रत्यय आदि व्याकरणिक रूपों में शब्दों का विभाजन इसी भाव से प्रेरित है। भाषा में प्रत्यय, उपसर्ग आदि के प्रयोग से शब्द विशेष-विशेष भावों को प्रकट करने लगता है। भाषा में व्याकरणिक नियमों का विकास अर्थ-विकास के इसी नियम के अधीन माना जा सकता है।

एक ही मूल स्रोत से विकसित अथवा अलग-अलग समान अर्थवाले शब्दों में पार्थक्य करना आवश्यक होता है। उन अर्थों में परस्पर भेद रखने के लिये 'भेदीकरण का नियम' (law of differentiation) महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये शब्द प्राय पर्याय रूप में जान पड़ते हैं किन्तु उनमे भाव का सूक्ष्म भेद अवश्य वर्तमान रहता है, जैसे पंडित, मुल्ला, पादरी, विद्यालय, पाठशाला, मदरसा, मकतब, स्कूल, कालेज आदि शब्दों में अर्थ की कुछ समानता है किन्तु इनमे अर्थ-भेद भी है। 'वैद्य' शब्द से भारतीय प्राचीन चिकित्सा-पद्धति (आयुर्वेदिक), हकीम से मुसलमानी चिकित्सा-पद्धति (यूनानी) और डॉक्टर से अंग्रेजी चिकित्सा-पद्धति (एलोपैथी) का बोध होता है। संस्कृत में 'कमल' के लिये पंकज, अंबुज, कंज आदि कई शब्द थे किन्तु हिन्दी में केवल कमल या कँवल

ही प्रचलित हुआ। साधारण लोगों को 'देखा' जाता है और बड़े लोगों का 'दर्शन' किया जाता है। संस्कृत 'वत्स' शब्द का बच्छ, बाछा रूप बनते हैं। इसी से 'बछड़ा' शब्द बना है किन्तु 'बछड़ा' शब्द केवल गाय के बछड़े के लिये आता है। अब मनुष्य के 'वत्स' का यह पर्याय नहीं है। यथा—कुत्ते का पिल्ला, भैंस का पडवा, भेड़ का मेमना आदि। 'गर्भिणी' का विकसित रूप 'गाभिन' है लेकिन 'गाभिन' का प्रयोग केवल पशु-समूह के लिये ही होता है। अभिवादन करने के लिये अनेक शब्द प्रचलित हैं। जैसे प्रणाम, नमस्कार, नमस्ते, सलाम, आदाब, बन्दगी, जयशंकर, जय गोपाल, जय राम, राम राम, पालागी, सतगुरु, गुडमार्निंग आदि। इन सभी में अलग-अलग अर्थ की विशेषता छिपी हुई है। छोटा बड़े को या समवयस्क परस्पर एक दूसरे को, छोटी जाति वाला उच्च जातिवाले को, शिष्य गुरु को, पुजारी पुरोहित को भिन्न-भिन्न ढंग से अभिवादन संबंधी शब्दों का प्रयोग करते हैं। श्रीमान्, जनाब, महोदय आदि शब्दों में भी अर्थ-भेद वर्तमान है। बिल्ली को म्याऊँ, कुत्ते को भों-भों, गौरैया (पक्षी) की चीं-चीं, कौवे का कांव-कांव, बकरी की में-में, शेर की दहाड़ आदि आवाजों में भेद की भावना स्पष्ट है। इस प्रकार अनेक ऐसे समानार्थी शब्दों का समूह मिलता है जिनमें अर्थ की पृथकता स्थापित कर ली जाती है। कुछ लोगों का विचार है कि उन्नत भाषाओं में ही अर्थ की यह पृथकता मिलती है।

जब कि कोई शब्द किसी प्रत्यय आदि के योग से बुरे या अच्छे अर्थ का द्योतन करे तो वह ढंग 'उद्योतन का नियम' कहलाता है। केवल प्रत्यय के लग जाने से वे सभी इसके अन्तर्गत नहीं आते। इनसे अच्छा या बुरा अर्थ अवश्य प्रकाशित होना चाहिए। गवर्नर का गवर्नरी रूप में सीधा सादा अर्थ भी है और उससे घमंड का भाव भी निकलता है। जैसे बड़ी 'गवर्नरी' दिखा रहे हो। 'लाट' (लार्ड) का सीधा अर्थ भी है किन्तु वह 'लाट' बना घूमता है में 'लाट' से भिन्न भाव प्रकट होता है। यदि कोई अमीर अपनी 'गरीबी' का रोना रोये तो वह इस नियम के अन्तर्गत ही आयेगा। घटा, घंटी, पोथा, पोथी, आदि शब्दों के भी प्रयोग कभी कभी इसी रूप में पाये जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन आर्य भाषाओं में विभक्तियों का प्रयोग होता था। शनैः-शनैः ध्वनि-परिवर्तन तथा सादृश्य के कारण उनका लोप हो गया किन्तु आधुनिक भाषाओं में उन विभक्तियों के कुछ प्रयोग अब भी प्रचलित मिलते हैं। इसे 'विभक्तियों के भग्नावशेष के नियम' के अन्तर्गत माना गया है। हिन्दी में ऐसे कुछ प्रचलित रूप मिलते हैं। यथा वस्तुतः, सूक्ष्मतः,

अत, हठात्, दैवात्, शनैः-शनैः, त्राहिमाम् आदि। इन प्रयोगों को परम्परागत माना जा सकता है। कभी-कभी वाक्य में संस्कृत पदों के विकसित रूप ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त मिलते हैं। जैसे गत 7 गओ, गया, सुप्त 7 सोओ, सोया आदि। कुछ शब्द संस्कृत कृदन्त रूपों के सादृश्य पर प्रचलित हो गये हैं। यथा सं० ज्वलन्त, सन्त आदि के सदृश हिन्दी में पढन्त, लडन्त, भिडन्त, जुटन्त, अलगन्त आदि। ग्रामीण बोलियों में कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनमें संस्कृत विभक्तियों का अव-शेष मिलता है। जैसे संस्कृत की सप्तमी विभक्ति ए-कामे, खेते, घरे आदि।

अज्ञानता के कारण भी अर्थ का विकास होता है, यह पहले बताया जा चुका है। इसे 'मिथ्या-प्रतीति के नियम' के अन्तर्गत माना गया है। संस्कृत 'असुर' और 'सुर' शब्दों का उदाहरण पहले दिया गया है। 'असुर' का अर्थ देवता था पर बाद में 'अ' को निषेध वाचक उपसर्ग मानकर 'सुर' को देवता और 'असुर' को राक्षस के अर्थ में प्रयोग किया गया। हिन्दी में ऐसे अनेक प्रयोग प्रचलित हो गये हैं। पावरोटी, मलयगिरि पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत के उदाहरण पहले दिये गये हैं। दरअसल में, गुल मेंहदी का फूल, गुलरोगन का तेल, हिमाचल पर्वत आदि में फारसी दर, गुल, रोगन का क्रमशः में, फूल, तेल अर्थ हैं किन्तु भ्रम के कारण इन शब्दों की पुनरुक्ति हो गई है। 'अब भी' के लिये 'अभी भी', 'अभी ही' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

अंग्रेजी में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पहले आक्सेन् (oxen-संस्कृत-उक्षन) एकवचन का रूप था किन्तु बहुवचन का रूप चिल्रेन् (children) के सादृश्य के कारण इसे भी बहुवचन का रूप मान लिया गया और आक्स (ox) एकवचन का रूप बन गया। ऐसे अंग्रेजी के चेरीज़ (cherries) और पीज (peas) शब्द भी हैं और उनके एकवचन चेरी (cherry) और पी (pea) बन गये क्योंकि अंग्रेजी में—एस (-es) या (-s) जोडकर बहुवचन के रूप बनाये जाते हैं। इसलिये उन एकवचन रूपों को बहुवचन समझा गया और—एस् (-es, -s) रहित रूपों को एक वचन।

पद-विकास के प्रसंग में उपमान अथवा सादृश्य का उल्लेख हो चुका है। अस्पष्ट भावों को स्पष्ट और सरल बनाने के लिये सादृश्य का सहारा लिया जाता है। इसके लिये सरल और व्यापक रूपों का प्रयोग कम प्रयुक्त और कठिन स्थानों पर किया जाता है। संस्कृत की विभक्तियों के लोप तथा द्विवचन के तिरोभाव के मूल में यही भावना रही है। संज्ञा की विभक्ति का प्रयोग सर्वनाम के लिये और सर्वनाम का प्रयोग संज्ञा के लिए इसी भाव से प्रेरित है। व्यंजनांत शब्दों का विकास स्वरान्त के सदृश और सभी स्वरान्त शब्दों को एक ही स्वरांत

रूप के अनुसार ढालने में उपमान ही कारण है। भाव प्रकाशन को यह रूप 'उपमान का नियम' के अन्तर्गत माना गया है। उपमान के कारण भाषा में जहाँ पुराने रूपों का ह्रास हो जाता है वहाँ नये-नये रूपों का विशेष-विशेष अर्थों मे उद्भव और विकास भी होता है। आधुनिक भाषा में कृदन्तों, संयुक्त क्रिया, परसर्गों, कर्मवाच्य (passive voice), काल के विविध रूपों, क्रिया-विशेषण आदि रूपों का विकास नये भावों को स्पष्ट करने की भावना से ही उद्भूत है। इस प्रकार अनेकार्थता मे एकता और एकता मे अनेकार्थता की भावना के मूलाधार उपमान ही हैं। कुछ विद्वानों ने भाषा मे नवीन प्रयोगों को 'नये लाभ' तथा रूपों के तिरोभाव को 'अनुपयोगी रूपों का विनाश' के अन्तर्गत उपमान से भिन्न रूप मे माना है। किन्तु इन्हें भिन्न रूप मे मानना उचित नहीं जान पड़ता। ये रूप भी उपमान के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत संबंध है। शब्दों से नये-नये अर्थों की उद्भावना कभी बुद्धिगत और कभी मनोभावों से अविकृत होती है। भाषा के परिष्कार, परिवर्धन तथा परिमार्जन में अर्थ की विशेषता निहित है। अर्थ की व्यापकता भाषा की ध्वनियों, शब्दों, रूपों आदि सभी से संबंधित है। इसीलिये अर्थहीन ध्वनि अथवा शब्द का भाषा मे कोई अस्तित्व नहीं होता। भाषा के विकास के मूल मे कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है और यह प्रयोजन अर्थसंबंधित होता है। भाषा के शब्द से वर्तमान काल मे जो अर्थ या संकेत निकलते हैं भविष्य मे भी वे वैसे ही रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के मनोभावों तथा बुद्धि से प्रेरित वे भिन्न रूप में भी प्रकट हो सकते हैं। अत. यह स्पष्ट है कि ध्वनि परिवर्तन से भाषा का आकार-प्रकार जैसे बदल जाता है वैसे ही अर्थ-परिवर्तन से भाषा के भीतरी रूप अर्थात् उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का विकास होता है।

(घ) वाक्य-विज्ञान शब्दों का संयोजन वाक्य के रूप मे प्रकट होता है। वाक्य मे शब्दों का एक निश्चित क्रम रहता है और वे अपने इस क्रम से परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। किसी बात को श्रोता पर प्रकट करने के लिए हम अपनी बात को वाक्य के रूप मे ही व्यक्त करते हैं। यह बात और है कि पूरी बात कहने के लिए हमे एक अथवा अनेक वाक्यों का प्रयोग करना पड़े। किन्तु कोई बात वाक्य के द्वारा ही बोधगम्य होती है। शब्दों को बिखरे रूप मे कहीं का कहीं प्रयुक्त किया जाए तो भाव-प्रकाशन सम्भव नहीं हो पाता। बात को समझने के लिए उन्हें एक क्रम मे संजोना पड़ेगा। इसीलिए विद्वान वाक्य को भाषा का पूर्ण अवयव मानते हैं। यद्यपि मनोवैज्ञानिक

दृष्टि से भाषा का पूर्ण अवयव वह 'बात' है जिसे हम श्रोता पर प्रकट करना चाहते हैं किन्तु भाषा-विवेचन की सुविधा की दृष्टि से वाक्य को ही भाषा का पूर्ण अवयव मानना उचित है क्योंकि 'बात' का कोई अन्त नहीं है।

वाक्य मे अर्थ सामजस्य आवश्यक होता है। शब्दो मे अर्थ की दृष्टि से जो पारस्परिक सम्बन्ध माना जाता है, उसे पारिभाषिक रूप मे योग्यता, आकाक्षा, आसक्ति आदि कहा गया है। वाक्य का एक शब्द दूसरे की आकाँक्षा करता है एव दूसरा शब्द तीसरे की, क्योकि बिना एक दूसरे की सहायता के शब्दो का अर्थ-बोध सम्भव नही। वाक्य मे सज्ञा-शब्द क्रिया की और क्रिया सज्ञा की अपेक्षा रखता है। इन शब्दो मे समीपता (आसक्ति) का होना भी आवश्यक है। जो शब्द जिसकी अपेक्षा रखता है वह उसके सन्निकट होना चाहिए अन्यथा अर्थबोध मे व्याघात पडेगा। जैसे आधार आधेय, विशेषण विशेष्य, सम्बन्ध और सम्बन्धी आदि रूपो की समीपता भाव मे सुस्पष्टता लाती है। वाक्य मे ऐसे ही शब्दो का प्रयोग समीचीन होता है जो अपने सामान्य गुणो को प्रकट करते हैं। इसे 'योग्यता' का नाम दिया गया है। यथा जल का गुण शीतलता है और अग्नि का गुण ताप है। प्रस्तुत शब्दो का वाक्य मे इसी अर्थ मे प्रयोग होना चाहिए। 'अग्नि शीतल है' यह वाक्य व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण कहा जायेगा। यद्यपि साहित्य मे लाक्षणिक अर्थ के अन्तर्गत ऐसा प्रयोग किया जाने लगा है। हिन्दी के छायावादी कवियो ने उक्ति-वैचित्र्य लाने के लिए इस गुण के बन्धन को आवश्यकतानुसार शिथिल कर लिया है। भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिए यह विशेषण-विपर्यय आलोचको द्वारा एक अलकार-रूप मे स्वीकार कर लिया गया है।

भाषाओ के वैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोगो का ध्यान ध्वनि और पद की ओर ही गया। भाषा मे वाक्य-विश्लेषण के लिए तुलनात्मक रूपो की अधिक अपेक्षा है और इस प्रकार के अध्ययन के अभाव के कारण बहुत काल तक भाषाविज्ञान का यह अंग अधिक उन्नत नही हो सका। भारतीय आचार्यों एव वैयाकरणो ने प्राचीन काल मे वाक्य सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया था। 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि और उनके आलोचक पुण्यराज, 'शब्द-शक्ति प्रकाशिका' के लेखक जगदीश तर्कालकार आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। स्फोटवाद के अन्तर्गत वाक्य-स्फोट की विशद व्याख्या की गई है। पाश्चात्य दृष्टिकोण उससे बहुत भिन्न नही है। भारोपीय भाषाओं का सम्बन्ध आदि भारोपीय भाषाओ से जोडा गया है किन्तु हिन्दी, तोखारी आदि भाषाओ के वाक्य-विवेचन का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण आदिम

भारोपीय का वाक्य-विश्लेषण बहुत काल तक सम्भव न हो सका। आज भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे 'वाक्य-विज्ञान' की महत्ता बढ गई है। अत. इस ओर अध्ययन एव विश्लेषण के क्षेत्र मे कार्य होने लगा है।

वाक्य-सरचना वाक्य भाषा का पूर्ण अवयव माना जाता है। यद्यपि कतिपय विद्वान वाक्य को भाषा का पूर्ण अवयव मानने मे विवादास्पद स्थितियाँ प्रस्तुत करते है। एक शब्द वाले वाक्य ही प्राय. इस विवाद का मुख्य कारण होते हैं परन्तु ससार की कुछ भाषाओ में वाक्य का विभाजन शब्द-रूपो मे नही होता। इस प्रकार की भाषाओ मे वाक्य ही वाक्य होते हैं, शब्द नही। परन्तु एक शब्द ही जब सम्पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति करता है तो एक शब्द वाले वाक्य का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार पूर्ण अवयव होते हुए भी वाक्य में अर्थ की प्रमुखता भी रहती है एव अर्थ के आधार पर ही हम एक शब्द अथवा अनेक शब्द-सयोजना को 'वाक्य' की संज्ञा देते हैं। अनेक शब्द-सयोजना वाले वाक्यो में शब्द-क्रम का महत्व रहता है। अतः स्पष्ट है कि वाक्य-सरचना मे शब्दो का क्रम महत्वपूर्ण होता है।

वाक्य मे शब्द-क्रम के बदल जाने से भी सकेतित अर्थ स्पष्ट हो सकता है यदि शब्द का प्रयोग संलग्न व्याकरणिक चिह्न के साथ किया जाए। यथा

'राम ने इस पुस्तक को श्याम से लेकर पढा।'

'इन पुस्तक को श्याम से लेकर राम ने पढा।'

'श्याम से लेकर उस पुस्तक को राम ने पढा।'

उपरोक्त तीनो प्रकार से शब्द-क्रम का प्रयोग होने पर भी अर्थ मे कोई व्याघात नहीं पडता। किन्तु पहले वाक्य मे 'राम ने', दूसरे मे 'उस पुस्तक को' और तीसरे मे 'श्याम से' आदि पदो या शब्दावली पर स्पष्टतया जोर दिया गया है।

कभी-कभी जोर देने की प्रवृत्ति कथन, बलाघात के द्वारा भी व्यक्त होती है। शब्द का क्रम कभी-कभी अर्थ-वैचित्र्य लाने के लिए भी बदल दिया जाता है। यथा आप बुद्धिमान है, आप हैं बुद्धिमान, हैं आप बुद्धिमान !

प्रस्तुत वाक्यो मे अर्थ बदलने के साथ अर्थ की बारीकी स्पष्ट है। जिन भाषाओ मे व्याकरणिक चिह्न अथवा विभक्तियो का प्रयोग शब्दो के साथ सयुक्त हो जाता है उसमें पद-व्यतिक्रम से भी अर्थ मे अन्तर नहीं आता। जैसे सस्कृत भाषा मे 'मैं घर जाता हू' वाक्य के निम्न रूप में शब्द-क्रम होने पर भी अर्थ समान रहता है

अहं गृहं गच्छामि।

गृहं अहं गच्छामि ।
गच्छामि अहं गृहं ।
अहं गच्छामि गृहं ।

पांडित्य-प्रदर्शन तथा व्यक्ति की सूझबूझ के कारण भी वाक्य का गठन होता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप मे जिस बात पर हम अधिक बल देना चाहते हैं, उस बात के द्योतक शब्द या शब्द-खंड वाक्य मे अनायास पहले व्यवहृत हो जाते हैं। ने, को, से कारक-चिह्नों को अपने स्थान पर सुरक्षित रहने दिया जाय और केवल शब्द-क्रम ही बदले जायँ तो अभिप्राय बिल्कुल बदल जायेगा। यथा

राम ने कमान से रावण को मारा अथवा
रावण ने कमान से राम को मारा

उपरोक्त दोनो वाक्य सरचना की दृष्टि से समान होते हुए भी पूर्णत विपरीत अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। अत स्पष्ट है कि कारक-चिह्नों के समान स्थिति मे रहने पर भी अन्य शब्दो का क्रम परिवर्तित होते ही अर्थ भी बदल जाता है।

वाक्य मे सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि के प्रयोग निश्चित होते है। वाक्यो मे इन सबके प्रयोग की सगति आवश्यक है। अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाओ मे शब्द-क्रम बदल देने से अर्थ भले ही न बदले, (जैसा कि ऊपर सस्कृत भाषा के उदाहरण से ज्ञात हो चुका है) फिर भी उन सब मे पदो के प्रयोग की निश्चित प्रणाली है जिसका उल्लघन नही किया जा सकता। हिन्दी के वाक्यो मे सज्ञा, सर्वनाम आदि रूप पहले आते हैं एव क्रिया अत मे प्रयुक्त होती है। यथा वह गया, राम जाता है, मोहन सोता है। प्रस्तुत वाक्यो में 'गया वह, जाता है राम, सोता है मोहन' आदि वाक्य हिन्दी वाक्य सरचना की दृष्टि से अशुद्ध माने जायेंगे। यह विशेषता प्राय सभी आधुनिक भाषाओ की है। अग्रेजी आदि आधुनिक यूरोपीय भाषाओ मे क्रिया वाक्य के मध्य में आती है। यथा

He is going to school (अग्रेजी)
Il vennela e'cole (फ्रेंच)

आधुनिक भारतीय भाषाओ मे कारक सम्बन्धी प्रत्यय बाद मे जोडे जाते हैं और ये कारक परसर्ग (Suffixes) की सज्ञा प्राप्त करते हैं। किन्तु आधुनिक यूरोपीय भाषाओ मे उन सम्बन्धों के द्योतक प्रत्यय पहले जोडे जाते हैं अतएव इनको प्रिपोजीशन (Preposition) कहा गया है। हिन्दी वाक्यो में तो आजकल

क्रिया, संज्ञा आदि का व्यतिक्रम भी मिलता है। यह हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव है। यथा 'मैं गया उनके पास और मैंने देखा कि वह पढ़ रहे हैं।' 'वास्तव में थे वे जग रहे लेकिन पड़े ऐसे थे कि जैसे सोने का बहाना कर रहे हों।' ऐसे वाक्य न केवल बोलने में वरन् लिखे हुए भी दृष्टिगत होते हैं। एक भाषा का दूसरे भाषा-भाषियों के परस्पर सम्पर्क से वाक्य के गठन पर यत्किंचित् विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसी कारण हिन्दी में कुछ वाक्य रचनाएँ रूपों से सम्बन्धित प्राप्त होती है। यथा

'मेरे मित्र ने मुझसे यह कहा कि मैं कल से कार्य आरम्भ करूँगा।' अंग्रेजी से प्रभावित होने पर प्रस्तुत प्रकार की रचना में कतिपय रूप भी परिवर्तित प्राप्त होते हैं। यथा

'मेरे मित्र ने मुझसे कहा कि वे कल से कार्य आरम्भ करेंगे।' इस वाक्य में वक्ता मित्र के शब्दों में न कहकर अपने शब्दों में उसी बात का अर्थ स्पष्ट करते हैं। अत: 'मैं' शब्द के स्थान पर 'वह' शब्द का प्रयोग होने पर अन्तिम क्रिया शब्द भी परिवर्तित रूप में प्रयुक्त है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा में वाक्य-विन्यास की अपनी अलग अलग विशेषताएं हैं।

वाक्य की परिभाषा करते हुए भारतीय वैयाकरणों ने वाक्य में क्रिया, अव्यय, विशेषण, कारक आदि का अस्तित्व अथवा केवल क्रिया (तिङन्त) का प्रयोग स्वीकार किया है। वाक्य में अन्य पदों के होते हुए भी क्रिया की प्रधानता रहती है। किसी ने साकांक्ष पदों के समूह को, किसी ने सुबन्त अथवा तिङन्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक वाक्य में एक ही क्रिया हो। एक से अधिक क्रियाए भी हो सकती हैं। हिन्दी में चलो, पढ़ो, चलिए, पढ़िए, जाओ, खाओ आदि क्रिया शब्द हैं परन्तु यह सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। अत: एक ही शब्द के वाक्य हैं। क्रिया से सम्बन्धित कर्त्ता इन वाक्यों में अन्तर्निहित है। इनका अर्थ प्रसंग से इस प्रकार लगाया जायेगा

(तुम) चलो। (तुम) पढ़ो।
(आप) चलिए। (आप) पढ़िए।
(तुम) जाओ। (तुम) खाओ।

संस्कृत में 'अस्ति' (है) का आशय (स) अस्ति से लगाया जायेगा। हिन्दी के हां! नहीं! अंग्रेजी के yes, no आदि से प्रसंग के आधार पर एक वाक्य का अर्थ निकलता है। इन वाक्यों में कर्त्ता एवं क्रिया दोनों ही नहीं हैं। बिना क्रिया के भी वाक्य होते हैं। यथा

संस्कृत में 'कुतो भवान्' अर्थात् आप कहाँ से आ रहे हैं ? 'अर्पणम्' अर्थात् तर्पण करो। हिन्दी में इस प्रकार के वाक्य भी प्रयुक्त होने लगे हैं जिनमें क्रिया नहीं होती एवं कभी-कभी उनसे दो अर्थों की अभिव्यक्ति हो जाती है। यथा—

'अरे ! किधर' अर्थात् अरे ! आप किधर जा रहे हैं ? अथवा अरे ! आप किधर से आ रहे हैं ? इस प्रकार के वाक्यों को शब्दात्मक वाक्यों की संज्ञा दी जा सकती है।

वाक्य-संरचना में एक से अधिक क्रियाओं का प्रयोग होने पर एक क्रिया मुख्य होती है और अन्य क्रियाएँ सहकारी। यह मुख्य क्रिया के विशेषण के रूप में रहती है। यथा—

'वह पढ़ता हुआ जाता है।'

प्रस्तुत वाक्य में 'जाता है' मुख्य क्रिया है, 'पढ़ते हुए' मुख्य क्रिया का विशेषण है। वाक्य से एक ही अर्थ का बोध होता है। वाक्य में प्रयुक्त सभी पद सामूहिक रूप में एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। वाक्य चाहे क्रिया-रहित हो या क्रियायुक्त, संज्ञा-रहित हो अथवा संज्ञायुक्त, वे एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पद मिलकर अपने-अपने अर्थों को उस एक अर्थ में ही अपने अर्थ को तिरोहित कर देते हैं। वे यदि अलग-अलग अपने अर्थ को सुरक्षित रखेंगे तो फिर वाक्य अस्पष्ट बना रहेगा। इस दृष्टि से वाक्य में मुख्य क्रिया (तिङन्त) की प्रधानता है। वाक्यार्थ मुख्य क्रिया से सम्बन्धित रहता है।

निकटस्थ अवयव (Immediate Constituent) वाक्यों में शब्द-क्रम की निश्चित व्यवस्था होने के कारण निकटस्थ अवयवों की बहुत महत्ता है। वाक्य भाषा के पूर्ण अवयव हैं एवं अर्थपूर्ण होते हैं। वाक्य संरचना के प्रसंग में कहा जा चुका है कि वाक्य में एक अथवा अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक शब्दात्मक वाक्य का विश्लेषण पृथक् पृथक् शब्दों में नहीं किया जा सकता, परन्तु जब अनेक शब्दों के संयोजन से वाक्य-संरचना होती है तो विश्लेषण की सुविधा के लिए निकटतम शब्दों की स्थिति के अनुरूप ही वाक्य के विभाजन कर लिए जाते हैं। भाषा का अनुवाद करने में वाक्यों को निकटस्थ अवयवों में बाँटकर अध्ययन करने में विशेष सुविधा प्राप्त होती है, क्योंकि भाषानुवाद में प्रत्येक शब्द का अर्थ ही महत्वपूर्ण नहीं होता, किन्तु शब्द जिन सन्दर्भों में प्रयोग किया जाता है, वह पृष्ठभूमि ही उचित अर्थ का ज्ञान करा सकती है। ऐसी स्थिति में हमें शब्द-विशेष का तात्पर्य जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता,

वरन् वाक्यों में जिन स्थितियों में शब्द का प्रयोग किया गया है, उनको निकटस्थ दशा का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक हो जाता है। इस कारण निकटस्थ अवयवों के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती है।

वाक्य में निकटस्थ अवयव ठीक-ठीक अर्थ-ज्ञान में सहायक होते हैं एवं इनका विभाजन पद-क्रम के अनुसार ही किया जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शब्द-क्रम में व्यतिक्रम उत्पन्न होने पर अर्थ समान रहेंगे, यद्यपि इनमें व्याकरणिक अशुद्धियाँ आ जायेंगी। अतएव वाक्यों में निकटस्थ अवयवों की दशा इस प्रकार रहेगी। यथा—

राम ने उस पुस्तक को श्याम से लेकर पढ़ा

उस पुस्तक को श्याम से लेकर राम ने पढ़ा

श्याम से लेकर उस पुस्तक को राम ने पढ़ा

उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में कुछ शब्दों की स्थिति निकटस्थ दशा में सदैव समान रहती है, परन्तु कुछ शब्दों की स्थिति शब्द-क्रम के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'श्याम से लेकर, उस पुस्तक को, राम ने,' शब्द सदैव ही निकटस्थ दशा में प्राप्त होते हैं परन्तु 'पढ़ा' शब्द की स्थिति दोनों अवस्थाओं में 'राम ने' के साथ सम्बद्ध है जबकि प्रथम

उदाहरण में वह 'राम ने' शब्दों से दूरी की स्थिति में है। निकटस्थ अवयव सदैव लिखित वाक्यों के आधार पर ही नहीं जाने जाते वरन् उच्चरित वाक्यों में 'वाक्यसुर' महत्वपूर्ण निकटस्थ अवयव के रूप में कार्य करता है। उदाहरणार्थ 'आप जा रहे हैं' सामान्य वाक्य का सुर—आप जा रहे हैं आश्चर्य-सूचक एवं प्रश्नसूचक स्थिति में विभिन्न रूप में अनुभव होगा 'आप जा रहे हैं'। कभी-कभी वाक्यों में निकटस्थ अवयवों की दशा इतनी कठिन हो जाती है कि उसका विश्लेषण भी जटिल जान पड़ता है। इस प्रकार की जटिलता अंग्रेजी भाषा के उन वाक्यों में प्राप्त होती है जिनमें प्रश्नसूचक रचना होने के कारण सहायक क्रिया वाक्य के आरम्भ एवं मुख्य क्रिया अन्त में होती है। यथा—

He is going वाक्य में **is going** रूप निकटस्थ स्थिति में है परन्तु **Is he going ?** में **is going** रूपों की निकटस्थता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की रचनाओं में अर्थ की दृष्टि से निकट होनेवाली रचनाओं को निकटस्थ स्थिति में रखा जा सकता है।

वाक्यों के प्रकार अध्ययन की सुविधा के लिए वाक्यों का दो प्रकार से विभाजन किया गया है (१) अर्थ की दृष्टि से (२) संरचना की दृष्टि से।

वाक्यार्थ की दृष्टि से वाक्यों का विभाजन आठ प्रकारों में किया गया है—

(१) **विधानार्थक** जिस रचना से किसी सामान्य कथन का बोध हो। जैसे—वह पुस्तक पढ़ता है।

(२) **निषेधार्थक** जिससे किसी बात का निषेध प्रकट हो। जैसे—सभी मनुष्य एक से नहीं होते।

(३) **आज्ञार्थक** जिसमें आज्ञा अथवा आदेश का बोध हो। जैसे—तुमको अब पढ़ना होगा। अधिकांश एक शब्दात्मक वाक्य प्राय इसी श्रेणी में आते हैं।

(४) **प्रश्नार्थक** जिससे प्रश्न का बोध होता है। जैसे वह कहाँ गया ?

(५) **विस्मयादिबोधक** जिससे विस्मय, आश्चर्य आदि का बोध होता है। जैसे अरे ! तुम आ गए ?

(६) **इच्छार्थक** जिससे इच्छा का बोध होता है। जैसे तुम चिरायु हो।

(७) **संदेहार्थक** जिससे संदेह या सम्भावना प्रकट होती है। जैसे वह आयेगा या नहीं आयेगा, कुछ कहना कठिन है।

(८) संकेतार्थक जिसमें संकेत का बोध हो। जैसे वह न आता तो मैं जाता।

वाक्य-संरचना की दृष्टि से वाक्य का गठन 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो रूपों में विभाजित किया गया है। वाक्य में प्रतिपादित विषय 'उद्देश्य' और उसके लिए जो विधान किया जाए वह 'विधेय' कहलाता है। जैसे शिकारी शिकार करता है। प्रस्तुत वाक्य में 'शिकारी' उद्देश्य है और 'शिकार करता है' विधेय होगा। वाक्य का भेद कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, और भाववाच्य तीन रूपों में हुआ है जिसका उल्लेख रूप-विज्ञान के प्रकरण में किया जा चुका है। अतः कर्ता को उद्देश्य और कर्म, क्रिया, अव्यय आदि को विधेय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भाववाच्य में क्रिया की प्रधानता होती है। अतः इस प्रकार के प्रयोग में उद्देश्य क्रिया में ही निहित रहता है। रचना की दृष्टि से वाक्यों को क्रियाविहीन एवं क्रियायुक्त वाक्यों में भी बाँटा जा सकता है। क्रियाविहीन वाक्यों का परिचय एक शब्दात्मक वाक्य में दिया जा चुका है, एवं अधिकांश वाक्य क्रियायुक्त होते हैं।

वाक्यों का एक वर्ग अन्तःकेन्द्रित और दूसरा बहिर्मुखी होता है। जिन वाक्यों का कोई अंग-विशेष अथवा शब्द वही भाव प्रकट करता हो, जो वाक्य में निहित हो अथवा उसका कोई मौलिक तत्व भी प्रकट करे, इस प्रकार की रचनाओं में वाक्यार्थ वाक्य में ही केन्द्रित होने के कारण रचना अन्तःकेन्द्रित या अन्तर्मुखी कहलाती है। जैसे मुझे पुस्तक दो अथवा मुझे अच्छी पुस्तक दो। इन दोनों वाक्यों में 'पुस्तक' एवं 'अच्छी पुस्तक' शब्दों के तात्पर्य से भाव में अन्तर नहीं आता। इसके विपरीत रचना बहिर्मुखी अथवा बहिर्केन्द्रित कहलाती है। इसमें एक शब्द पूरी रचना के स्थान पर नहीं आ सकता। इसमें अधिकांशतः कारक-चिह्न युक्त रचनाएँ आती हैं, जो स्वतः पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करती। यथा-मेज पर, पुस्तक से, लड़के को आदि ऐसी ही रचनाएं हैं जो अन्य शब्दों की अपेक्षा रखती है। इन वाक्यों को इस प्रकार पूरा किया जा सकता है मेज पर पुस्तक रखी है, पुस्तक से कागज गिर पड़ा, लड़के को पुस्तक दो आदि।

वाक्य में, संज्ञा, सर्वनाम और अनुकूल क्रिया का प्रयोग अथवा वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के व्याकरणिक रूपों में ऐक्य का होना आवश्यक है। इसे वैयाकरणों ने 'अन्वय' के नाम से दिया है। भाषा में व्याकरणिक प्रयोगों के रूप इतने रूढ़ हो गए हैं कि उनका पालन यदि न किया जाए तो भी वाक्यार्थ के बोध में बाधा हो सकती है। हिन्दी की विशेषता है कि संज्ञा के लिंग, वचन,

कारक के अनुसार ही क्रिया का रूप वाक्य में व्यवहृत होता है। जैसे—युवक शारीरिक श्रम करता है। युवती शारीरिक श्रम करती है। इसी प्रकार सर्वनाम के पुरुष, वचन, लिंग के अनुसार क्रिया का रूप बनाया जाता है। यथा—वह जाता है, वे जाते हैं।

व्याकरणिक रूपों में ऐक्य का होना वाक्य-रचना की एक मुख्य विशेषता है। वाक्य में अपेक्षित अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग ही वाञ्छनीय है। ऐसे शब्दों का प्रयोग जो एक दूसरे के सापेक्ष नहीं हैं या अर्थ की दृष्टि से परस्पर संबंधित नहीं हैं, वे वाक्य में एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते। यथा—लड़का पढ़ता है, घोड़ा हिनहिनाता है। इस वाक्य को 'लड़का हिनहिनाता है', 'घोड़ा पढ़ता है' रूप में रखा जाए तो दूसरे वाक्य में शब्दों की संगति नहीं बैठती। इस पर वाक्य की योग्यता के प्रसंग में विचार किया जा चुका है।

वाक्य का विभाजन साधारण वाक्य, मिश्र वाक्य तथा संयुक्त वाक्य के नाम से भी किया गया है। वाक्य की संयोजना में अंग्रेजी प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। जैसे—राम ने उस पुस्तक को, जो कि मेज पर रखी थी, उठा लिया। वाक्य में पदों का इस प्रकार का गठन अंग्रेजी विचार-पद्धति का परिणाम है। हिन्दी पदावली की संयोजना इस प्रकार होगी—राम ने उस पुस्तक को उठा लिया जो कि मेज पर रखी थी।

विशेषण उपवाक्य हिन्दी में बिल्कुल बाद में आया है। अपने विशेषण के सन्निकट वह नहीं होता जैसी कि अंग्रेजी की प्रथा है।

वाक्य-संरचना में परिवर्तन किसी अन्य भाषा से प्रभावित होने पर भाषा की पदावली, संरचना आदि बदल जाती है। हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी के प्रभाव के उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। भारतीयों द्वारा बोली जाने वाली अंग्रेजी में भी कभी-कभी हिन्दी वाक्य-रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी में लम्बे वाक्यों का प्रयोग भी विदेशी देन है, साथ ही फारसी के प्रभाव के कारण 'कि' लगाकर वाक्य बनाने की परम्परा हिन्दी में प्रचलित हो गई। प्राचीन भारतीय भाषाओं के विकसित काल में धीरे-धीरे विभक्तियों का लोप होता गया एवं कारकीय परसर्ग शब्द के साथ प्रयोग में आने लगे, साथ ही सहायक शब्दों का प्रयोग होने लगा है। यथा—

'मैं आ ही रहा था' के स्थान पर 'मैं तो आ ही रहा था।' इस प्रकार के अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग प्रचलन में आ गया है। विभक्तियों के क्षय से भाषा शनैः शनैः जब संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर विकसित होती है तो वाक्य में पद-क्रम निश्चित होते जाते हैं, ऐसी अवस्था में वाक्य-रचना में पद-

क्रम की प्रमुखता हो जाती है। भावों की अभिव्यक्ति के हेतु बलपूर्वक कोई बात कहने के लिए पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जन सामाजिक शब्दों का वाक्यों में अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। किसी वर्ग-विशेष के व्यक्तियों की मानसिक दशा भी वाक्य-रचना को जटिल अथवा सरल बना देती है।

अध्याय ३

भाषा-वर्गीकरण के सिद्धान्त तथा भारतीय भाषाएँ

भाषा समाज-सापेक्ष होती है, यह पहले कहा जा चुका है। भाषा के प्रत्येक शब्द और रूप-गठन पर समाज की छाप लगी होती है। भाषा और मनुष्य-समुदाय के इसी घनिष्ट सम्बन्ध तथा उनकी पारस्परिक समानता और भिन्नता के आधार पर भाषाओं को अनेक परिवारो मे बाँटा गया है। यद्यपि मनुष्य और भाषा का यह औपचारिक प्रयोग पूर्णतया युक्तिसगत नही जान पडता, किन्तु इससे भाषा के मूल स्रोत तथा विकास की जानकारी सहज अवश्य हो जाती है। ससार मे जैसे मनुष्य जनमता है, बढता है और मिट जाता है वैसे ही भाषाओ का भी उदय होता है, विकास होता है और उनका लोप हो जाता है। ऐसी अनेक भाषाओं के उल्लेख मिलते है, जिनका प्राचीन काल मे प्रयोग होता था, उनमे साहित्य-सृजन भी हुआ, किन्तु उनके बोलनेवाले आज नही पाये जाते।

प्राय भाषा की ध्वनियाँ और शब्द ही उसके परिचित रूप का बोध कराते हैं। भाषा की ध्वनिया तथा शब्द कर्ण-कुहरो मे प्रवेश करके अपने पूर्व परिचित होने की पुष्टि जब तक करते रहते है तब तक भाषा की साधारण पृथकता खटकती नही, लेकिन ज्यो ही भाषा की ध्वनियाँ और शब्द कानो को अपने अर्थ का सम्यक् बोध नही करा पाते भाषा की पृथकता स्पष्ट हो जाती है। मनुष्य का यह प्रयास होता है कि वह अपनी व्यक्तिगत मानसिक क्रियाओ का प्रयोग भाषा मे तभी तक करे जब तक कि वह श्रोता के लिये बोधगम्य बना रहता है। वक्ता और श्रोता मे पारस्परिक बोधव्यता (**mutual intelligiblity**) की भावना भाषा को एक-रूप बनाये रखने मे समर्थ होती है। भाषाओ की स्थानीय समीपता से उनकी पारस्परिक समानता के भाव का उदय होता है। यद्यपि यह सदैव आवश्यक नही है कि स्थानीय समीपता के कारण भाषाएँ समान ही हो और स्थानीय दूरी के कारण वे भिन्न ही हो। भाषाओ के प्रचार और प्रसार मे अन्य कारण भी बराबर योग देते रहते हैं। इसके लिए देश और जातियो के इतिहास, व्यवसाय आदि की जानकारी भी आवश्यक होती है। भारतवर्ष के दक्षिण भाग की भाषाएँ आर्य भाषाओ से भिन्न द्राविड परिवार की हैं, किन्तु यूरोप की भाषाएँ इतनी दूर होते हुए भी आर्य-भाषा कुल की ही है।

पारिवारिक वर्गीकरण के अतर्गत अनेक भाषाओं का मूल स्रोत किसी एक प्राचीन अनुमानित भाषा से जोड़ा जाता है। भाषा का शब्द-समूह उसका महत्व-पूर्ण अग है। शब्दो की समानता और भिन्नता भाषाओ के परस्पर सम्बन्ध-निर्धा-रण करने मे अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। आदिम काल से लेकर अब तक मनुष्य-समुदाय शब्दो का प्रयोग करता चला आया है। यह ठीक है कि राष्ट्रीय चेतना या सभ्यता के अनुरूप भाषाओ का शब्द-समूह बनता-बिगडता रहता है लेकिन बहुत से जन-सामान्य प्रयोग वाले शब्द प्राचीन काल मे भी थे और आज भी उनका वैसा ही प्रयोग होता है।

भाषा के शब्द-समूह का दो मुख्य विभाजन-देशी और विदेशी किया जा सकता है। एक देश के रहने वाले लोगो का अपने विभिन्न प्रदेशो तथा अन्य देशों के लोगो से सम्पर्क होने पर उनमे शब्दो का परस्पर आदान-प्रदान स्वाभाविक है। यहाँ पर देशी शब्दो का आशय भाषा के अपने शब्द से है जिसका सम्बन्ध किसी अन्य परिवार के शब्दो से नहीं होता। किन्तु देशी शब्द सकुचित अर्थ मे भी लिया जाता है। अनुरणनात्मक तथा वे शब्द जो अपनी परम्परा का निर्देश नही करते 'देशी' कहे जाते हैं। विदेशी शब्द भिन्न समुदाय के होते हैं। वे दो देशो या जाति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषा मे स्थान प्राप्त करते हैं। राजनीतिक, धार्मिक, व्यावसायिक कारणो से विदेशी शब्द किसी भाषा मे घुलमिल अवश्य जाते हैं, परन्तु उस भाषा की ऐतिहासिक परम्परा बताने मे वे अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। भाषा के ऐतिहासिक रूप को ऐसे शब्द ही प्रकट करते हैं जिनके विकास की परम्परा होती है। इन शब्दो को 'तद्भव' कहा गया है। भारतीय आर्य भाषाओं-हिंदी, बगला, मराठी, गुजराती, पजाबी आदि मे ऐसे समानार्थी शब्दो की प्राचीन परम्परा मिलती है। इन्हें सस्कृत-भाषा से सम्बन्धित किया गया है।

ध्वनियो और व्यावहारिक गठन की समानता से भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण की पुष्टि हो जाती है। केवल शब्दो की समानता से भाषा के ऐति-हासिक रूप का पूरा-पूरा निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि ये सबध आकस्मिक भी हो सकते हैं। भाषाओ के ऐतिहासिक सम्बन्धो की चर्चा १७वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी, परन्तु उसके वैज्ञानिक विवेचन की परम्परा पाश्चात्य विद्वानो द्वारा तब आरम्भ हुई जब उन्हे सस्कृत के अतुलित एव युगव्यापी साहित्य की जानकारी सम्भव हो सकी।

पाश्चात्य विद्वान सर विलियम जोन्स् ने १८वी शताब्दी के अन्त मे यह स्पष्ट किया कि सस्कृत भाषा ग्रीक और लेटिन के सदृश सम्पन्न, महत्वपूर्ण

और उन्नत भाषा है और इन सब का मूल स्रोत किसी एक प्राचीन भाषा से सिद्ध होता है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ भी तभी से माना जा सकता है। भारतीय प्राचीन व्याकरण को आदर्श माना गया, क्योंकि यूरोप अथवा अन्य किसी देश की भाषा इतनी पूर्ण और नियमबद्ध नहीं थी। आरम्भ में लोगों ने यही विश्वास किया कि संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की जननी है, किन्तु बाद में यह स्पष्ट हुआ कि संस्कृत, यूरोपीय आदि भाषाओं का मूल स्रोत किसी एक आदिम आर्य-भाषा से है। इन सब भाषाओं में बहनवत् सम्बन्ध का निर्धारण किया गया। ईरानी, आर्मीनी, बल्गानी भाषाओं का भी भारोपीय भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस प्रकार भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की नींव पड़ी। भाषाओं की ध्वनियों और व्याकरणिक विशेषताओं के आधार पर उनमें ऐतिहासिक सम्बन्ध जोड़ा गया। इनमें शब्दों की समानता, स्थानीय समीपता आदि विशेषताएँ सहायक सिद्ध हुईं। उनका विभाजन विविध परिवारों के रूप में किया गया।

इस प्रकार का एक परिवार आर्य अथवा भारोपीय है जिसकी भाषाएँ अनुमानित आदिम आर्य-भाषा से उद्भूत मानी गईं। यथा संस्कृत-मातृ, ईरानी-मादर, प्राचीन जर्मन-मतेर, आर्मीनी-मैर, ग्रीक-मेतेर, लेटिन-मातेर प्राचीन आयरी-माथिर, स्लावी-मति आदि। इन सब का सम्बन्ध अनुमानित आदिम आर्य भाषा के *मेतेर (*méter) शब्द से जोड़ा गया। इसी प्रकार संस्कृत पितृ, ईरानी-पिदर, ग्रीक-पेतेर, लैटिन-पतेर, प्राचीन जर्मन-फादेर (अंग्रेजी-फादर), संस्कृत-भ्रातृ, ईरानी-बिरादर, ग्रीक-फ्रातेर, लैटिन-फ्रातेर, प्राचीन जर्मन-ब्रुदेर (अंग्रेजी-ब्रदर) आदि। संस्कृत-मधु, ईरानी-मधु, ग्रीक-मेदु, लेटिन-मेदु, लिथुएनी-मीदुस आदि। संस्कृत-दश, ईरानी-दस, ग्रीक-देक, लेटिन-देसेम्, जर्मन-जेहन्, आर्मीनी तस्न, गॉथी-तइहुन, स्लावी-देसेतु। इनका सम्बन्ध आदिम आर्य *देकोम् या *देक्म् से जोड़ा गया। शब्दों की समानता ध्वनियों को स्पष्ट कर देती है। उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आदिम आर्य की 'द' ध्वनि ग्रीक, लैटिन में-द, भारत-ईरानी में-द, प्राचीन जर्मन में-त, त्स (ज़) आदि रूपों में मिलती है।

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बहुत-सी भाषाओं में ध्वनियों और व्याकरणिक रूपों की समानता नहीं मिलती। शब्दों की समानता का भी अभाव मिलता है तथा केवल उधार लिए हुए कुछ शब्द ही समान होते हैं। शब्दों के क्रम, वाक्य के गठन आदि में भी समानता नहीं है। ऐसी दशा में उन भाषाओं को अलग-अलग समुदायों में रखना समीचीन होता है।

भाषाओं के वर्गीकरण के लिए पर्याप्त सामग्री का होना आवश्यक है। कभी कुछ भाषाओं के कतिपय शब्द ही उपलब्ध होते हैं जो केवल शिलालेखों अथवा सिक्को पर अंकित हैं और वह भी विकृत रूप मे। ऐसी दशा मे भाषाओं का लोप हो जाने पर केवल कुछ उदाहरणों से उनका समुचित वर्गीकरण निश्चित रूप मे सम्भव नही हो पाता। भाषाओं की उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के नियमित ज्ञान के अभाव के कारण भी वर्गीकरण मे कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए सुमेरी की प्राचीनतम सामग्री ४००० ई० पू०, मिस्र देश की ३५०० ई० पू०, सामी और चीनी की २५०० ई० पू०, आर्य या भारोपीय की १५०० ई० पू०, तिब्बती-बर्मी की ९०० ई०, तुर्की की ८०० ई०, द्राविड की ५०० ई० तथा अनेक ऐसी जापानी, अफ्रीकी, अमरीकी भाषाएँ हैं जिनके लिपिबद्ध रूप अर्वाचीन काल के ही हैं। साथ ही किसी एक परिवार की अनेक भाषाओं का समुचित विकास भी समान रूप मे नही पाया जाता।

इसके अतिरिक्त शब्दो के आदान-प्रदान से भी वर्गीकरण मे एक कठिनाई होती है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि प्रभावो के कारण भाषाओं का स्वरूप थोडा-बहुत बदलता रहता है। आर्मीनी भाषा-समुदाय मे ईरानी भाषा के शब्दो के अत्यधिक प्रयोग होने के कारण बहुत काल तक उसे ईरानी-समुदाय के अन्तर्गत माना जाता रहा। लेकिन बाद मे यह गलत प्रमाणित हुआ। उर्दू भाषा के सम्बन्ध मे भी यही सन्देह हो सकता है क्योंकि उनमे फारसी की शब्दावली प्रधान है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। वह अपने व्याकरणिक गठन के कारण हिन्दी के अन्तर्गत ही मानी जाती है।

ससार की समस्त भाषाओं की न तो अभी तक खोज ही हुई है और न उनका पूर्ण अध्ययन ही सम्भव हो सका है। अतएव भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अभी अधूरा है। फिर भी भाषाओं का अध्ययन जितना सम्भव हो सका है उसके अनुसार उनका पारिवारिक विभाजन एक मान्य सिद्धान्त है। आर्य, चीनी, सामी, हामी, द्राविड, बांटू, आस्ट्रो, यूराल-अल्ताई आदि ऐसे ही परिवार है।

भाषाओं के वर्गीकरण का दूसरा आधार वाक्य के गठन से सबधित है। भाषाओं की बनावट देखने से ज्ञात होता है कि उनके दो रूप प्रधान है एक अयोगात्मक (isolating) है और दूसरा योगात्मक (agglutinating)। अयोगात्मक मे अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) की सत्ता अलग अलग होती है, उनका योग नही होता और योगात्मक मे दोनो तत्त्वो का योग रहता है। दोनो की सत्ता कभी अलग-अलग स्पष्ट रहती है और कभी

उनका एक दूसरे मे लोप हो जाता है। अयोगात्मक भाषाओ मे चीनी परिवार की भाषाएँ प्रमुख है। उनमे सज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि जैसे शब्द के व्याकरणिक रूपो मे कोई निश्चित अन्तर नही किया जाता। एक ही शब्द सुर-भेद और स्थान-क्रम के अनुसार किसी भी व्याकरणिक रूप को प्रकट कर सकता है। उदाहरण—त जिन्-वडा आदमी, जिन त—आदमी वडा है, हुआ पओ मीनराजा प्रजा की रक्षा करता है, मीन पओ हुआ-प्रजा राजा की रक्षा करती है।

योगात्मक भाषाओ का एक रूप ऐसा भी है जिसमे सम्बन्ध-तत्त्व शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त मे इस प्रकार जुडता है कि दोनो तत्त्वो को अलग-अलग स्पष्ट किया जा सकता है। इन्हे पूर्व-अश्लिष्ट, मध्य-अश्लिष्ट और अन्त-अश्लिष्ट के नाम से माना गया है। अफ्रीका की वाँटू परिवार की भाषाएँ क्रमश. प्रथम, मुडा (आस्ट्रीक परिवार) की भाषाए द्वितीय, तुर्की (यूराल-अल्ताई) तथा द्राविड परिवार की भाषाएँ तृतीय कोटि की है। वाँटू न्तु-मनुष्य, उमुन्तु—एक मनुष्य, अवन्तु-अनेक मनुष्य, मुडा-मझि-मुखिया, मपझि (मुखिया-गण), तुर्की-सेव्—प्रेम करना,-सेव्मेक्-परस्पर प्रेम करना, सेव्एर-प्रेमी, सेवएरिम—मैं प्रेम करता हूँ, सेव-मे-मेक्-प्रेम न करना, सेव-दिर-मेक्-प्रेम कराना आदि, एव-घर, एवलेर-अनेक घर, ऐवदेन्-घर से, एवलेरदेन्—घरो से।

योगात्मक भाषाओ के दूसरे प्रकार मे अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के योग होने पर अर्थतत्त्व के मूल रूप मे परिवर्तन हो सकता है। दोनो तत्त्वो की पृथकता पूर्ण स्पष्ट नही रहती। इन्हे श्लिष्ट योगात्मक कहा गया है। प्राचीन आर्य और सामी परिवार की भाषाए इसी कोटि की हैं। यथा-सस्कृत अस्ति (वह है), ग्रीक-एस्ति, लेटिन-एस्ति, स्लावी-जेस्ति, सस्कृत-असि (तू है), ग्रीक-लेटिन एसि, स्लावी-जेस्सि, सस्कृत-अस्मि (मै हूँ), ग्रीक-एइमि, लेटिन-सुम, गाथी-इमि, अग्रेजी ऐम, लियुएनी-एस्मि, स्लावी-जेस्मि आदि। प्राचीन आर्य भाषाओ के सज्ञा सर्वनाम, क्रिया आदि रूपो के अन्त मे विभक्तियाँ जुडती थी। आधुनिक आर्य भाषाओ मे कारक-चिह्न और प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। अरवी, हिब्रू आदि भाषाओ मे भी विभक्तियाँ जुडती है लेकिन विभक्तियाँ अर्थतत्त्व के वीच मे जुडती है, प्राचीन आर्य भाषाओ की भाँति अन्त मे नही। इस दृष्टि से ये भाषाएँ अन्तर्विभक्ति प्रधान और आर्य भाषाएँ वहिर्विभक्ति-प्रधान भाषाएँ कहलाती है। जैसे अरवी-क्तुव्—लिखना, कातिव-लिखने वाला, मकतव—जहाँ लिखा जाय, यक्तुवु—वह लिखेगा, अक्तुवु-मैं लिखूगा, यक्तुवून-वे लिखेंगे, नक्तुवु-हम लिखेंगे आदि।

योगात्मक भाषाओं के तीसरे प्रकार में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व मिलकर एक इकाई से प्रतीत होने लगते हैं। दोनों की पृथक सत्ता का बिल्कुल लोप हो जाता है। वाक्य एक बड़ा शब्द सा बन जाता है। इन्हें प्रश्लिष्ट योगात्मक (polysynthetic) कहा गया है। यथा-अमरीका की एस्किमो भाषा-तकुसरइअर्तोरउसमलुअर्नेर्पअ—क्या तुम सोचते हो कि वह उसे देखने के लिए वास्तव में जाना चाहता है? अमरीका की ग्रीनलैंड की भाषा का एक उदाहरण है अउलिसरिअतोरसुअर्पोक—वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है। इनमें कई वाक्यों के अंग मिलाकर एक वाक्य बनाया जाता है। पहले का विश्लेषण इस प्रकार होगा—तकुसर्—वह उसमें अपने को व्यस्त करता है, इअर्तोर—वह जाता है, उस-वह चाहता है, जलुअ—वह करता है, नेर्प-अ-क्या तुम सोचते हो वह। दूसरा वाक्य है अउलिसर (मछली मारना), पेअर्तोर (काम में लगाना), पेसुसुअर्पोक (वह जल्दी करता है)।

भाषाओं के इन भेदों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अयोगात्मक भाषाएँ सर्वप्रथम योगात्मक थी और कालान्तर में अयोगात्मक हो गई अथवा अर्वाचीन योगात्मक भाषाएँ अयोगात्मक थी और बाद में योगात्मक बन गई। बाद वाला कथन बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। विद्वानों का अनुमान है कि प्रारंभिक अवस्था की भाषाएँ योगात्मक होती हैं और धीरे-धीरे उनका विकास अयोगात्मक रूप में हो जाता है जैसा कि आर्य परिवार की भाषाओं के सम्यक् विकास से सिद्ध होता है। यूरोप की ग्रीक, लेटिन, गॉथी, स्लावी, ईरान की प्राचीन फारसी, अवेस्ती, भारत की संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएँ योगात्मक थी किन्तु आज यूरोप की फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, रूसी आदि, ईरानी की अर्वाचीन फारसी, पश्तो, बलूची आदि, भारत की हिन्दी, बंगला, मराठी, पंजाबी आदि भाषाएँ अयोगात्मकता के अत्यधिक निकट हैं। अमरीका के मूल निवासियों की भाषाओं का गठन प्रश्लिष्ट योगात्मक है। उनकी भाषाओं में अभी तक कोई स्पष्ट रूप से विकास नहीं हुआ है। अनुमान है कि विकसित होने पर इनका यह रूप न रह जायेगा। भाषा के गठन में इस प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। उनका रूप निश्चित नहीं है इसलिए कुछ विद्वानों के मत में भाषाओं के वर्गीकरण का केवल एक निश्चित आधार है और वह है ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण।

आर्य-भाषा परिवार और हिन्दी

पहले उल्लेख हो चुका है कि विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण उनकी

आकृति तथा ऐतिहासिक सम्बन्धो के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भाषा के प्रयोग मे अपनी-अपनी विशेषता को सन्निहित कर देता है। इस दृष्टि से ससार मे जितने मनुष्य है उतनी ही भाषाएँ भी कही जा सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति एक दूसरे से भिन्न होती हैं और भाषा का प्रयोग करते समय अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उसमे थोडा बहुत परिवर्तन कर लेना स्वाभाविक ही है, किन्तु भाषा-वर्गीकरण मे इतना सूक्ष्म अध्ययन सम्भव नही होता। ससार की ज्ञात भाषाओ का विभाजन कुलो के रूप मे हुआ है, यह पहले बताया गया है। समान आकृति तथा समान शब्दो वाली भाषाओ को एक कुल तथा भिन्न आकृति और भिन्न शब्दावली से सबधित भाषाओ को दूसरे कुल के अन्तर्गत रखा गया है। कुलो अथवा परिवारो के रूप मे भाषाओ के विभाजन की परम्परा नई तथा वैज्ञानिक अवश्य है यद्यपि कुछ भाषाएँ ऐसी भी है जिनको विशेषताओ की दृष्टि से किसी परिवार-विशेष से सबधित नही किया जा सकता। उनका एक स्वतन्त्र समुदाय मानना ही युक्तिसगत है। किन्तु ऐसी भाषाओ की सख्या कम ही है। प्राचीन भाषाएँ सुमेरी, मित्तानी, एत्रुस्कन आदि तथा आधुनिक भाषाएँ जापानी, कोरियाई, बास्क आदि इसी कोटि की भाषाएँ है।

ससार के भाषा-परिवारो मे आर्य (भारोपीय) परिवार सब से अधिक समृद्ध और उन्नत माना गया है। इस परिवार की भाषाओ को केंतुम् और सतम् दो वर्गों मे बाँटा गया है। सन् १८७० ई० मे ऐस्कोली (Ascoli) नामक पाश्चात्य विद्वान ने यह स्थिर किया कि आदिम आर्य भाषा की कण्ठ्य और तालव्य ध्वनिया क, ख, ग, घ कुछ भाषा-समूहो मे तो सुरक्षित रही और कुछ मे उनका परिवर्तन ऊष्म स, श मे हो गया। इस विभाजन का आधार विविध आर्य भाषाओ मे 'सौ' की सख्या के लिए प्रयुक्त शब्द-विशेष को माना गया। आदिम आर्य भाषा मे यह *कम्$_0$तोम् शब्द रहा होगा जिसके आधार पर लेटिन मे इसके लिए केन्तुम् (centum) और ईरानी (अवेस्ती) मे सतम् (satəm) शब्दो का विकास मिलता है। केन्तुम् एक भाषा-वर्ग का और सतम दूसरे भाषा-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। केन्तुम् के अन्तर्गत केल्टी, इटाली, जर्मन, ग्रीक, हित्ताइत और तोखारी एव सतम् के अन्तर्गत अल्बानी, आर्मीनी, स्लावी तथा हिन्दी-ईरानी भाषा-समूहो की गणना की जाती है। किन्तु आदिम आर्य भाषाओ मे यह भेद प्रारम्भ से ही रहा होगा, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। पहले केन्तुम् को पश्चिमी और सतम् को पूर्वी भाषा-वर्ग माना जाता था किन्तु इसी शताब्दी मे जब से पूर्व मे मध्य-एशिया की एक भाषा तोखारी और एशिया-

आर्मीनी भाषा-समूह को आर्य-परिवार का एक स्वतन्त्र भाषा-समूह न मानकर भारत-ईरानी भाषा-समूह की एक शाखा के रूप मे माना जाता था क्योकि आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ सम्बन्ध था। आर्मीनी मे फारसी के दो-हजार से अधिक शब्द मिलते हैं किन्तु भाषा-गठन की दृष्टि मे अब इमे आर्य-परिवार का एक स्वतन्त्र भाषा-समूह माना जाता है। यह ग्रीक और काकेशी भाषाओ से भी सम्बन्धित है। इसमे ५वी शताब्दी का बाइबिल का अनुवाद मिलता है। इस भाषा की बोलियो का उद्भव १२वी शताब्दी से माना गया है। आज कल इसका केन्द्र काकेशस पर्वत का दक्षिणी भाग है। वाक्य-रचना पर तुर्की का प्रभाव अधिक है।

अल्बानी की कई बोलियाँ प्रचलित मिलती हैं। शुम्बी नदी के उत्तर मे गेग (Geg) और दक्षिण मे टोस्क् (Tosk) का व्यवहार होता है। भाषा-गठन तथा ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओ की दृष्टि से यह आर्य-परिवार के अन्तर्गत है यद्यपि शब्द-समूह विदेशी भाषाओ से अधिक सम्बन्धित है। इसका अधिकाश साहित्य १७वी शताब्दी से मिलता है। इनमे लोक गीतो की प्रचुरता है। यह केतुम् समूह की प्राचीन इलीरियन तथा थ्रेसोफ्रीजी भाषा से भी सम्बन्धित मानी जाती है।

बाल्टोस्लावी भाषा-समूह के दो मुख्य समुदाय हैं—बाल्टी और स्लावी। बाल्टी-समुदाय की तीन मुख्य भाषाएँ है प्राचीन प्रशियाई, लिथुएनी तथा लेटेवी। प्राचीन प्रशियाई भाषा जर्मनी के एक प्राचीन प्रदेश प्रशिया मे प्रचलित थी। किन्तु १९वी शताब्दी के अन्त मे इसका लोप हो गया। इसमे १९वी शताब्दी के मध्य की कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। लिथुएनी भाषा का प्रसार लिथुएनिया प्रदेश मे मिलता है। इनका साहित्य १५४७ ई० से उपलब्ध होता है। इसके दो मुख्य भेद उच्च (दक्षिणी भाग मे) और निम्न (उत्तरी भाग मे) माने गये हैं। लिथुएनी मे भाषा के प्राचीन रूप अब भी वर्तमान मिलते है। लेटेवी भाषा लिथुएनी की अपेक्षा अधिक विकसित मानी जाती है। इसके तीन मुख्य भेद हैं—पश्चिमी कुर्लैण्ड और लिवोनिया का निम्न-रूप, मध्य-रूप तथा दक्षिणी-पूर्वी लिवोनिया एव कुर्लैंड के पहाडी भाग का उच्च रूप। इसमे उच्चारण, विभक्ति आदि सम्बन्धी प्राचीन विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

स्लावी-समुदाय के तीन भेद मिलते हैं दक्षिणी, उत्तरी और पश्चिमी। इनमे दक्षिणी की प्राचीन भाषाएँ पुरानी बल्गेरी (चर्च स्लावी), अर्वाचीन बल्गेरी और सर्वोक्रोटी हैं। उत्तरी समूह के तीन भेद महारूसी, श्वेत रूसी और लघु रूसी हैं। इनमे महारूसी प्रधान और मास्को के निकटवर्ती भाग की

भारतीय आर्य समूह

दर्दी समूह

(प्राचीन भारतीय आर्य १५०० ई०पू०)

साहित्यक विभाषा

लौकिक विभाषाएँ

माइनर की हित्ताइत परिचमी गठन की सिद्ध हो गई तब से केन्तुम् वर्ग को केवल पश्चिमी भाषा-समूह के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता।

केल्टी (Celtic) भाषाओं का क्षेत्र प्राचीन काल में काफी विस्तृत था। अब इनका विस्तार केवल आयर्लैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स, कार्नवाल प्रदेशों में मिलता है। केल्टी के तीन समूह–गौली (Gaulic), गोइडेली (Goidelic) और ब्रिथोनी (Brythonic) हैं। दूसरे समूह की भाषाएँ आइरी, स्काच और गैली तथा तीसरे समूह की भाषाएँ वेल्श, ब्रिटन और कार्निश हैं। इंग्लैंड में प्रचलित अंग्रेजी भाषा इस वर्ग की नहीं है, वह जर्मन-समूह की है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

आयर्लैंड के स्वतन्त्र होने के बाद से ही वहाँ की प्राचीन भाषा आयरी (गैली) का पुनरुद्धार किया गया है तथा उसे राष्ट्रीय प्रोत्साहन से विकसित किया जा रहा है। गैली भाषा के प्राचीन नमूने ५वीं शताब्दी के शिलालेखों में मिलते हैं।

इटाली-भाषाओं के तीन समुदाय लेटिन, आस्को-उम्ब्रियन तथा सेवि-लियन हैं। इनमें लेटिन सब से सवृद्ध समुदाय था। लेटिन-भाषा के कई रूपों का उल्लेख मिलता है। इसके दो मुख्य भेद शिष्ट अथवा साहित्यिक और लोक-सामान्य हैं। इस लोक रूप से ही रोमान्स भाषाओं का विकास हुआ जिनमें इटाली (इटली, सिसली, कार्सिका का भाषा-समूह), रूमानी, प्रोवेंगल, फ्रेंच, पुर्तगाली, स्पेनी, सार्डीनी आदि मुख्य हैं। ये भाषाएँ अपने-अपने देशों में प्रचलित होने के अतिरिक्त जहाँ-जहाँ इन देशों का प्रमुत्व हुआ वहाँ भी वे प्रवेश कर गई। भारत के कुछ भागों में फ्रेंच, पुर्तगाली तथा अमरीका, अफ्रीका के कुछ भागों में इटाली, फ्रेंच, पुर्तगाली, स्पेनी आदि भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। लेटिन और संस्कृत में काफी समानता है, इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जर्मन-समूह की भाषाएँ 'ट्यूटानी' भी कही जाती हैं। इसके तीन भेद-उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी हैं। उत्तरी के अन्तर्गत प्राचीन भाषा की गणना की जाती है। ११वीं शताब्दी से इसका विभाजन पश्चिमी और पूर्वी दो रूपों में हुआ। पश्चिम के अन्तर्गत आधुनिक भाषाओं में आइसलैंड की आइसलैंडी, नार्वे की नार्वेजी तथा पूर्वी के अन्तर्गत स्वीडेन की स्वीडी और डेनमार्क की डेनी मुख्य हैं। पूर्वी समुदाय की प्राचीन भाषा गॉथी है। पश्चिमी भेद की तीन शाखाएँ–अंग्रेजी, फ्रँच, जर्मन और डच हैं। अंग्रेजी भाषा का नाम ऍंगिल (Angel) जाति के नाम पर प्रचलित हुआ। पाँचवीं, छठीं शताब्दी में इस

जाति ने सैक्सन, ज्यूट आदि जातियों के साथ ब्रिटेन पर आक्रमण किया और वहाँ का शासक होने पर उनकी भाषा 'इंगलिश' के नाम से प्रचलित हुई। जर्मन का विभाजन-उच्च जर्मन (High German) और निम्न जर्मन (Low German) दो रूपों में हुआ। उच्च रूप जर्मनी के दक्षिणी और पहाडी भाग और निम्न उत्तरी तथा निचले भाग मे बोले जाते हैं। जर्मन भाषा से संबंधित ध्वनि-नियम का उल्लेख पहले अध्याय मे किया जा चुका है। डच भाषा का प्रयोग हालैन्ड मे होता है।

ग्रीक भाषा-समूह के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ है जिनमे डोरिक, एओलिक, आयोनिक, एटिक, मैसीडोनी आदि मुख्य हैं। प्राचीन ग्रीक मे होमर के दो उत्कृष्ट महाकाव्य इलियड (Eliad) और ओडेसी (Odessey) प्रसिद्ध हैं। आधुनिक ग्रीक 'एटिक' बोली का विकसित रूप है। ग्रीक और संस्कृत भाषाओं के रूप काफी मिलते-जुलते है यह पहले कहा ही जा चुका है।

तोखारी भाषा-समूह का अन्वेषण मध्य एशिया मे २०वी शताब्दी के आरम्भ मे कतिपय जर्मन विद्वानो के द्वारा किया गया। इस भाषा के दो प्रधान रूप माने गये हैं—एक करशर के चारो ओर का पूर्वी और दूसरा कूच के चारो ओर का पश्चिमी। इन्हे अग्नियन, कूचियन, तूफानियर्न, नामो से विभाजित किया गया है। पूर्वी रूप तोखारी, ग्रीक के करशयिर्न 'तोखारोह', भारतीयो के 'तुखार' चीनियो के 'तुहुल' से संबंधित हैं। इसलिए इसे तोखारी समुदाय के नाम से कहा जाता है। इस भाषा-समुदाय पर संस्कृत-भाषा का प्रभाव भी पडा है।

हित्ताइत भाषा-समुदाय का अन्वेषण २०वी शताब्दी के आरम्भ मे एशिया-माइनर के बोगजकोई स्थान मे हुआ। यह नाम हित्ताइत जाति के शासन-काल मे उनकी राजधानी 'हत्ती' के नाम पर रखा गया माना जाता है। कतिपय विद्वान् हित्ताइत को आर्य-परिवार का एक भाषा-समूह न मानकर एक स्वतन्त्र भारत-हित्ताइत परिवार के रूप मे मानना उचित समझते है। किन्तु भाषा-गठन की अधिकाश विशेषताओ की दृष्टि से इसे आर्य-परिवार से स्वतन्त्र नही माना जाता। इसमे आर्य परिवार के सदृश संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के रूप मिलते हैं। हित्ताइत का शब्द-समूह अवश्य कुछ भिन्न है क्योकि इस पर आर्येतर भाषा के शब्दो का काफी प्रभाव पडा है। अधिकाश शब्द-समूह आर्येतर भाषाओ से ही संबंधित हैं। इसमे कुछ ध्वनियां भी नई हैं जो आर्य-भाषा मे नही मिलती। कतिपय ध्वनियो और शब्द-समूह की पृथकता होते हुए भी भाषा की व्याकरणिक विशेषताओ के आधार पर यह आर्य-परिवार का एक भाषा-समूह माना जाता है यद्यपि अब भी यह मत-भेद का विषय बना हुआ है।

मानव
क्योंकि
हजार
परिव
भाषा
मिलत
है। र
पर तु

गेग
गठन
हैं यद्य
साहित
कोंतुम्
मानी

वाल्टी
लेटेवी
थी।
शताब्द
प्रसार
होता
भाग
मिलते
इसके
रूप त
इसमे

इनमे
वलोरी
और त

भाषा है। पश्चिमी समूह की पोलिश (Polish) और चेक (Czech) प्रधान भाषाएँ है। आर्य-परिवार मे वाल्टोस्लावी भाषाएँ ग्रीक और सस्कृत के सदृश ही महत्वपूर्ण है।

आर्य-परिवार के अन्तर्गत भारत-ईरानी समूह की भाषाएँ सब से अधिक महत्वपूर्ण और प्राचीन मानी जाती है। केवल इसी समूह मे ही नही, वरन् सपूर्ण आर्य-परिवार मे ऋग्वेद् सब से पुराना प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है। भारतीय और ईरानी भाषाओ मे घनिष्ठ सम्बन्ध मिलता है। ध्वनि तथा व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ दोनो वर्गो मे काफी समान है। आदिम आर्य भाषा के तीन मूल स्वर अँ, एँ, ओ, यथा—एस्ति 7 स० अस्ति, उदासीन स्वर (schwa) अ 7 स०—इ। यथा— पअतॅर 7 स० पितृ, ई० पिदर, आदिम कण्ठ्य व्यजन क, ख, ग, घ आदि के अनन्तर इ, ए कण्ठ्य स्वर होने पर उनका परिवर्तन च, छ, ज, झ (ह) ध्वनियो मे हो जाता है। यथा *क्वे 7 स० च, *ध्वेन्ति 7 ई० झन्ति, स० हन्ति *ग्वीवोस् 7 स० जीव । आज्ञा के रूप प्रथम पुरुष मे —तु, न्तु, षष्ठी वहुवचन की विभक्ति-नाम्, भूतकाल के लिये अ—उपसर्ग (augment), मुख्य क्रिया के स्थान पर भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग आदि व्याकरणिक विशेषताएँ दोनो मे समान हैं। भारतीय और ईरानी भाषा मे कुछ भिन्नता भी मिलती है। सस्कृत 'स' के स्थान पर ईरानी मे 'ह' ध्वनि मिलती है। जैसे—सप्त=हप्त, सर्व=हौर्व, सिन्धु=हिन्दु, धारयत—दारयत। सस्कृत मे महाप्राण व्यजन घ, ध, भ का ईरानी मे अल्पप्राण रूप हो जाता है। यथा—भवति=ववति, भूमि=वूमि। सस्कृत मे मूर्धन्य ध्वनियाँ ट, ठ, ड, ढ आदि पाई जाती हैं, किन्तु ईरानी मे नही। सस्कृत क, त, प के स्थान पर ईरानी मे ख, थ, फ मिलते हैं। जैसे सखा=हखा, गाथा=गाथा आदि। ईरानी-ध्वनियो मे स्वरो का व्यत्यय पाया जाता है। जैसे सोम=हओम, देव=दैव, तरुण=तउरुनम्।

ईरानी भाषा-वर्ग मे अवेस्ती और प्राचीन फारसी मुख्य भाषाएँ हैं। दोनो मे अवेस्ती अधिक प्राचीन और वैदिक सस्कृत के अत्यधिक निकट है। प्राचीन फारसी लौकिक सस्कृत तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की विविध प्राकृतो से अधिक साम्य रखती हैं। इनमे द्विवचन का लोप, विभक्तियो का एकीकरण आदि विशेषताएँ समान हैं। अवेस्ती भाषा का नाम पारसियो की धार्मिक पुस्तक 'अवेस्ता' के नाम पर पडा है। पारसी धर्म के सस्थापक जरथुस्त्र और उनके उपास्यदेव 'अहुरमज्दह' माने जाते हैं। अवेस्ता मे अहुरमज्दह की स्तुति, यज्ञ, वलि, देवभूमि, राक्षसलोक आदि सम्बन्धी गाथाएँ सग्रहीत हैं। इस

ग्रंथ की टीका मध्यकालीन ईरानी भाषा पह्लवी (जेन्द) में भी मिलती है। इसलिए ग्रंथ जेन्दावेस्ता के नाम से भी प्रचलित है। आधुनिक काल में अफगानिस्तान की पश्तो (पख्तो), बिलोचिस्तान की बलोची, पामीर प्लेटो की पामीरी तथा सोग्दी, कुर्दी आदि बोलियाँ प्राचीन अवेस्ती भाषा से सम्बन्धित मानी जाती है।

प्राचीन फारसी में हखमानी वंश के राजाओंद्वारा आदि के लगभग ६०० ई० पू० के शिलालेख मिलते हैं। अरबों के आक्रमण फारस पर दो बार हुए और अनुमान है कि बहुत सी सामग्री जला डाली गई क्योंकि प्राचीन उपलब्ध साहित्य अत्यल्प ही है। मध्यकालीन फारसी का आदर्श-रूप पह्लवी है। इसी भाषा में अवेस्ता ग्रन्थ की टीका मिलती है। भाषा की दृष्टि से इसके दो रूप हैं—हुज्वारेश जिसमें अरबी शब्दों का बाहुल्य है और पाजन्द अथवा पारसी जिसमें अरबी शब्दों की भरमार नहीं है। आधुनिक फ़ारसी का उद्भव ९वीं शताब्दी में माना जाता है। फिरदौसी का 'शाहनामा' इस काल की प्रसिद्ध आरम्भिक रचना है। इस काल में फारसी भाषा का गठन बिल्कुल बदल गया। आधुनिक आर्य भाषाओं में अर्वाचीन फारसी सबसे अधिक अयोगात्मक भाषा मानी जाती है। फारसी-अरबी के शब्दों का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर काफी पड़ा है।

ईरानी और भारतीय आर्य भाषाओं के बीच दर्दी भाषाओं का समूह है। पुराणों में 'दरद' जाति का उल्लेख मिलता है। इनको 'पिशाच' के नाम से भी कहा गया है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में 'पैशाची' प्राकृत का बराबर उल्लेख मिलता है। इसकी विशेषताएँ काफी अंशों तक आर्य भाषाओं के सदृश है। इसका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर भाग माना गया है। यह भाषा-समूह तीन भागों में विभाजित है खोवारी, काफिरी और मुख्य दर्दी। खोवारी की मुख्य बोली चित्राल पर्वत की चित्राली मानी जाती है। काफिरी बोलियाँ चित्राल के पश्चिमी पहाड़ी भागों में प्रचलित है। शीना दरदी का प्रतिनिधित्व करती है, कश्मीरी, कोहिस्तानी इनकी अन्य मुख्य बोलियाँ हैं। कश्मीरी में कुछ साहित्य मिलता है। गुणाढ्य की बृहत् कथा प्राचीन कश्मीरी की रचना मानी जाती है। दर्दी भाषाओं का प्रभाव पश्चिमी पंजाबी तथा सिंधी भाषाओं पर पड़ा है। कश्मीरी शारदा लिपि में लिखी मिलती है किन्तु फारसी-अरबी लिपि का भी व्यापक प्रयोग होता है। कश्मीरी पर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

भारतीय आर्य भाषाएँ

समाज के विकास के साथ-साथ भाषा की परम्परा चलने लगती है, यह

पहले बताया जा चुका है। आजकल देश, काल और जातिगत जो वैभिन्न्य भाषा में मिल रहा है, वह समाज के अन्तरों और परिवर्तनों के फलस्वरूप है। समाज के भिन्न दलों में कभी एक ही विचार-धारा प्रवाहित होने लगती है, फलस्वरूप उन दलों का परस्पर सम्बन्ध सुदृढ हो जाता है और किसी धार्मिक या राजनीतिक या अन्य किसी कारण से उन दलों में ऐसी कटुता या वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है कि उनका सामाजिक गठबधन बिलकुल टूट जाता है। फलस्वरूप भाषा जो कि समाज के बीच विचार-विनिमय का प्रमुख साधन है, अप्रभावित हुए बिना नही रह सकती। समाज की इस प्रकार की विशृखलता जितनी ही दीर्घ-व्यापी होगी, उतना ही अधिक परिवर्तन भाषा में दृष्टिगोचर होगा। भारत के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ दो बार इस प्रकार के आन्दोलन हुए हैं जो समाज के विभिन्न वर्गों में दीर्घकालीन अस्तव्यस्तता लाने मे समर्थ हुए। प्रथम का समय लगभग ५०० ई० पूर्व और दूसरे का समय लगभग १०००ई० है। ५०० ई० पू० मे आर्यों के यज्ञ-काण्डो तथा धार्मिक जीवन के प्रति समाज मे महान् असन्तोष मिलता है और बौद्ध-धर्म का अभ्युदय इसी असन्तुलित समाज की देन है। राजनीतिक क्षेत्र मे भी मगध-साम्राज्य का उत्थान पूर्ण राजकीय बवडर का परिणाम था। इन दीर्घकालीन आन्दोलनो के फलस्वरूप इस समय भाषा का जो स्वरूप सामने आया वह सस्कृत से सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे बहुत कुछ भिन्न था।

१००० ई० की सामाजिक उथल-पुथल भी कुछ कम महत्व की नही थी। भारत के इतिहास का यह अंधकार-युग कहा जाता है। सम्राट् हर्ष की केन्द्रीय सत्ता के विनाश के पश्चात् १२०० ई० या उसके कुछ बाद तक भारत में राजनीतिक एकता का अभाव मिलता है। बौद्ध-धर्म का ह्रास और आर्य-धर्म की पुन प्रतिष्ठा के बीच धर्म और समाज की जो दशा थी उसका पता साहित्य से चल सकता है। अत ६०० ई० से १२५० ई० के विशृखलित समाज ने भाषा का जो रूप प्रस्तुत किया निस्सन्देह वह न तो सस्कृत के जैसा है और न मध्यकालीन आर्य भाषाओं के सदृश ही।

भाषा का यह कालगत परिवर्तन इतना धीमा होता है कि हम अपने जीवन मे परिवर्तन के स्वरूप का आभास नही कर पाते, परन्तु देशगत अन्तर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होता है। 'पाच कोस पर पानी बदलै, दस कोस पर बानी' इस लोकोक्ति की तथ्यता का पता हम सरलता से लगा सकते हैं, पर कालगत अन्तर को जानने के लिए हमे एक लम्बी अवधि पर दृष्टि रखनी पडती है। आधुनिक युग मे भाषा की सुरक्षा के इतने साधन उपलब्ध है कि यह और भी

धीमा हो गया है। प्राचीन काल में परिवर्तन की गति तीव्र नहीं होगी इसका अनुमान सामग्री के अभाव में भी लगाया जा सकता है।

प्राचीनतम आर्य बोलियों का उक्त प्रवाह अनवरत रूप में बहता हुआ हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि रूपों में दिखाई दे रहा है। इस प्रवाह की तुलना हम गंगा के अप्रतिहत प्रवाह से कर सकते हैं। जिस प्रकार भिन्न स्थानीय गंगा के प्रवाह को लोग भिन्न संज्ञाएँ दे बैठे हैं, कहीं गंगोत्री, कहीं गंगा और कहीं हुगली, ठीक उसी प्रकार वैदिक बोलियों के इस प्रवाह को हम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी आदि भाषाओं के नाम से अभिहित करते हैं। बोलियों का यह स्वाभाविक विकास आज तक बराबर मिल रहा है, परन्तु इनके बोलचाल के प्राचीन स्वरूपों का नितान्त अभाव है। आजकल लेखन-कला को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे पहले नहीं थीं। अतएव बोलचाल की भाषा किस प्रकार की होगी उसका अनुमान हमें लिखित रूपों के आधार पर लगाना पड़ता है। आज के बोलचाल हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी में जो अन्तर है, अथवा बोलचाल की अवधी और रामचरितमानस अथवा कृष्णायन की अवधी में जो अन्तर है वही अन्तर यदि पाणिनीय संस्कृत और बोली-रूप संस्कृत का मान लिया जाय और नाटकों में पाई जानेवाली शौरसेनी प्राकृत तथा शूरसेन-प्रदेश में जनता द्वारा व्यवहृत बोली में उसी प्रकार के अन्तर का आरोप कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी आधुनिक भाषा का इतिहास, बोली-रूप भाषा की सामग्री के अभाव में प्रस्तुत करना, कितना भ्रान्तिपूर्ण होगा क्योंकि भाषाओं का विकास बोलचाल के रूपों से होता है, साहित्यिक रूपों से नहीं।

भाषा के साहित्यिक रूपों में एकरूपता की माँग होती है। फलतः भाषा-रूपों में स्थायित्व आ जाता है, जब कि दैनिक मौखिक प्रयोगों में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, और जब मौखिक तथा साहित्यिक रूपों में पाया जानेवाला अन्तर खटकने लगता है तब जनता अपनी जन-बोली को ही साहित्यिक पद पर आरूढ़ करने में समर्थ होती है। यही क्रम भाषा-प्रवाह में चला आ रहा है। उदाहरण के लिए हम संस्कृत और पालि तथा अर्धमागधी को ले सकते हैं। बुद्ध और महावीर ने धर्म-प्रचारार्थ जन-बोली को ही प्रश्रय दिया और बाद में वही साहित्यिक पद-भोगी बनकर फिर विलुप्त हो गई। इसी प्रकार हिन्दी के मध्ययुग में ब्रज-भाषा का उदाहरण भी सामने है। उत्तर-प्रदेश की काव्य-भाषा के पद पर ब्रज-भाषा का स्थान सर्वोपरि था, परन्तु १९०० ई० के आसपास बोलचाल के रूप में प्रचलित हिन्दी ने उस पद को सरलता से ले लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी भाषा का एक क्रमबद्ध वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिए हमे पूर्वकालीन मौखिक रूपो की जितनी आवश्यकता पडती है उतनी साहित्यिक रूपो की नही। पर उसके अभाव मे केवल साहित्यिक रूपो के आधार पर जो इतिहास प्रस्तुत किया जाता है, उसमे सदेह की काफी गुजाइश रहती है। यही कारण है कि १ साहित्यिक पालि किस क्षेत्रीय बोली पर आधारित है, २. महाराष्ट्री प्राकृत का सम्बन्ध आधुनिक महाराष्ट्र-प्रदेश से है अथवा महान् राष्ट्र भारतवर्ष से, ३ अवधी की उत्पत्ति अर्धमागधी से हुई या अन्य किसी रूप से, ४ हिन्दी सस्कृत से विकसित है अथवा किसी अपभ्र श से, आदि प्रश्नो के उत्तर मे भाषाविज्ञानी एक मत नही है। साहित्य मे पाए जानेवाले शब्द या शब्द-रूप, व्याकरणिक अश-विभक्ति, प्रत्यय आदि मौखिक रूपो का एक बहुत छोटा अश होता है। सस्कृति के वैयाकरणो ने सस्कृत की लगभग २००० धातुएँ गिनाई है परन्तु साहित्य मे केवल ५०० ही प्रयुक्त हुई है। अतएव निष्कर्ष प्रमाणसिद्ध है कि मौखिक रूपो से युक्त सामग्री के अभाव मे किसी भी भाषा के इतिहास के लिए हमे अनुमान का पर्याप्त सहारा लेना पडेगा और भारतीय आर्य-भाषा का जो विभाजन नीचे दिया गया है वह भी साहित्यिक सामग्री के आधार पर ही है।

भारतीय आर्य-भाषा समूह के तीन विभाग है, प्राचीन, मध्य और आधुनिक। प्राचीन भाषा-समूह की दो भाषाएँ-वैदिक और लौकिक सस्कृत हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ऋग्वेद भारतीय वाङ्मय का अमूल्य रत्न है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने वैदिक भाषा को आर्यावर्त की प्राचीन भारतीय बोलियो उदीच्य, मध्यदेशी, प्राच्य, प्रतीच्य का साहित्यिक रूप माना है, इसीलिये ऋग्वेद्-सहिता मे बोली-भेद मिलता है। ऋग्वेद्, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्-ग्रन्थ, सूत्र-ग्रन्थ आदि की भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया। इसी के विकसित रूप लौकिक सस्कृत और प्राकृत भाषाएँ है। वैदिक मे भाषा के नैसर्गिक प्रयोग की स्वच्छन्दता थी, किन्तु सस्कृत वैयाकरणो ने प्राचीन आर्य-भाषा को विशुद्ध रूप मे स्थिर रखने के लिए उसे नियमो मे जकड दिया और वह रूप लौकिक सस्कृत या सस्कृत के नाम से व्यापक बना। इसमे लोकपरक रचनाओ की बहुलता है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का इसमे विशेष हाथ था। सस्कृत ने अपने चारो ओर की भाषाओ को प्रभावित किया और स्वय भी उनसे प्रभावित हुई।

सस्कृत भाषा का गठन योगात्मक और जटिल प्रकार का था, वाक्य रचना गौण थी, पद का विशेष महत्व था। शब्दो के अत मे विभक्तियो और कभी-कभी

उपसर्ग, प्रत्यय आदि में युक्त संज्ञा, क्रिया आदि के विविध रूपों का प्रयोग किया जाता था। संयुक्त व्यंजनों का व्यापक प्रयोग होता था। जैसे—धृतराष्ट्र, काश्कृत्स्न आदि। किन्तु संस्कृत भाषा का यह प्रयोग जनसाधारण के लिये सुलभ नहीं था। इसका कारण कुछ तो विदेशी बाह्य जातियों का संपर्क था और कुछ स्थानीय लोगों की लाघव-वृत्ति। पुरानी क्लिष्ट ध्वनियों के उच्चारण बदल कर सुविधाजन्य रूप में प्रचलित हो गये। व्याकरण के विविध रूपों की जटिलता शनैः-शनैः समाप्त होने लगी। प्राचीन आर्य भाषा का यह नया रूप प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका आरंभ ई० पू० से माना जा सकता है। प्राकृत का तीन रूपों में उत्तरोत्तर विकास हुआ। प्रारंभिक प्राकृत-पालि तथा शिलालेखी प्राकृत, मध्य प्राकृत-महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची आदि, उत्तर प्राकृत-अपभ्रंश। कुछ विद्वानों ने प्रारंभिक और मध्य प्राकृत के संधिकाल की प्राकृत का भी उल्लेख किया है। इसे 'निय' प्राकृत कहा गया है।

प्राकृत के विविध रूपों का मूल आधार प्राचीन आर्य भाषा का बोली-भेद माना जाता है। प्राकृत उस काल में जनसाधारण में व्यवहृत होती थी, यद्यपि संस्कृत भाषा का मान कम नहीं हुआ था। किन्तु प्राकृत भाषा का प्रत्येक लोक-रूप बाद में साहित्यिक रूप बन गया। इसके मूल में संस्कृत भाषा और संस्कृत-शैली ही थी और जब यह साहित्यिक रूप जनसाधारण के लिए पुनः क्लिष्ट हो गया तो फिर एक नये लोक-रूप का विकास हुआ। लोक भाषा और साहित्यिक भाषा का यह चक्र मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से परिचालित होता है। सभी प्राकृतें जब साहित्यिक स्तर की भाषायें हो गईं तो उनके आधार पर एक नये लोक-रूप 'अपभ्रंश' का उद्भव हुआ। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी आदि प्राकृतों का आधार लेकर क्रमशः महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंशों के तीन भेद-नागर, उपनागर और व्राचड नामों से भी दिये गये हैं। अपभ्रंश के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है, किन्तु उपर्युक्त भेद मुख्य हैं।

कालान्तर में अपभ्रंश भाषाएँ भी नागरिक भाषाएँ बन गईं और जन-साधारण के लिए वह रूप सरल नहीं रहा। अतः इनका आधार लेकर नये भाषा-रूपों का विकास हुआ। इसे प्रारंभ में 'भाषा' अथवा 'भाखा' का नाम दिया गया। शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, भीली, खानदेशी आदि भाषायें, मागधी अपभ्रंश के क्षेत्र में बँगला, बिहारी, असामी, उड़िया भाषाएँ, अर्धमागधी के क्षेत्र में पूर्वी हिन्दी, महाराष्ट्री के क्षेत्र में मराठी तथा सिंहाली आदि भाषाएँ विकसित हुईं। डा०

चटर्जी ने पंजाबी का कैकय अथवा टक्क अपभ्रंश, सिन्धी का व्राचड अपभ्रंश, राजस्थानी का आवन्त्या, गुजराती का गुर्जर अपभ्रंश, पहाड़ी का खस अपभ्रंश से संबंध जोड़ा है। शौरसेनी अपभ्रंश पश्चिमी अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अन्तर्गत, कैकय, व्राचड, गुर्जर आदि अपभ्रंशों के रूप भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। मागधी अपभ्रंश के भी इसी प्रकार औड़, गौड, ढक्की आदि भेद किये गये हैं जिनसे क्रमश उड़िया, पश्चिमी बंगला, पूर्वी बंगला भाषायें संबंधित की गई है। आधुनिक आर्य भाषाओं का गठन प्राचीन तथा मध्ययुगीन भाषाओं के गठन से भिन्न है। नवीन विकसित रूप अयोगात्मकता के निकट हैं। शब्द अथवा पद की अपेक्षा शब्द-क्रम अथवा वाक्य-रचना का अधिक महत्त्व है। इन आधुनिक भाषाओं मे परस्पर काफी समानता है।

आधुनिक आर्य भाषाओं मे अपभ्रंश की ध्वनि-संबंधी विशेषताएँ समान रूप से विकसित हुई हैं। शब्दो के अन्त्य स्वर इन भाषाओं के पुराने रूपो मे प्राय. सुरक्षित मिलते है जैसे, अखि-सिन्धी, आँखि-बिहारी, बंगला, आँखि-पश्चिमी हिन्दी, आँखी-पूर्वी हिं०, अक्खी-पंजाबी आदि।

किन्तु अधिकाश भाषाओं के वर्तमान रूपों मे प्राय इनका लोप कर दिया गया है। जैसे आँख्, जल्, आम् (हिंदी, बंगला आदि)। हिंदी के ग्रामीण रूपो मे इनका प्रयोग काफी समय तक होता रहा, यथा लडि, पहिरि, तीनु, चारि, सचु, बातु आदि और आज भी इनका प्रयोग होता है। किन्तु खड़ीबोली (नागरी हिदी) मे इनका बिल्कुल लोप हो गया है। जैसे सच्, गात्, काम्, तीन्, चार् आदि। सिन्धी, पंजाबी, उड़िया आदि भाषाओं मे ह्रस्व स्वर का उच्चारण अब भी पाया जाता है। बिहारी की मैथिली बोली मे इसका प्रयोग होता है, मगही और भोजपुरिया मे इसका लोप हो गया है। संस्कृत, प्राकृत स>ह का प्रयोग भी कुछ आधुनिक भाषाओं की विशेषता है। जैसे, करिस्सी-करिहे। कुछ मे यह सुरक्षित रहता है। गुजराती करशे, राजस्थानी करसी, पंजाबी-करेसी। महाप्राण व्यंजन ख, घ, छ, ठ, ढ, थ, फ, भ मे 'ह' अश का लोप भी कुछ आधुनिक भाषाओं की विशेषता है। जैसे, भगिनी-बहन (हिन्दी), बैण (पंजाबी) आदि। विदेशी ध्वनियो मे क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि के प्रयोग होते है। व्याकरणिक विशेषताओं मे भी काफी समानता है। इन सभी भाषाओं के विविध संबंधो संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि को परसर्गों के द्वारा प्रकट किया जाता है। विभक्तियों का प्राय ह्रास हो गया। परसर्गों के प्रयोग मे कुछ भिन्नता भी है। 'ने' परसर्ग का प्रयोग केवल पश्चिमी क्षेत्र की

हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, पहाड़ी आदि में होता है, किन्तु पूर्वी क्षेत्र की बँगला, उड़िया, बिहारी, पूर्वी—हिन्दी आदि भाषाओं में इनका प्रयोग नहीं पाया जाता।

शब्द-भंडार की दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं में काफी समानता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं से शब्द-विकास बहुत कुछ समान रूप में हुआ। अंग्रेजी, फारसी, अरबी आदि के शब्दों का प्रयोग सभी भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषता है। आधुनिक काल में संस्कृत भाषा के शब्दों के प्रयोग की व्यापक प्रवृत्ति सभी भाषाओं में मिलती है।

कतिपय विशेषताओं के आधार पर आधुनिक आर्य भाषाओं को कुछ समूहों में बाँटा गया है। विद्वानों ने इन भाषाओं में मध्यप्रदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी को अन्य भाषाओं-लहँदा, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, बिहारी, पहाड़ी आदि से भिन्न रूप में माना है। डा० ग्रियर्सन ने इन भाषाओं को अन्तरंग (inner) और बहिरंग (outer) दो मुख्य समूहों में बाँटा है। विभाजन का यह आधार बहुत कुछ भारत में आर्यों के आगमन और विस्तार से संबंधित है। सर्वप्रथम हार्नले ने आर्यों को दो समूहों में बाँटा था। पहले के आये हुये आर्य मध्य-प्रदेश में बसे किन्तु बाद में आए हुए आर्यों ने इनको उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण में शरण लेने के लिये विवश कर दिया और नवागन्तुक आर्य मध्य-प्रदेश में बस गये। इन्हें अन्तरंग और अन्य को बहिरंग के अंतर्गत रखा जाता है। डा० ग्रियर्सन ने इस मत का समर्थन करते हुए अन्य तथ्यों से इसे और पुष्ट किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये बहिरंग समूहवाले आर्य पंजाब, सिंध, गुजरात, राजपूताना, महाराष्ट्र, पूर्वी क्षेत्र आदि में बसे और इन क्षेत्रों की आधुनिक भाषाएँ लहँदा, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, बिहारी, पहाड़ी आदि उनसे संबंधित हैं। अन्तरंग आर्यों से संबंधित भाषा-समूह केवल पश्चिमी हिन्दी है। अन्तरंग भाषा-समूह पर संस्कृत-भाषा का प्रभाव है और बहिरंग भाषाएँ दर्दी भाषा-समूह से प्रभावित हैं। बहिरंग समूह की सभी भाषाएँ एक समान नहीं हैं। उनमें स्थानीय विशेषताएँ भिन्न-भिन्न रूप में विद्यमान हैं। श्री रामप्रसाद चन्द ने दोनों समूह के आर्यों में उनकी आकृति, बनावट, गठन आदि के आधार पर अन्तर स्पष्ट किया है। अन्तरंग आर्य पंजाब, राजपूताना तथा मध्य-प्रदेश के निवासियों के पूर्वज थे। इन्होंने वैदिक धर्म तथा वर्णभेद आदि का विकास किया और बहिरंग आर्यों ने वैष्णव तथा शाक्त-धर्म का विकास किया। बाद में अन्तरंग और बहिरंग के परस्पर संसर्ग और सहयोग से बहिरंग क्षेत्रों गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि में भी

संस्कृत का प्रभाव व्यापक हो गया। डा० ग्रियर्सन के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं का विभाजन इस प्रकार है

बहिरंग शाखा १. पश्चिमोत्तरी लहंदा, सिंधी
२ पूर्वी बिहारी, बंगला, असामी, उड़िया
३. दक्षिणी मराठी

अन्तरंग शाखा पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी तथा पहाड़ी (पूर्वी, मध्य, पश्चिमी)

मध्यवर्ती शाखा पूर्वी हिन्दी

किन्तु डा० ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण भाषाओं की पारस्परिक विशेषताओं तथा स्थानीय समीपता की दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं माना जाता।

डा० ग्रियर्सन ने बाहरी तथा भीतरी शाखाओं में कतिपय ध्वनि तथा रूप संबंधी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ स्पष्ट की थीं। किंतु डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने सबल तर्कों द्वारा इन विशेषताओं में संदेह प्रकट किया है। बहिरंग भाषा में शब्दों के अन्त्यस्वर—इ, —उ,—ए सुरक्षित हैं और अंतरंग में इनका लोप हो गया है परन्तु स्थिति यह है कि मराठी, बिहारी, बंगला में भी इनका लोप मिलता है और पश्चिमी हिन्दी में इनका प्रयोग होता है। यथा बंगला आँख, ब्रज-साँचि, सबु। स्वर इ 7 ए, उ 7 ओ बहिरंग की ही विशेषता नहीं है, अन्तरंग में भी यह परिवर्तन मिलता है। यथा—ब्रज (प० हिं०) मुहिं-मोहि, तुहिं-तोहि। व्यंजन ल 7 र, ड 7 र द 7 ड, श, ष, स 7 स केवल बाहरी ही नहीं वरन् भीतरी शाखा में भी मिलते हैं। यथा ब्रज जलै, 7 जरे, बिजली 7 बिजुरी, बिगडे 7, बिगरे, दीठि7 डीठि आदि। स्वरमध्यवर्ती—र का लोप तथा—स 7—ह का परिवर्तन अंतरंग भाषाओं में भी मिलता है। यथा पर 7 पै, केहरि < केसरिन्। डा० ग्रियर्सन ने बहिरंग भाषाओं को योगात्मकता की ओर उन्मुख और अन्तरंग को अयोगात्मक माना है। यथा ललितेर बाडी-ललित का घर। परन्तु ऐसे योगात्मक रूप अन्तरंग में भी मिलते हैं और विभक्ति-रूप के अवशेष न होकर यह सामासिक रूप है। कृदंती कर्मवाच्य का प्रयोग उड़िया, बंगला, बिहारी में नहीं मिलता और मराठी, सिंधी, लहंदा में इसका प्रयोग होता है। अतः इस आधार पर अंतरंग और बहिरंग का विभाजन उचित नहीं कहा जा सकता।

डा० चटर्जी का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

१ उदीच्य—सिंधी, लहंदा, पंजाबी
२ प्रतीच्य—गुजराती, राजस्थानी
३ मध्यदेशी—पश्चिमी हिन्दी

४ प्राच्य—पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बंगला, असामी, उड़िया

५ दाक्षिणात्य—मराठी

डा० चटर्जी ने भाषा की स्थानीय समीपता तथा पारस्परिक विशेषता संबंधी दृष्टिकोण को प्रधान मानकर भाषाओं का उपरोक्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। पहले बताया जा चुका है कि मध्यप्रदेश की प्रधानता वैदिक काल से ही रही और उसी का प्रतिनिधित्व आधुनिक पश्चिमी हिन्दी करती है, इसलिये उसे मध्यदेशी के अन्तर्गत रखना ठीक ही है। इसी प्रकार उक्त विशेषताओं की दृष्टि से सिंधी, लहंदा को पंजाबी से अलग नहीं किया जा सकता, ऐसे ही गुजराती-राजस्थानी को एक दूसरे से अलग करना कठिन है, तथा पूर्वी हिन्दी को सुदूरपूर्व की भाषाओं से संबंधित करना उचित है। पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर अन्य आधुनिक भाषाओं का स्थान-निर्धारण प्राचीन परम्परा का अन्धानुसरण नहीं वरन् विशेषताओं की दृष्टि से समीचीन वर्गीकरण है। डा० ग्रियर्सन ने बाद में अपने वर्गीकरण को इसी कारण सुधार लिया। अतरंग भाषाएँ मध्यवर्ती से अधिक संबंधित हैं, यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने भाषाओं का संशोधित वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया।

मध्यदेशी पश्चिमी हिन्दी

अतरंग पंजाबी, राजस्थानी, (खानदेशी), गुजराती (भीली) पहाड़ी (पूर्वी, मध्य, पश्चिमी), पूर्वी हिन्दी

बहिरंग पश्चिमोत्तरी-सिंधी, लहँदा

दक्षिणी—मराठी

पूर्वी बिहारी, बंगला, असामी, उड़िया

डा० ग्रियर्सन का परिवर्तित वर्गीकरण पहले की अपेक्षा अधिक पूर्ण और निश्चित जान पड़ता है। कारक-चिह्नों के प्रयोग के अनुसार भी इन भाषाओं का विभाजन किया गया है। सुविधा की दृष्टि से डा० चटर्जी का वर्गीकरण श्रेयस्कर कहा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक आर्य भाषाओं में यथेष्ट समानता और वर्ग-भेद के अनुसार कुछ भिन्नता भी है। भारतीय भाषाओं की जानकारी के लिए इन भाषाओं का संक्षेप में यहाँ पर परिचय दे देना समीचीन होगा।

सिन्धी

सिन्धु-घाटी के निचले भाग तथा कच्छ-घाटी की यह भाषा पाँच बोलियों में विभाजित मिलती है विचोली, सिरैकी, लाडी, थरेली, कच्छी। किन्तु इस प्रदेश के पाकिस्तान में सम्मिलित हो जाने के बाद में सिन्धी बोलनेवाले वहाँ के हजारों मूल निवासी भारत के पंजाब, दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश आदि भागों में भी आकर बस गये हैं। सिन्धी में कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं है। केवल अनुवाद और लोक-साहित्य मिलता है। उपलब्ध रचनाओं पर फारसी शैली तथा शब्दों का प्रभाव अधिक पड़ा है। फारसी-अरबी लिपि का व्यापक प्रयोग किया जाता है। भारतीय लंडा तथा गुरुमुखी लिपियों का प्रयोग भी व्यवसायी वर्गों में होता है। सिन्धी में कुछ विशेष ध्वनियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं पाया जाता। ये ध्वनियाँ उपालिजिह्वा को बंद करके उच्चरित की जाती है। हिन्दी ग, ज, ड, ब से इनका उच्चारण थोड़ा भिन्न होता है। प्राचट अपभ्रंश के सदृश त7 द, द 7 ड हो जाता है। जैसे हिन्दी ताँबा7 टामो, हिन्दी देना 7 डिअणु आदि।

लहँदा (लहँदी)

यह पश्चिमी पंजाब की भाषा है। यह हिन्दकी, जटकी, मुलतानी आदि नामों से भी प्रचलित है। लहँदा की चार बोलियाँ मुख्य हैं केन्द्रीय बोली, दक्षिणी (मुल्तानी), उत्तर-पूर्वी पोठवारी, उत्तर-पश्चिमी (बन्नी)। इनमें केन्द्रीय बोली मुख्य है। इनमें कोई संपन्न साहित्य नहीं है। सिक्खों का वार्ता-साहित्य, जनमसाखी तथा लोक-गीत आदि उपलब्ध होते हैं। लंडा-लिपि मुख्य है। गुरुमुखी तथा उर्दू लिपि का भी व्यवहार किया जाता है। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में सम्मिलित हो गया है।

पंजाबी

पंजाबी का विस्तार सम्पूर्ण पंजाब में पाया जाता है। लहँदा (पश्चिमी पंजाबी) का पंजाबी पर काफी प्रभाव है। पश्चिमी हिन्दी पर इसका अधिक प्रभाव पड़ा है। इसकी कुछ बोलियाँ भी हैं। अमृतसर के आसपास विशुद्ध पंजाबी का प्रयोग होता है। जम्मू राज्य तथा कांगड़ा जिले की बोली डोग्री इसी के अन्तर्गत है। इसमें संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है। पंजाबी में संस्कृत के पुराने रूप अब भी सुरक्षित है। गुरुमुखी इसकी मुख्य लिपि है वैसे देव-नागरी तथा उर्दू लिपि का भी व्यवहार

किया जाता है। भारतीय स्वतन्त्रता के बाद पंजाबी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए विशेष प्रयास हो रहा है। इसका लोक-साहित्य संपन्न है।

गुजराती

यह गुजरात, काठियावाड और कच्छ में प्रचलित है। पुरानी राजस्थानी से इसका घनिष्ठ संबंध है। गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी एक ही भाषा से विकसित दो विभाषाओं के रूप में मानी जाती हैं। प्राचीन गुर्जर जाति की भाषा गुर्जर-अपभ्रंश को इस भाषा का मूलस्रोत माना गया है। विद्वानों का अनुमान है कि १५वीं शताब्दी में इसका भिन्न अस्तित्व स्पष्ट होने लगता है। मध्य-देश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश ने इन भाषाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। नरसिंह मेहता गुजराती के प्रथम श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी मूल रचनाएँ १५वीं शताब्दी की हैं। गुजराती का मराठी से हिन्दी की अपेक्षा कम संबंध है। राजस्थानी भाषा का विस्तृत विवरण हिन्दी भाषा-समूह के अन्तर्गत दिया गया है।

मराठी

यह दक्षिण में बरार, पुराना मध्य-प्रदेश, बंबई के पास समुद्री किनारे आदि भागों की भाषा है। मराठी की तीन बोलियाँ मुख्य हैं। दक्षिण भाग की देशी, समुद्री किनारे की कोंकणी, पूर्वी भाग की नागपुरी। पूना के आसपास की बोली टकसाली मानी जाती है। बरार की बोली 'बराड़ी' भी उल्लेखनीय है। मराठी, द्राविड आदि का मिश्रित रूप 'हल्बी' बस्तर में प्रचलित है। मराठी का पुराना साहित्य समृद्ध है। मुकुन्दराज, ज्ञान-देव (ज्ञानेश्वर), नामदेव आदि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें संत-भावना व्यापक मिलती है। मराठी में ध्वनि संबंधी कतिपय विशेषताएँ हिन्दी से भिन्न हैं। वैदिक मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग होता है। च, ज, विशेष व्यंजन हैं जिनका उच्चारण हिन्दी से भिन्न है। नये राजकीय संगठन में मराठी का क्षेत्र विशाल बंबई प्रदेश में सम्मिलित हो गया है। मराठी-लिपि तथा हिन्दी की लिपि देवनागरी प्रायः समान हैं। आधुनिक साहित्य भी समृद्ध है।

बँगला

यह पूरे बंगाल की भाषा है। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में सम्मिलित हो गया है, पश्चिमी बंगाल भारत का भाग है। बंगला के दो प्रधान रूप इसी

आधार पर पूर्वी बंगला और पश्चिमी बंगला के नाम से प्रचलित हैं। साहित्यिक भाषा 'साधु-भाषा' के नाम से कही जाती है। बंगला का एक उत्तरी रूप भी है, जिससे असामी भाषा अधिक संबंधित है। बंगला और असामी का प्रारम्भिक रूप प्रायः बहुत कुछ समान था किन्तु १५वीं शताब्दी के लगभग से असामी का रूप बंगला से स्पष्टतया भिन्न मिलता है। बंगला में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। बंगला में उच्चारण संबंधी विशेषता के कारण लिखित रूप का ज्यों का त्यों उच्चारण नहीं होता। अकारान्त रूप कुछ वृत्ताकार हो जाते हैं। बंगला का पुराना साहित्य काफी संपन्न है। चण्डीदास के पद, कृत्तिवास की रामायण, विजय-गुप्त का पद्मपुराण, मालाधार वसु का श्रीकृष्ण-विजय, मुकुन्दराम का चण्डी-काव्य, गोपीचंद के पद आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काव्य-साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अंग्रेजी का प्रभाव सर्वप्रथम बंगला-भाषा पर ही पड़ा। बंगला की अपनी अलग लिपि है।

असामी

यह असाम-प्रदेश की भाषा है। इसे 'असमिया' नाम से भी कहा जाता है। पहले कहा गया है कि बंगला और असमिया में काफी समानता थी। किन्तु १५वीं शताब्दी से उसका रूप भिन्न हो जाता है। पुरानी रचनाओं का निर्माण तभी से प्रारंभ हुआ, यह कहा जा सकता है। प्रारम्भिक असामी और आधुनिक असामी में थोड़ी भिन्नता है। पुराने कवियों में माधव-कंदली, शंकरदेव, माधव-राम, सरस्वती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के बाद वहाँ के निवासी असामी भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर अधिक सचेष्ट हैं, इसकी लिपि बंगला के सदृश है केवल दो-तीन वर्ण भिन्न हैं। असामी में तिब्बती-ब्रह्मी तथा नागा आदि भाषा-समूहों के शब्दों का प्रभाव भी मिलता है।

उड़िया

उड़िया भी बंगला से काफी संबंधित है। ओड्र (उड्र) जाति की भाषा से प्रभावित होने के कारण इसे 'ओड्री' भी कहा जाता है। यह जाति संभवतः कोई अनार्य भाषा का प्रयोग करती थी लेकिन कालान्तर में वह आर्य-भाषा से आक्रान्त हो गई। उत्कल जाति की भाषा होने के कारण यह 'उत्कली' भी कहलाती है। उत्कली के पहले उस क्षेत्र में प्रायः तेलगू भाषा का व्यवहार किया जाता था। उड़िया के प्रसार से तेलगू भाषाभाषी पीछे हटते चले गये। उड़िया

का प्राचीन शिलालेख १३वीं शताब्दी का उपलब्ध हुआ है। पुरी और भुवनेश्वर के मंदिरों पर अंकित १५वीं शताब्दी के शिलालेख भी महत्वपूर्ण हैं। प्रारम्भिक उड़िया पर बंगला की अपेक्षा संस्कृत का प्रभाव अधिक पड़ा। आधुनिक उड़िया पर बंगला का प्रभाव अधिक है। उड़िया की अपनी भिन्न लिपि है। वर्णों पर वृत्ताकार शिरोरेखा का व्यवहार किया जाता है। इस पर द्राविड़ भाषा और लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है।

जिप्सी (हबूड़ी)

इसे भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित किया गया है। लगभग ५०० ई० पू० जिप्सी जाति के कुछ पूर्वज ईरान, आर्मीनिया, तुर्किस्तान, सीरिया पहुँचे और १४वीं शताब्दी में इनका उद्भव पूर्वी यूरोप में हुआ। तदनन्तर ये पश्चिमी यूरोप में वेल्स तक फैल गये। इनकी भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं से अधिक सम्बन्धित है यद्यपि विदेशी भाषाओं के शब्द भी इनमें अत्यधिक हैं। व्युत्पत्ति तथा गठन की दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं से इनका निकटस्थ सम्बन्ध है किन्तु शब्द-समूह प्रायः विदेशी है; इसलिये आधुनिक आर्य भाषाओं के साथ इनकी चर्चा कम की जाती है।

सिंहाली

यह भाषा भी भारतीय आर्य भाषाओं से सम्बन्धित है। डा० चटर्जी के अनुसार एक भारतीय वर्ग राजकुमार विजय के साथ ५०० ई० पू० सिंहल द्वीप में जाकर बस गया। उनकी भाषा भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे (गुजरात, काठियावाड) की भाषा थी और १०० ई० पू० के लगभग उस पर मागधी का प्रभाव पड़ा। कई शिलालेखों से प्राकृत का यह प्रभाव स्पष्ट होता है। इनमें महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण और श, ष, स7 स हो गया है। सिंहाली के प्राचीन लेख १०वीं शताब्दी से मिलते हैं और इसका प्राचीन नाम एळु < हॅळु < हिअळु < सिंहळु < सिंहल था। आधुनिक सिंहाली पर संस्कृत और पालि का प्रभाव अधिक पड़ा है। मालद्वीप की भाषा पुरानी सिंहाली से विकसित मानी जाती है।

भाषा के अन्तर्गत 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में समूहवाची रूप के लिये होता है। प्रचलित अर्थ में यह केवल मेरठ, बिजनौर आदि की खड़ी बोली के परिष्कृत रूप 'नागरी हिंदी' के लिये और सामूहिक अर्थ में उनकी सभी बोलियों के लिये प्रयुक्त होता है। इसके दो मुख्य भेद हैं पश्चिमी हिन्दी

और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खडीबोली तथा उसके कई रूपान्तर (उच्च हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि), ब्रज, बुदेली, कनौजी, बांगडू और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली, छत्तीसगढी, बैसवाडी मुख्य बोलियां हैं। बिहार प्रदेश की मैथिली, मगही, भोजपुरिया तथा राजस्थान की राजस्थानी भी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती है। बिहारी बोलियां पूर्वी हिन्दी और राजस्थानी पश्चिमी हिन्दी के अधिक निकट है। इन बोलियो का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है।

खडीबोली हिन्दी का परिष्कृत रूप राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया गया है। राष्ट्र भाषा हिन्दी के अतिरिक्त भारतीय सविधान मे निम्नलिखित अन्य १३ भाषाओ को मान्यता प्रदान की गई है बंगला, असामी, उडिया, मराठी, गुजराती, पजाबी, तामिल, मलयालम, तेलगू, कन्नड, सस्कृत, कश्मीरी, उर्दू। अब एक अन्य भाषा 'सिन्धी' को भी मान्यता दे दी गई है। इनमे से कई भाषाओ का सक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। भारतीय राष्ट्र भाषा पर अगले अध्याय मे विचार किया गया है। अब भारतवर्ष की आर्येतर भाषाओ के सम्बन्ध मे विचार कर लेना युक्तिसगत होगा।

आर्येतर भारतीय भाषाएँ

भारतवर्ष की आर्येतर भाषाओ मे द्राविड तथा आस्ट्री (मुडा) परिवार की भाषाएँ मुख्य हैं। चीनी परिवार की बोलियो का अत्यल्प प्रयोग असाम के उत्तर-पूर्वी भागो मे किया जाता है। इनमे बोडो, नागा बोलियाँ मुख्य है। इनके बोलने वाले जगलो तथा पहाडो पर रहते है। इन बोलियो का सम्बन्ध चीनी परिवार की तिब्बत-हिमालयी शाखा मे है। नागा तथा बोडो की कई बोलियो का अनुमान किया गया है। बोडो आदि बोलियो का ह्रास हो रहा है, किन्तु नागा आदि बोलियाँ सुरक्षित है। मलयपोलीनेशी भाषा-परिवार की, मुडा समूह की भाषाएँ मोन-ख्मेर भाषाओ से भी सम्बन्धित है। मोनख्मेर समूह की 'खसी' भाषा है। 'असाम की खसी जाति की बोली है जो वहाँ के पहाडी स्थानो मे रहती है। इनका विकास अब स्वतत्र रूप से हो रहा है किन्तु उसका गठन मोन-भाषा-समूह से बिल्कुल स्पष्ट है। मुडा समूह की बोलियाँ पश्चिमी बगाल से बिहार, उडीसा, मध्यप्रदेश, मद्रास के कुछ जिलो मे रहने वाली जगली जातियो मे प्रचलित हैं। मुख्य बोलियाँ, सथाली, मुडारी, हो, कुर्कू, जुआग शावर आदि हैं। इनको 'खेरवारी' नाम से भी कहा जाता है। इसकी कनावरी बोली हिमालय की तराई से शिमला की पहाडियो तक प्रचलित

है। इनके बोलनेवाले 'कोल' नाम से भी कहे जाते हैं। इन पर द्राविड तथा आर्य भाषाओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

ये बोलियां प्रत्ययप्रधान योगात्मक ढंग की हैं। व्याकरणिक रूप शब्दों के मध्य, अन्त में प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं। विभक्तियों का बोध कारक-चिह्नों से तथा लिंग-भेद पुरुष और स्त्रीवाची शब्द जोड़कर होता है। प्रायः लिंग का बोध सजीव और निर्जीव भेद के अनुसार होता है। इनमें तीन वचनों का प्रयोग होता है। जैसे हाड (मनुष्य), हाडकीन (दो मनुष्य), हाडको (अनेक मनुष्य)। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का बोध दो प्रकार से कराया जाता है। एक से दोनों रूपों का सम्मिलित बोध होता है और दूसरे में दोनों अलग अलग रहते हैं। जैसे-अले और अबोन। पहले में केवल वक्ता (उत्तम पुरुष) का बोध होता है और दूसरे से वक्ता, श्रोता दोनों का सम्मिलित बोध होता है। हिन्दी में जैसे-उसे जाने दो, अपन लोग पढ़ेंगे-में 'उसे' अन्य पुरुष और 'अपन' उत्तम, मध्यम दोनों पुरुषों का बोध कराता है। गुजराती में-अमे गया हता ((मैं गया था) और आपणे गया हता (अपन लोग गये थे)। मुंडा में क्रिया-रूपों की काफी जटिलता है। गिनती २० के आधार पर मिलती है। मुंडा में ध्वनियाँ आर्य भाषाओं के सदृश मिलती हैं। विशेष ध्वनियों में क, च, त, प, अर्ध-व्यंजन मुख्य हैं जिनका उच्चारण श्वास को भीतर खींचकर किया जाता है। मुंडा बोलियों का प्रभाव भारतीय आर्य भाषाओं पर भी पड़ा है। मुंडा क्रिया की जटिलता से ही संभवत बिहारी बोलियाँ (भोजपुरी मगही, मैथिली) प्रभावित हैं। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के, सम्मिलित बोध के उदाहरण दिये ही गये हैं। २० के लिये कोरी अथवा कोड़ी शब्द मुंडा का 'कुड़ी' शब्द है, जिसका प्रयोग भारतीय भाषाओं में व्यापक है।

द्राविड़ परिवार

भारतवर्ष में आर्य परिवार के अनंतर द्राविड परिवार की भाषाओं की व्यापकता मिलती है। इन भाषाओं का क्षेत्र मुख्यतया भारतवर्ष का दक्षिणी भाग है। इनका व्यवहार सिंहल-द्वीप के उत्तर तथा बलूचिस्तान में भी किया जाता है। उराल-अल्ताई भाषाओं से समानता तथा भारत के पश्चिमोत्तर भाग में प्रचलित होने के कारण कुछ लोगों का अनुमान है कि प्राचीन काल में वे भाषाएँ उराल-अल्ताई परिवार से संबंधित थीं। बीच में लेमुरी महाद्वीप था जो बाद में हिन्द महासागर में तिरोहित हो गया, वही द्रविड भाषाभाषियों के पूर्वज

रहते थे। इसी कारण मोहनजोदडो की सभ्यता से भी द्रविडो का सबध जोडा जाता है, किन्तु इस सबध मे निश्चय रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। इन भाषाओ के बोलनेवाले लगभग ७ करोड़ हैं, जो भारतीय जनगणना का पाँचवाँ भाग है।

द्राविड भाषाओ को चार समूहो मे विभाजित किया गया है द्राविड समूह, आन्ध्र समूह, मध्यवर्ती समूह, पश्मिोत्तरी समूह। द्राविड समूह के अन्तर्गत तामिल मलयालम, कन्नड, तुळु, कोडगु, टोडा, कोटा आदि भाषाओं की गणना की जाती है।

तामिल

द्राविड भाषाओ मे इसका साहित्य सबसे अधिक प्राचीन और उत्तम है। यह मद्रास के दक्षिण-पूर्व तथा सिंहल-द्वीप के उत्तर मे प्रचलित है। तामिल भाषा की समृद्धि के कारण पहले सपूर्ण द्राविड भाषाओ को तामिल नाम से ही सबोधित किया जाता था। इस भाषा की तीन स्थितियों का उल्लेख किया गया है। प्राचीन स्थिति ईसा की पहली शताब्दी के लगभग मानी जाती है। इस भाषा के दो मुख्य रूप हैं शेन और कोडुन । शेन शिष्ट-वर्ग और कोडुन जन-साधारण के द्वारा प्रयुक्त होती है। 'मणिप्रवाल' नाम की इसकी साहित्यिक शैली मे सस्कृत तथा तामिल शब्दो का चयन बडी सुन्दरता से होता है। तामिल भाषा मे महाप्राण अघोष (ख, छ, ठ, थ, फ) , महाप्राण सघोष (घ, झ, ढ, ध, भ) तथा सघोष अल्पप्राण (ग, ज ड, द, व) व्यजन नहीं पाये जाते। दो प्रकार के 'र' और 'न' व्यजनो के प्रयोग मे भिन्नता मिलती है। तामिल की प्राचीन लिपि 'वट्टेळुत्तु है।'

मलयालम

इसे ९वी शताब्दी मे तामिल से उद्भूत माना जाता है किन्तु डा० गोड-वर्मा जैसे कुछ विद्वान इसे एक स्वतत्र भाषा समझते हैं और उन्होने इस सबध मे कई तर्क भी दिये हैं। इसका विस्तार पश्चिमी समुद्री किनारे, मलाबार, मलयपर्वत तथा लक्षद्वीप मे पाया जाता है। इस समुद्री किनारे पर विदेशियों के अत्यधिक सपर्क के होने पर भी मलयालम विशुद्ध भाषा बनी रही। सस्कृत भाषा का प्रभाव इस पर बहुत पडा है इसलिए यह सुनने मे अधिक कर्कश नही जान पडती। इसका साहित्य १३वी शताब्दी तक का पाया जाता है। तिरुवा-कूर और कोचीन राज्यो की सरक्षा मे मलयालम-साहित्य की यथेष्ट उन्नति

हुई। इसमे आर्य भाषा के सदृश ही ध्वनि-समूह उपलब्ध होता है। र, ल, न, ट, व्यजनो के दो-दो रूप मिलते हैं। अत इसका ध्वनि-समूह तामिल से थोडा भिन्न है।

कन्नड़

यह संस्कृत 'कर्नाटक' शब्द का द्राविड रूप है। इसका विस्तार संपूर्ण मैसूर, हैदराबाद (आन्ध्र) तथा मद्रास के कुछ भागों मे पाया जाता है। द्राविड भाषाओ मे यह सबसे पुरानी कही गई है। इसमें प्राय. चौथी, पाँचवी शताब्दी से साहित्य लिखा जाने लगा। इसमे उच्चकोटि का प्राचीन और नवीन साहित्य उपलब्ध है। इसका सबध तामिल से अधिक है।

तुळु

इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। यह मंगलौर के आसपास के प्रदेश में प्रचलित है तथा कन्नड और मलयालम के बीच की भाषा है। इसमे कोई साहित्य उपलब्ध नही होता किन्तु प्राचीन काल मे यह एक परिष्कृत तथा समृद्ध भाषा थी, ऐसा कुछ विद्वानो का अनुमान है।

कोडगु

यह कुर्ग की बोली है जो कन्नड और तुळु के बीच की मानी गई है। डा० गोडवर्मा के अनुसार तुळु एवं कोडगु का सबंध कन्नड की अपेक्षा तामिल तथा मलयालम से अधिक है। कन्नड का इन पर बाद में प्रभाव पड़ा। पहले यह अनुमान था कि इन बोलियो का सबध कन्नड से अधिक है। टोडा, कोटा बोलियों का प्रयोग नीलगिरि पर्वत पर रहनेवाले जगली जातियो के द्वारा किया जाता है। इनकी सख्या दिनो दिन कम होती जा रही है। इस संबध मे अभी अधिक छानबीन नही हुई है। तिरुवाकूर, कोचीन तथा मलाबार के पहाडी भाग में रहनेवाली जातियो की बोलियाँ तामिल और मलयालम के बीच की जान पडती हैं जिनका अभी सम्यक् अध्ययन नही हुआ है।

मध्यवर्ती समूह की बोलियो में गोंडी, कुरुख, कुई, कोलामी, नैकी आदि मुख्य हैं। इनका विस्तार बंगाल, बिहार, उडीसा, बरार, मध्य-प्रदेश तथा बुदेलखड के कुछ भागो मे पाया जाता है। इनके बोलनेवाले सब जगली जाति के हैं। गोंडी का प्रयोग करने वाले प्राय हिन्दी-क्षेत्र में बिखरे हुए हैं। विन्ध्य-प्रदेश, बुन्देलखड इनका केन्द्र है। इनमे कोई साहित्य नही है। आर्य-भाषा

की छाप इस पर काफी पडी है। गोंडी का संबंध तामिल से अधिक है। कुरुख को ओरावों भी कहते हैं। इसकी कई उप-बोलियाँ भी कही गई हैं। बंगाल में राजमहल की पहाडियो पर रहने वाली जाति की बोली 'मल्तो' इसी की शाखा है। कुरुख पर आर्य तथा मुंडा भाषाओं का प्रभाव अधिक पडा है। इन बोलियों का अब धीरे धीरे लोप हो रहा है। मुंडा-क्षेत्र मे फैले होने के कारण ये लोग मुंडारी का प्रयोग करने लगे हैं। कुरुख का संबंध भी तामिल से अधिक है। उडीसा के जंगलो मे रहने वाली बर्बर, जाति के द्वारा कुई अथवा कंधी का प्रयोग किया जाता है। इसे कोंधी, खोंद आदि नामो से भी कहा जाता है। कुई का संबंध तामिल से अधिक है। उस समूह की कोलामी बोली पश्चिमी बरार के जंगली लोगो मे प्रचलित है। उसका तेलगु से अधिक संबंध है। इस पर मध्य भारत की आर्य-बोली भीली का अधिक प्रभाव पडा है और यह अब धीरे धीरे समाप्त हो रही है। मध्यवर्ती बोलियो का व्यवहार करने वाली सभी जंगली जातियाँ प्राय. द्विभाषिया होती हैं। इनमे आर्य-भाषा के शब्दों का व्यापक प्रयोग पाया जाता है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सिद्धेश्वर वर्मा इन द्राविड़ बोलियो पर आर्य प्रभाव को स्पष्ट करने मे सचेष्ट हैं।

तेलगु

आन्ध्र-समूह की केवल एक प्रधान भाषा तेलगु है तथा कई संबंधित बोलियाँ हैं। तेलगु का क्षेत्र काफी व्यापक है। द्राविड परिवार मे इसी भाषा के बोलने वाले सब से अधिक हैं। हैदराबाद (आन्ध्र) के आधे भाग, पूर्व मे बंगाल की खाडी पर चिकाकोल तक, मैसूर तथा नागपुर के कुछ भागो मे भी तेलगु का प्रसार मिलता है। तेलगु भाषा तैलगो की भाषा रही है, जो अपने शौर्य के लिए मुगल-काल मे प्रसिद्ध थे। द्राविड सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह तामिल के बाद अपना स्थान रखती है। तेलगु का प्राचीन शिलालेख ६३३ ई० का मिलता है और साहित्य १२वी शताब्दी से मिलता है। इस भाषा की पहली रचना महाभारत का अनुवाद है। विजयानगरम् के महाराज कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न किया था। तेलगु भाषा मे संस्कृत-शब्द प्रचुरता से मिलते हैं इसलिए यह द्राविड भाषाओ मे सबसे अधिक श्रुतिमधुर मानी जाती है। इसमे सारे शब्द स्वरांत होते हैं इसलिए भाषा के उच्चारण मे कर्कशता नही है, वह तामिल की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर है। तेलगु से संबंधित कई बोलियाँ हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

ब्राहुई

पूर्वी बलूचिस्तान तथा सिन्ध के पहाड़ी भागों में ब्राहुई का प्रसार मिलता है। इसके बोलने वाले दुभाषिये हैं। वे बलूची, पश्तो अथवा सिन्धी का प्रयोग करते हैं। इसके बोलने वाले प्राय. सभी मुसलमान हैं। ब्राहुई शब्द-समूह पर ईरानी और आर्य-प्रभाव इतना अधिक है कि बहुत काल तक इसे द्राविड की एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया, किन्तु बाद में गठन की दृष्टि से यह द्राविड़-समूह की एक स्वतंत्र भाषा सिद्ध हुई।

विशेषताएँ

द्राविड भाषाओं के व्याकरणिक रूपों का विकास शब्द के अन्त में प्रत्ययों के योग से होता है। पहले कहा जा चुका है कि ऐसा ही गठन उराल-अल्ताई तथा मुंडा भाषाओं का भी है। द्राविड भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का आधिक्य है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन आर्य भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का अभाव था और सर्वप्रथम भारतीय प्राचीन आर्य भाषा में इसका उद्भव हुआ जिसका कारण द्राविड भाषाओं का प्रभाव है। यद्यपि यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि द्राविडों में इसकी प्रचुरता के कारण आर्य भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का प्रयोग व्यापक बना। ईरानी तथा यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का अभाव माना जाता है। सभी द्राविड भाषाओं के शब्दों के अन्त में ह्रस्व-अ या -उ का स्वर सुनाई पड़ता है। तामिल में क, च, त, प, ड के अन्त में लघु उकार का स्वर रहता है किन्तु तेलगु तथा कन्नड़ के सभी शब्दों में ह्रस्व 'उ' स्वर व्यवहृत होता है।

द्राविड़ परिवार की केवल ब्राहुई भाषा में लिंग-भेद नहीं होता। यह ईरानी भाषाओं का प्रभाव हो सकता है। अन्य प्रमुख भाषाओं में पुल्लिंग, और स्त्रीलिंग के भेद होते हैं। कन्नड में यह भेद संस्कृत का प्रभाव माना जाता है। लिंग-भेद का नैसर्गिक प्रयोग नहीं मिलता। एकवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है। संज्ञाओं के मुख्य विभाजन उच्चजातीय और निम्नजातीय होते हैं। तामिल, तेलगु आदि में पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग के एकवचन भिन्न होते हैं किन्तु इनका बहुवचन में एक ही रूप होता है। इनके उच्चजातीय रूपों और निम्नजातीय रूपों में प्रत्यय एकवचन में भिन्न-भिन्न होते हैं। बहुवचन के रूपों में कोई भेद नहीं किया जाता। निर्जीव तथा अचेतन पदार्थ प्राय नपुंसक लिंग में होते हैं। संज्ञा आदि रूपों में लिंग-भेद के लिये पुरुष और स्त्री वाची शब्दों को भी जोड़ा जाता है। केवल अन्य पुरुष के सर्वनामों में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का भेद होता है। निम्नजातीय संज्ञाओं में बहुवचन के रूप प्रायः नहीं होते। बहु-

वचन के लिए प्रत्यय आदि चिन्हों का व्यवहार किया जाता है। निम्नजातीय (अविवेकी, अचेतन) के बहुवचन रूप भी मिलते हैं। जैसे ल् के योग से मरनगल (वृक्षों), कइगल् (हाथों), कलगल (देशों)। कन्नड, तेलगु, गोंडी आदि मे 'र' के योग से भी बहुवचन के रूप बनते हैं। कन्नड, जैसे अरसर (राजाओं), स्त्रियर (महिलाओं), तन्देयर (पिताओं)। तेलगु देवरु (देवताओं), रावरु (राजाओं), अल्लर (दामादों)। अन्य रूपों मे भी ल् का योग होता है। जैसे तन्देगल् (पिताओं)। ब्राहुई मे बहुवचन के लिए-'क' प्रत्यय जुडता है। जैसे वा (मुख), वाक् (मुखों), पू (कीडा), पूक (कीडों)।

सज्ञा आदि विभक्तियों के रूप परसर्ग अथवा कारकचिन्हों के योग से बनते हैं। विभक्तियों की सख्या अनिश्चित हैं किन्तु आर्य भाषाओं के प्रभाव मे द्राविड वैयाकरणों ने आठ विभक्तियाँ निश्चित कर दी हैं। द्राविड भाषा का मूल शब्द ही कर्ता कारक मे प्रयुक्त होता है। लिंग और वचन के रूपों का विभक्ति रूपों पर काफी प्रभाव पडा है। वचन-भेद के लिए 'जा' चिन्ह जुडते हैं। वही उसके कारक को भी प्रकट कर देते हैं। कारक-चिन्ह शब्दों के विकारी रूपों के बाद ही जुडते हैं, मूल के बाद नही। सज्ञा के सदृश विशेषणों का रूप-विकास नही होता। यह केवल सज्ञा से सम्बन्धित होते हैं। इनका प्रयोग सज्ञा के विशेषणरूप मे होता है। विशेषणों मे अधिकतर, अधिकतम आदि रूपों के लिए विशेषण की पुनरावृत्ति अथवा ऐसे अर्थों से सम्बधित शब्दों को विशेषण के पूर्व प्रयुक्त किया जाता है। गिनतियाँ आर्य भाषाओं के सदृश दशमलव रूप मे प्रयुक्त होती हैं। भारतीय अग्रेजी सिक्कों मे प्रयुक्त गिनतियाँ भी द्राविड भाषाओं से सम्बन्धित की गई हैं किन्तु यह पूर्णतया निश्चित नही है।

आधुनिक तामिल, तेलगु, कुई, कुरुख आदि मे उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनाम का सम्मिलित बोध हम, अपन के सदृश होता है। यह मुडा का प्रभाव जान पडता है। किन्तु कन्नड, गोंडी, ब्राहुई मे ऐसा रूप नही पाया जाता। द्राविड के प्राचीन रूपों मे समवत यह भेद नही किया जाता था, यह बाद का प्रभाव कहा जा सकता है। सर्वनाम के रूपों मे विभक्ति-भेद किया जाता है। इसमे भी उच्चजातीय तथा निम्नजातीय भेद पाया जाता है। उत्तम पुरुष एकवचन 'मैं' के लिये तामिल यान्' तुळु-यानु, पुरानी कन्नड-आम्, कुई-आनु, गोंडी-अना, तेलगु-एनु, कुरुख-एन, ब्राहुई-ई, मध्यम पुरुष एकवचन मे तामिल-नी, तुळु-ई, कन्नड-निम्, कुई-ईनु, गोंडी-इम्मा तेलगु-ईवु, नीवु, कुरुख-नीन, ब्राहुई नी होता है। सज्ञा और क्रिया के रूप कभी कभी समान होते हैं। जैसे तामिल कोन राजा, कोन एन—मैं राजा हूँ। क्रिया और

सर्वनाम के रूप भी एक मे मिले होते हैं। जैसे तेलगु—उत्तम पुरुष एनु (सर्वनाम), —नु (क्रिया), मध्यम पुरुष ईवु, नीवु (सर्वनाम), —वु (क्रिया), अन्य पुरुष एक० वाडु (सर्वनाम), डु (क्रिया), उत्तम पुरुष बहु० एमु (सर्वनाम), मु (क्रिया), मध्यम पुरुष बहु० ईरु (सर्वनाम), रु (क्रिया), अन्य पु० ब० हु० वारु (सर्वनाम), रु (क्रिया)। इस प्रकार की समानता गोंडी, कुरुख आदि अन्य विभाषाओं मे भी मिलती है।

इनमे काल-भेद भी होता है। वर्तमान काल, भूतकाल तथा भविष्यकाल के भेद निश्चित और अनिश्चित दो रूपों मे होते हैं। संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग होता है। आर्य भाषाओं के सदृश इनसे विशेष भावों का बोध कराया जाता है। सहायक क्रियाओं से विभिन्न अर्थों (moods), वाच्य, काल आदि का बोध होता है। कृदन्तों का प्रयोग भी व्यापक रूप से किया जाता है। कर्म-वाच्य का प्रयोग नहीं होता, वाक्य-रचना की भी निजी विशेषताएँ हैं। वाक्य एक शब्द का भी होता है। यथा—गोंडी मे नावोल (यह मेरा है)। प्रश्नवाचक वाक्यों को प्रश्नसूचक शब्दों को जोड़कर बनाया जाता है। ब्राहुई मे यह सुर से प्रकट किया जाता है।

••

अध्याय ४

हिन्दी का उद्भव एवं विकास

"भाषा-वर्गीकरण के सिद्धान्त तथा भारतीय भाषाएं" शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवेचन पहले प्रस्तुत किया जा चुका है जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा का मूल स्रोत प्राचीन आर्य भाषा है और वह आर्य भाषा परिवार से सम्बद्ध है। भाषा का स्रोत सतत् प्रवहमान होता है। समय, देश और जातियों के अनुरूप एक ही भाषा मे विभिन्न स्थानो पर परिवर्तनो के फलस्वरूप विविध शाखाएँ हो जाती है जिनमे कही समानता एव कही विषमता दृष्टिगोचर होती है, इस प्रकार बराबर परिवर्तित होते रहने पर मूल भाषा से विकसित भाषा मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है। यह अन्तर कभी-कभी इतना अधिक हो जाता है कि विकसित भाषा को मूल भाषा से सम्बद्ध मानना सदेह का कारण होता है। अत. हमें मूल भाषा के लिखित रूपो एव विकसित भाषा मे प्राप्त होने की दशाओ तक भाषा के साहित्य एव व्याकरण का अनुशीलन करना पडता है। जिन भाषाओं की प्राचीन लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं होती, उनका विवेचन अपेक्षाकृत कठिन एवं अनुमानाश्रित अधिक होता है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें प्राचीन भारतीय आर्यभाषा सस्कृत एव मध्य भारतीय आर्य भाषाओं-पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि की पर्याप्त लिखित सामग्री उपलब्ध है। उपरोक्त भाषाओ के रूपगठन एवं विकास का हिन्दी पर किस प्रकार का प्रभाव है, इसकी जानकारी के लिए इन भाषाओ के रूपगठन एव विकास का सक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है। हिन्दी की उत्पत्ति एव विकास को स्पष्ट करने के लिए भी इन भाषाओ का अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृत का रूप-गठन

पहले कहा जा चुका है कि देश, काल एव जाति या कबीले की विभिन्नता के अनुरूप भाषा मे भी विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन भारत मे जब आर्य आये तो वे पृथक्-पृथक स्थानो मे बस गए। अत उनकी भाषा संस्कृत का लौकिक या व्यावहारिक रूप सभवत विभिन्न स्थानो पर विषमता लिए हुए होगा परन्तु आर्य लोग यज्ञपरायण एव कर्मकाण्डी थे। अत सर्वत्र

ही यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों में वे लोग वैदिक सूक्तों का प्रयोग करते थे। वेदाध्ययन परायण विद्वानों, मनीषियों ने श्रुतिपरम्परा से वेदों को सुरक्षित रखा। अत आज भी हम वेदों का अध्ययन मनन कर सकते हैं एवं तत्कालीन परिनिष्ठित भाषा का सुरक्षित कोष हमें वेदों में ही प्राप्त होता है। परन्तु लौकिक संस्कृत का अन्य विकसित भाषाओं के आधार पर अनुमान मात्र ही किया जा सकता है। पाणिनि ने वैदिक संस्कृत को व्याकरण में तो अपनी अष्टाध्यायी में निबद्ध कर दिया था। अत परिनिष्ठित संस्कृत नियमबद्ध होकर उसी रूप में स्थिर हो रही परन्तु वैदिक संस्कृत के क्षेत्रीय रूपों से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ सम्बद्ध हैं। संस्कृत का समस्त साहित्य भी परिनिष्ठित संस्कृत में है। परिनिष्ठित संस्कृत का रूप-गठन इस प्रकार है

ध्वनियाँ संस्कृत मे तेरह स्वर ध्वनियाँ हैं

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ। उपरोक्त ध्वनियों में नौ समानाक्षर मानी गई हैं एव अन्तिम चार अ+इ, अ+उ, आ+इ, आ+उ सयुक्ताक्षर हैं जिनमें ए, ओ गुणसन्धि एव ऐ, औ वृद्धिसधि मानी जाती है। स्वर-ध्वनियो मे स्वराघात भी प्रधान विशेषता मानी जाती है। स्वराघात के उदात्त, अनुदात्त एव स्वरित तीन भेद हैं। स्वर-परिवर्तन के शब्दों के अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। अनुदात्त का चिह्न पड़ी रेखा एव स्वरित के लिए खड़ी रेखा का प्रयोग किया जाता है।

व्यजन ध्वनियाँ इस प्रकार हैं

क् ख् ग् घ् ङ्	कण्ठ्य
च् छ् ज् झ् ञ्	तालव्य
त् थ् द् ध् न्	दन्त्य
प् फ् ब् भ् म्	ओष्ठ्य
ट् ठ् ड् ढ् ण्	मूर्धन्य
य व र् ल्	अर्धस्वर
श् ष् स्	ऊष्म
ह्	महाप्राण

इनके अतिरिक्त शुद्ध नासिक्य ध्वनि—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय भी विद्यमान हैं। वैदिक भाषा मे ळ तथा ळह भी सम्मिलित हैं जिनका ऋक्सहिता मे ड, ढ, रूप मे परिवर्तन प्राप्त होता है। संस्कृत की उपरोक्त मूल ध्वनियो मे अब कहीं-कहीं उच्चारण मे अन्तर आ गया है। यथा ऋतु

लिखित रूप मे ज्यो का त्यो है परन्तु उच्चारण मे 'ऋ' के स्थान पर 'रि' ही उच्चरित होता है ।

शब्द-रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा मे 'सुप् प्रत्यय' सयुक्त कर देने से सज्ञा शब्दो के रूप निष्पन्न होते है । इन शब्दो को दो कोटिया प्राप्त होती है

(१) अजन्त् अर्थात् स्वरान्त । जिन शब्दो के अन्त मे स्वरध्वनियाँ रहती हैं, वह स्वरान्त या अजन्त शब्द कहलाते है। इन शब्दो मे भी ह्रस्व ध्वनियाँ अ, इ, उ आदि अन्त मे आने पर ह्रस्व स्वरान्त शब्द होते हैं एव आ, ई, अ आदि ध्वनियाँ अन्त मे आने पर दीर्घ स्वरान्त शब्द होते हैं।

(२) दूसरी कोटि 'हलन्त' अथवा व्यजनान्त शब्दो की है । जिन शब्दो के अन्त में स्वरसहित व्यजन ध्वनिया आती है, वे शब्द व्यजनान्त कहलाते हैं। सस्कृत के अधिकाश प्रत्यययुक्त शब्द व्यजनान्त हैं। यथा अन्त, वन्त्, क्त्, इन्, मिन्, त्, वत् आदि प्रत्ययो से युक्त समस्त शब्द व्यजनान्त अथवा हलन्त होते हैं ।

प्रस्तुत दोनो प्रकार के सज्ञा शब्दो की अनेक कोटियाँ बन जाती है। समस्त सज्ञा शब्दो के आठ कारक हैं कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, सम्बोधन । सस्कृत मे तीन लिंग माने गए हैं पुल्लिग, स्त्रीलिंग एव नपुसकलिंग तथा तीन ही वचन है एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन । सज्ञा शब्दो के आठ कारक रूपो के साथ तीनो वचनो के भिन्न-भिन्न विभक्ति चिन्ह हैं। अत आठ कारक एव तीन वचन मिलाकर प्रत्येक सज्ञा शब्द के २४ रूप हो जाते हैं। सज्ञा शब्दो में भी पुल्लिग, स्त्रीलिंग एव नपुसकलिंग शब्दो मे प्रत्येक के विभक्ति चिन्ह पृथक होते हैं। तीनो लिंगो के पृथक् रूपो मे पर्याप्त विभिन्नता है परन्तु कहीं कहीं समानता भी प्राप्त होती है । नपुसकलिंग पुस्तक, गृह, फल आदि शब्दो के कर्त्ता एव कर्म कारक के रूप भिन्न होने पर भी अन्य ६ कारको के रूप पुल्लिग शब्दो के समान ही चलते हैं।

सर्वनाम शब्दो की निष्पत्ति सज्ञा शब्दो से सर्वथा प्रतीत होती है। इन मे भी पुरुषवाचक सर्वनामो मे सज्ञा से भिन्न विभक्ति चिह्नो का प्रयोग होता है । विशेषण एव सख्यावाचक शब्दो के रूप सज्ञा शब्दो के समान ही होते हैं ।

धातु रूप

सस्कृत मे 'सुप प्रत्यय' सयुक्त होने पर सज्ञा रूप या शब्द रूप निष्पन्न होते हैं एव 'तिङ्प्रत्यय' सयुक्त होने पर धातु से क्रिया रूपो की निष्पत्ति होती है। अत क्रिया रूपो को तिङन्त रूप भी कहा जाता है।

क्रिया-रूपो मे भी सज्ञा शब्दो की भाति तीन वचन प्रयुक्त होते है। क्रिया-

रूपो मे तीन वचन, तीन पुरुष (अन्य पुरुष, मध्यमपुरुष एवं उत्तम पुरुष), दो पद (आत्मनेपद एव परस्मैपद), पाँच काल-लट् वर्तमान, लङ् (असम्पन्न या भूतकाल) लुङ् (सामान्य) लृट् (भविष्य) विधिलिङ् (निर्देश, सम्भावना आदि भाव) होते हैं। क्रिया शब्दों की निष्पत्ति मे धातुओ के द्वित्वीकरण की प्रकृति प्राप्त होती है, साथ ही धातु के पूर्व 'अ' ध्वनि का आगम एव धातु एव तिङ्प्रत्ययों के मध्य 'विकरण' का प्रयोग होता है। विकरण के प्रयोग से 'चन्द्र' शब्द को 'चन्दर' रूप में प्रयोग होने लगता है। विकरण की भिन्नता के अनुरूप धातुओ का १० गणो मे विभाजन प्राप्त होता है। ये गण निम्न हैं

भ्वादिगण, अदादिगण, जुहोत्यादिगण, दिवादिगण, स्वादिगण, तुदादिगण, रुधादिगण, तनादिगण, क्रियादिगण एवं चुरादिगण।

उपरोक्त १० गणो के भी दो विभाग किए गए हैं विकरण-युक्त तिङ्प्रत्यान्त अकारान्त क्रिया रूप एवं अन्य रूप। तिङ्प्रत्यय युक्त परस्मैपद एव आत्मनेपद के भी अन्य दो विभाग हो जाते हैं जिनमे विकृत एव अविकृत क्रिया-रूप प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के क्रिया-रूपो मे सम्पन्नकाल एव विधिलिङ् के अनुज्ञा, अभिप्राय सम्भावक आदि रूपों की निष्पत्ति मे पृथक् पृथक् चिन्हो का प्रयोग होता है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत क्रिया रूपो की रचना अपेक्षाकृत कठिन हो जाती है। उपरोक्त क्रिया रूपो की रचना वैदिक एव लौकिक सस्कृत भी भिन्न-भिन्न थी। यहाँ विस्तृत विवेचन देना अनपेक्षित होगा। वैदिक एव लौकिक सस्कृत मे पर्याप्त अन्तर होने पर भी इतना निश्चित है कि लगभग ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे पाणिनि ने परिनिष्ठित सस्कृत भाषा का व्याकरण अपनी प्रसिद्ध व्याकरण-रचना अष्टाध्यायी मे जिस रूप मे व्यवस्थित कर दिया उससे संस्कृत का रूप सदा के लिए स्थिर हो गया। पाणिनि ने अपने व्याकरणिक विवेचन की भाषा को लोकप्रचलित भाषा बतलाकर वैदिक भाषा को 'छान्दस्' नाम दिया। इतना निश्चित है कि वैदिक भाषा मे शब्दो के एकाधिक रूप प्राप्त होते हैं तथा स्वराघात पर विशेष बल दिया गया।

सरचना की दृष्टि से सस्कृत मे 'कृत्' प्रत्ययो के अतिरिक्त समास-रचना की विशेष प्रकृति प्राप्त होती हैं। तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्विगु, द्वन्द्व एवं अव्ययीभाव, इन ६ समासो का प्रयोग किया गया है। पद्य मे समासो का विशेष प्रयोग प्राप्त होता है। अनेक उपसर्ग भी प्रयोग किए गए हैं। इस प्रकार से सस्कृत की सरचना-शक्ति अत्यन्त विशाल है।

अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर आज सस्कृत भाषा मे द्रविड़, आस्ट्रिक,

रोमन, अरबी, ईरानी, तुर्की, चीनी आदि अनेक भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गए हैं।

प्राकृत-रूपगठन एवं विकास

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का काल ५०० ई० पू० तक लगभग समाप्त हो गया, इसके पश्चात् मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का युग आ जाता है। मध्य भारतीय भाषाओं में अनेक रूप प्राप्त होते हैं। परन्तु उनमें प्राकृत स्वरूप की प्रधानता रहने के कारण इस काल को प्राकृत भाषा युग भी कहा जा सकता है। प्राकृत भाषाओं को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा गया है

(१) प्रथम प्राकृत (५०० ई० पू० से १ ई० तक) इसके अन्तर्गत पालि, अशोक के अभिलेखों की भाषा तथा बौद्ध संस्कृत का प्रमुख स्थान है।

(२) द्वितीय प्राकृत (१ ई० से ५०० ई० तक) द्वितीय प्राकृतों में साहित्यिक भाषाएँ प्रमुख हैं जिनमें शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, महाराष्ट्री एव पैशाची की गणना की गई है।

(३) तृतीय प्राकृत (५०० ई० से १००० ई० तक) इसमें विविध अपभ्रंश भाषाएँ परिगणित होती हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्थान एव काल के अनुरूप भाषा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं और एक ही भाषा अनेक स्थानों पर व्यवहृत होकर असमान रूप में विकसित हो जाती है। यह विकास हमें १५०० वर्ष तक प्रयुक्त प्राकृत भाषाओं में दिखाई पड़ता है।

संस्कृत की ऋकार एवं संध्यक्षर वाली ध्वनियों का प्रयोग आर्येतर जातियों के लिए अधिक कठिन हो गया था। अत इस प्रकार की ध्वनियों में अनेक परिवर्तन प्राकृत में अपनाए गए। प्राकृत भाषाओं में ऋ, लृ आदि ध्वनियाँ लुप्त हो गईं। ऐ, औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग होने लगा। पदान्त व्यजनों का लोप हो गया। ऊष्म ध्वनियों का सर्वत्र लोप होने लगा। केवल मागधी में तालव्य श् एव अन्य भाषाओं में दन्त्य स् का प्रयोग होने लगा। ऋ का प्रयोग लिखने में होता था, उच्चारण में नही था। कतिपय प्राकृत भाषाओं में र के स्थान पर ल् प्राप्त होता है। कुछ प्राकृतों में ल् के स्थान पर 'र' का प्रयोग हुआ। प्राकृतों में 'न्' ध्वनि का विकास 'ण्' के रूप में हुआ। पालि में ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से समीकरण, लोप एव स्वरभक्ति आदि का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्री एव मागधी में अत्यधिक ध्वनि-परिवर्तन प्राप्त होते हैं। प्राकृत ध्वनियाँ निम्नलिखित है

स्वर ध्वनियाँ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ए, ओ, ओ।

व्यजन ध्वनियाँ क् ख्, ग्, घ्, ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्, ट् ठ् ड् ढ् ण्, त् थ् द् ध् न्, प् फ् ब् भ् म्, य् र् ल् व्, श् न् ष् स् ह् ड ढ।

उपर्युक्त ध्वनियों के प्रयोग में भी स्थान-स्थान पर परिवर्तन हुए, यथा-स्वरमध्यम अघोष अल्पप्राण स्पर्श का घोष रूप में प्रयोग क : ग (मूक. मूगो) कहीं-कहीं स्वरमध्यम घोष और अघोष अल्प-प्राण का लोप भी हो गया है। महाप्राण ध्वनि के स्थान पर ध्वनि के प्रयोग के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। यथा-कथा > कहा। भवति > भोति > होति आदि।

प्राकृतो मे व्यजनात शब्दो का प्राय. अभाव है। आत्मनेपद के रूप भी प्राकृतो मे नहीं हैं, साथ ही संस्कृत के तीन वचनो के स्थान पर प्राकृतो मे द्विवचन नही हैं, केवल एकवचन तथा बहुवचन के रूप सज्ञा, क्रिया आदि शब्दो मे प्राप्त होते हैं।

प्राकृतो के धातु रूपो मे पर्याप्त विभिन्नता है। १० गणों का विभाजन प्राकृत क्रिया शब्दो मे नही है। धातुओ के काल एव भावो की सख्या भी संस्कृत से कम है। पाँच कालो के स्थान पर चार कालो का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय लुप्त हो गया, साथ ही सामान्य एव असम्पन्न के रूप भूतकाल मे मिला दिए गए एव शनै-शनै. सम्पन्न का भी लोप हो गया।

व्याकरण के नियमो मे अत्यधिक जकड जाने पर संस्कृत का विकास अवरुद्ध हो गया था परन्तु प्राकृतो मे विकसित होते समय हमे पर्याप्त परिवर्तन दृष्टि-गोचर होते हैं। संस्कृत के स्वराघात के स्थान पर प्राकृतो मे बलाघात का प्रयोग हुआ, इस कारण शब्दो के रूपो मे भी परिवर्तन प्राप्त होता है। यथा 'अलकार' शब्द मे 'ल' पर बलाघात होने के कारण 'लकार' शब्द का प्रयोग हुआ। व्यजनान्त शब्द न होने के कारण अकारान्त प्रातिपदिको के रूप निष्पन्न हुए जिससे हलन्त शब्दो का अभाव हो गया। विसर्ग का लोप होकर विसर्ग के स्थान पर 'स' ध्वनि का प्रयोग हुआ। यथा मुनि मुनिस्स। सर्वनाम शब्दों का भी सज्ञा शब्दो की भाँति व्यवहार हुआ। प्राकृत भाषाओ की एक प्रमुख विशेषता है द्वित्वीकरण की परिवर्तित स्थिति। समीकरण की दशा मे वत्, प्त, क्र इत्यादि सयुक्ताक्षरो के रूप क्रमश त्त, त्त, तथा क्क रूप मे प्राप्त होने लगे।

प्राकृतो मे कृदन्ती रूपो का प्रयोग आरम्भ हो गया। कारक रचना मे कारक-चिन्हो या परसर्गो का प्रयोग न होकर स्वतन्त्र शब्द सयुक्त होने लगे, यही स्वतन्त्र शब्द आधुनिक काल मे हिन्दी मे परसर्ग बन गए।

प्राकृतो मे अधिकाश तद्भव शब्दो का प्रयोग हुआ है परन्तु धीरे-धीरे उनमे

ग्रीक, ईरानी, तुर्की आदि शब्द भी सयुक्त होने लगे, कालान्तर मे कतिपय देशज शब्दो की व्युत्पत्ति भी होने लगी है।

प्राकृत भाषाओं के रूप-गठन एव विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत से प्राकृत तक आते-आते भाषा मे पर्याप्त परिवर्तन हो गए थे, परन्तु इन परिवर्तनो की गति एव व्यवहार स्थान-स्थान पर भिन्न थे। उत्तर पश्चिम सीमान्त एव पजाब की भाषा प्राचीन भाषा के अधिक निकट रही, परन्तु उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग एव बिहार की भाषा मे परिवर्तन की गति अत्यन्त तीव्र थी, अत यही से परिवर्तन का प्रारम्भ माना जाता है। मध्यप्रदेश की भाषा मे भी परिवर्तन आरम्भ हो गए थे परन्तु वह सामान्य थे।

प्रथम प्राकृतो मे पालि का स्थान सर्वोपरि है। बौद्ध साहित्य पालि मे है, अत. इसे मगध की भाषा कहा जाता है। विद्वानो मे पालि के स्थान के विषय मे मतभेद है, परन्तु सर्वमान्य मतो के आधार पर इतना निश्चित है कि मध्य प्रदेश की भाषा ही पालि का आधार मानी जा सकती है। वास्तव मे बौद्ध धर्म के स्थिरवाद या हीनयान सम्प्रदाय का साहित्य पालि मे ही है, अत इन्होने इसे विशेष मान्यता दी। महात्मा बुद्ध ने मागधी मे उपदेश दिए थे परन्तु लोगो से अपनी अपनी भाषा मे ग्रहण करने को कहा था, यही कारण है कि महायान सम्प्रदाय का साहित्य मुख्यत सस्कृत मे है और हीनयान का साहित्य पालि मे है। महायान सम्प्रदाय के साहित्य की भाषा बौद्ध सस्कृत कहलाती है। परि-निष्ठित सस्कृत होने पर भी बौद्ध सस्कृत एव वैदिक सस्कृत की कतिपय ध्वनियो मे पद-योजना, रूप आदि मे अन्तर प्राप्त होते हैं। सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक अभिलेखो की आयोजना की थी, जो भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारो कोनो तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर स्थापित कराये गए थे, परन्तु उन शिलालेखो की भाषा स्थान-विशेष की भाषा से सम्बन्धित है, साथ ही उनमे कही-कही पालि का पुट भी प्राप्त होता है जिससे स्पष्ट है कि शिलालेखो मे विभिन्न भाषाओ का अनुवाद करनेवाले व्यक्ति पालि भाषा के ही होगे। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम प्राकृतो के काल मे पालि भाषा का स्थान सर्वोपरि था।

द्वितीय प्राकृत काल साहित्यिक प्राकृत भाषाओ का काल था, इस समय व्यवहृत होनेवाली भाषा मे निरन्तर ध्वनियो एव शब्द-रूपो के सरल बनाने की प्रवृत्ति सक्रिय थी। उसके पूर्व काल मे जो स्वर मध्यम अघोष स्पर्श व्यजन सघोष रूप मे प्रयुक्त होने लगे थे, उनके उच्चारण मे शिथिलता आने लगी एव धीरे-धीरे ये ध्वनियाँ लुप्त हो गई जिससे भाषा मे बहुत परिवर्तन प्रकट होने

लगे। यथा- शुक > सुग > सुअ। इस प्रकार का परिवर्तन उच्चारण में था, लिखने में उस समय पूर्णत न आया। अत एक शब्द के परिवर्तित एवं अपरिवर्तित कई प्रकार के रूप प्राप्त होने लगे। अत एक ही भाषा के कुछ अन्तर से विभिन्न नाम हो गए। संस्कृत नाटकों में स्त्री पात्र एव विदूषक आदि शौरसेनी भाषा का प्रयोग करते हैं परन्तु निम्न श्रेणी के पात्र मागधी प्राकृत बोलते हैं। अर्ध मागधी में जैन आचार्यो ने शास्त्रों की रचना की। अश्वघोष के संस्कृत नाटक सारिपुत्र प्रकरण में भी अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में लिखी गयी कही जाती है, परन्तु कोई भी रचना सुरक्षित नही मिलती। अन्त में महाराष्ट्री प्राकृत है, जो प्राकृतों में सबसे अधिक विकसित भाषा मानी जाती है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत पद्य रचना महाराष्ट्री में ही हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत का वैयाकरणों ने अध्ययन एव विवेचन करके अन्य प्राकृतों के नियम निर्धारित किए हैं। कतिपय विद्वान तो शौरसेनी का विकसित रूप ही महाराष्ट्री प्राकृत मानते हैं। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि स्वर मध्यग स्पर्श व्यजनों का लोप हो गया है। यथा प्राकृत > पाउअ। प्रस्तुत पाँचों प्राकृत विभिन्न प्रदेशों की लोक भाषाएँ रही हैं अत प्रत्येक की सूक्ष्म विशेषताएँ भी भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होती हैं।

तृतीय प्राकृतों में भाषा के मुख्य स्वरूप को 'अपभ्रंश' की संज्ञा दी गई है। ५०० से १००० ई० तक का काल अपभ्रंश काल कहा जाता है। समस्त आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश काल में महत्वपूर्ण रहा। यह काल आधुनिक भाषाओं का संधिकाल है। जिस प्रकार व्याकरण निबद्ध होने के कारण संस्कृत भाषा का विकास अवरुद्ध हो गया, उसी प्रकार द्वितीय प्राकृत काल में विशाल साहित्य की रचना होने पर प्राकृतों ने परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप ग्रहण कर लिया और उनका विकास शिथिल हो गया। ५०० से १००० ई० तक का काल इन्हीं भाषाओं का विकसित काल था जिसे अपभ्रंश नाम से अभिहित किया जाता है। अपभ्रंश काल के साहित्य में कही भी उस भाषा का नाम 'अपभ्रंश' रूप में नही स्वीकार किया गया है परन्तु उस समय भाषा में ऐसे शब्दों की सरचना होने लगी थी, जिन्हें तत्कालीन साहित्यकार संस्कृत या प्राकृत से भी निकृष्ट मानते थे। ऐसे शब्दों से युक्त भाषा 'अपभ्रष्ट' कही जाने लगी। उसी के अन्य नाम अवब्भस अवहस, अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहंठ, अवहट एव औहट आदि प्रयुक्त होने लगे।

अपभ्रंश का रूपगठन एवं विकास

अपभ्रंश के भौगोलिक स्वरूप एव बोलियों के आधार पर शौरसेनी, पैशाची,

प्राचड, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी आदि ६ भेद किए गए हैं। इनको उप-शाखाओं के रूप में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन किया गया है, जिनका संक्षिप्त परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। यहाँ प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश में आए परिवर्तनों का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

ध्वनियाँ

अपभ्रंश में भी वही १० स्वर ध्वनियाँ प्रयुक्त की गईं जो प्राकृत में व्यवहृत थी। अपभ्रंश में कोई भी नए चिन्ह स्वर ध्वनियों के नहीं बनाए गए, अपितु 'ए' 'ओ' ध्वनियों के लिए उच्चारण में इ, उ ध्वनियों का व्यवहार किया गया परन्तु उपरोक्त ध्वनियों के लिखित रूप वही थे।

अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत एव प्राकृत की प्रवृत्ति के अनुरूप अन्त्य स्वरों का ह्रास होने लगा एव उपान्त्य स्वरों की मात्रा सुरक्षित रही, यथा-स्वयम् > सइ या उपाध्याय > उज्झा (अन्त्य स्वर-ह्रास के उदाहरण हैं)

अन्धकार > अन्धआर (उपान्त्य स्वर 'आ' की मात्राएँ सुरक्षित हैं)।

प्राकृत भाषाओं में द्वित्व-व्यंजन में समीकरण की प्रवृत्ति आ गई थी परन्तु अपभ्रंश में द्वित्वीकरण के स्थान पर एक ध्वनि का प्रयोग होने लगा था। यथा इन्द्रिय > इन्दिय > इंदि। अपभ्रंश में ध्वनि-विचार होने पर भी आदि अक्षर के स्वर की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा गभीर > गहिर। अनुनासिकता की प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई। उदाहरण वक्र > वंक।

लिंग-भेद प्राय समाप्त हो गया था एव भाषा में पुल्लिंग शब्दों की प्रधानता रही। कारक परसर्गों का प्रयोग होने लगा। संस्कृत के आठ कारक केवल तीन समूहों में विभाजित कर दिए गए कर्त्ता, कर्म एव सम्बोधन कारक का एक वर्ग रहा, जिसमें विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग प्राय समाप्त हो गया। द्वितीय वर्ग में करण, अधिकरण, एव तृतीय वर्ग में सम्प्रदान, अपादान एव सम्बन्ध कारक रहे। इनके रूपों में सम्मिश्रण हो गया। साथ ही इनमें परसर्गों का प्रयोग किया गया (जिनके विकसित रूप हिन्दी कारक चिन्ह ने, को, से आदि माने जाते हैं) फलस्वरूप कारकों के रूप बहुत कम हो गए। संस्कृत में जिन रूपों की संख्या २४ हो जाती थी, वह अपभ्रंश में केवल ६ ही रह गई। एकवचन एव बहुवचन का प्रयोग होने लगा। अत. दो वचन एव तीन कारकों के अन्तर्गत शब्द रूप केवल ६ की संख्या में ही रह गए।

धातु रूपों में भी तिङन्त रूप कम होने लगे एव संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग होने लगा। भाषा का स्वरूप वियोगात्मकता की ओर विकसित होता रहा, अत.

कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं का प्रयोग होने लगा। वाक्य-रचना में शब्दों के समान निश्चित होने की प्रवृत्ति भी इस युग की ही देन है।

अपभ्रंश भाषाओं के काल में नए शब्द बनाने की प्रवृत्ति भी रही। तद्भव शब्दों का बाहुल्य था, परन्तु इस काल के अन्तिम चरण में तत्सम-शब्दों का भी पर्याप्त व्यवहार होने लगा। साथ ही देशज शब्दों का प्रयोग निरन्तर बढ़ रहा था। अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आने के कारण फारसी, तुर्की, आस्ट्रिक एव द्रविड आदि आर्येतर भाषाओं के शब्द भी ग्रहण किए जाने लगे थे। अत भाषा के शब्द-भडार में निरन्तर वृद्धि होने लगी।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश काल की भाषाएँ व्याकरणिक दृष्टि से सरलता की ओर उन्मुख होने लगी थीं और शब्द-भडार की वृद्धि हो रही थी। उपरोक्त विभिन्नताएँ किसी भाषा-विशेष में ही परिलक्षित नहीं होतीं, वरन् वे उस काल की विशेषताएँ हैं जिनसे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ है। इन भाषाओं का सक्षिप्त परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

हिन्दी का आधुनिक स्वरूप एवं व्याकरणिक विवेचन

पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान हिन्दी की सज्ञा पश्चिमी हिन्दी की खड़ीबोली को दी जाती है जिसका शौरसेनी अपभ्रंश से विकास हुआ है। यही खडीबोली आज साहित्यिक भाषा एव राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य है। खडीबोली का विकास अपभ्रंश काल के पश्चात् चार सोपानों में हुआ है वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एव आधुनिक काल में। आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में ही हिन्दी की तीव्रगति से प्रगति हुई है। खडीबोली की बहुमुखी प्रगति के कारण ही वह परिनिष्ठित भाषा के रूप में मान्य है। व्याकरणिक दृष्टि से हिन्दी में कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

हिन्दी व्याकरण को सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण एव अव्यय आदि पाँच भागों में विभाजित किया गया है। कतिपय विद्वानों ने विशेषतया अग्रेजी विद्वानों ने हिन्दी शब्दों को आठ भागों में विभाजित किया है। एक समान कार्य करने वाले शब्दों की भाषा में पृथक् कोटियाँ बना ली जाती हैं। लिंग, वचन, कारक आदि का कार्य मुख्यत· सज्ञा शब्दों के सदर्भ में प्राप्त होता है, अत इन्हें सज्ञा के अन्तर्गत मानकर काल, वाच्य, अर्थ आदि का, अध्ययन क्रिया शब्दों के साथ किया जाता है। इस प्रकार अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी शब्दों को उपरोक्त पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है।

संज्ञा-शब्द

संस्कृत मे तीन वचन एव आठ विभक्तियो के रूप मिलाकर एक शब्द के चौबीस रूप हो जाते है, साथ ही भिन्न अन्त एव भिन्न लिग वाली सज्ञाओ के रूप भी पृथक-पृथक होते हैं, परन्तु हिन्दी मे इस प्रकार की जटिलता नही पाई जाती। हिन्दी मे केवल दो वचनो (एकवचन एववहुवचन) का प्रयोग होता है, इनमे चार से अधिक रूप नही पाए जाते। भिन्न अन्त वचन एव लिग के साथ कुछ भेद अवश्य हो जाते हैं जिनमे भिन्न कारक चिन्हो का प्रयोग कर अन्य रूप प्रयोग मे लाए जाते हैं। लिग, वचन एव कारक की दृष्टि से हिन्दी मे निम्न विशेषताएँ हैं·

लिग

हिन्दी मे स्त्रीलिग एव पुल्लिग दो ही लिग माने गए हैं। समस्त चेतन एव अचेतन वस्तुओ का भी उपरोक्त दो लिग मे ही निर्धारण किया गया है। अन्य भाषा-भाषी व्यक्तियो के लिए इस विभाजन मे वडी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी हिन्दी की लिग सम्बन्धी जटिलता को मानते है। हिन्दी लिगो के सम्बन्ध मे दूसरी वात यह है कि सज्ञा के साथ प्रयुक्त होनेवाली क्रिया भी लिग-भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।
उदाहरण

लडका जाता है। (पुल्लिग)
लडकी जाती है। (स्त्रीलिग)

हिन्दी के अकारान्त एव ईकारान्त रूपो मे भी लिग-भेद के कारण परिवर्तन हो जाता है। यथा

	एकवचन	वहुवचन
पुल्लिग	आ—लडका	ए लडके
स्त्रीलिग	ई लडकी	ई—लडकी, लडकियाँ

प्रस्तुत वर्गीकरण मे 'ई' प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिग रूप वनाया गया है, परन्तु अन्य स्त्रीलिग प्रत्यय युक्त शब्दो की रचना भिन्न हो जाती है। यथा—

पुल्लिग	स्त्रीलिग	प्रत्यय
हाथी	हथिनी	इनी
पडित	पडिताइन	आइन
पडित	पडितानी	आनी
धोवी	धोविन	इन

वचन

संस्कृत में तीन वचन थे परन्तु हिन्दी में एकवचन एवं बहुवचन को ही अपनाया गया है। द्विवचन समाप्त कर दिया गया (यह विशेषता वस्तुत प्राकृत एवं अपभ्रंश काल की ही है)। हिन्दी में वचन सम्बन्धी धारणा सरल एवं स्पष्ट है। कतिपय निम्न रूप द्रष्टव्य हैं

(अ) कतिपय स्वरान्त संज्ञाओं एवं व्यंजनान्त शब्दों में एकवचन एवं बहुवचन के एक ही रूप प्राप्त होते हैं·

एकवचन	बहुवचन
घर	घर
आदमी	आदमी

(आ) स्त्रीलिंग अकारान्त संज्ञाओं में बहुवचन में 'एं' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा

कथा	कथाएँ
औरत	औरतें

(इ) पुल्लिंग अकारान्त शब्दों में बहुवचन में 'ए' प्रयुक्त होता है। यथा

लडका लडके।

(ई) स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्दों में बहुवचन में 'ईं' एवं 'इयाँ' दोनों में प्रयुक्त होते हैं। यथा

लडकी	लड़कीं,	लड़कियाँ

(उ) अधिकाश बहुवचनों में 'ओं' का प्रयोग होता है तथा ईकारान्त शब्दों में अन्तिम 'ई' ह्रस्व हो जाती है, साथ ही 'ओं' के स्थान पर 'यों' हो जाता है। यथा

घर	घरों
लडके	लडकों
लडकी	लडकियों

कारक

यूरोपीय भाषाओं में संज्ञाओं का वाक्य में अन्य शब्दों से सम्बन्ध उपसर्ग (preposition) द्वारा प्रकट किया जाता है। फ्रेंच, अंग्रेजी तथा फारसी में भी उपसर्गों की सहायता से कारक प्रकट किए जाते हैं। परन्तु संस्कृत में प्रातिपदिक रूपों में विभक्ति-प्रत्यय लगाकर भिन्न-भिन्न रूप निष्पन्न होते थे। हिन्दी के लिए कारक की परिभाषा संस्कृत से भिन्न हो जाती है। हिन्दी में

शब्दो का सम्बन्ध जिन तत्वो से प्रकट किया जाता है, उन्हें परसर्ग, अनुसर्ग अथवा कारक प्रत्यय कहते हैं। हिन्दी मे इस प्रकार के परसर्गों के ने, को, से तीन रूप प्राप्त होते हैं। हिन्दी के कारक तीन वर्गों मे विभक्त हैं, जिन्हें क्रमश: मूल कारक, विकारी कारक अथवा सम्बोधन कारक कह सकते हैं।

मूल एवं विकारी रूप

प्रसिद्ध भाषाविद् डा० उदयनारायण तिवारी ने शब्दकोशो का यथावत् रूप मूल रूप माना है और जो विकृत होकर प्रयुक्त होते हैं, उन्हे विकारी रूप माना है। कारक एक प्रकार से सज्ञा या सर्वनाम के रूप हैं, जो दूसरे शब्दो के साथ लिग, वचन आदि का निर्धारण करते है। अपने सम्बन्धो को स्पष्ट करने के लिए जो शब्द अपना मूलरूप सुरक्षित रखता है अथवा जिसमे मूल शब्द विद्यमान रहता है, वह मूलरूप है अन्यथा विकारी रूप होते हैं। उदा०

घोडा जाता है (यहाँ घोडा मूल रूप है)

घोडे ने घास खाई (यहाँ 'ने' परसर्ग के आधार पर घोडा रूप परिवर्तित है)।

कारक विभक्तियो के माध्यम से स्पष्ट होते हैं। विभक्तियाँ ही भाषा के वह तत्व हैं जिनके आधार पर ये सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। यथा

(सस्कृत) राम (हिन्दी) राम ने (यहाँ 'ने' तत्व के आधार पर कर्तृत्व स्पष्ट हो जाता है)।

दूसरे शब्दो मे विभक्ति भाषा के अश एव कारक अर्थ या भाव होते हैं जो विभक्तियो द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं। इस प्रकार विभक्तियाँ स्वय कारक नही हैं। हिन्दी मे निम्न रूप मे विभक्ति चिन्ह प्राप्त होते हैं

कर्ता एव करण कारक ने

कर्म एव सम्प्रदान कारक को (इसमे 'को' एव 'के लिए' का भी प्रयोग होता है)

अधिकरण एव अपादान कारक से

सम्बन्ध कारक मे सज्ञा के अनुसार लिग भी होता है। अत इसमे लिगभेद के अनुरूप का, के, की आदि विभक्तियो का प्रयोग होता है। यथा

लडके का लोटा

लडके की गेंद

लडके के घर

हिन्दी अधिकरण कारक मे 'मे' एव 'पर' कारक चिन्हो का भी प्रयोग होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम शब्द वास्तव में एक प्रकार की नाम शब्दावली है। नाम शब्दावली के तीन भेद माने गए हैं संज्ञा, सर्वनाम एव विशेषण। तीनों प्रकार की नाम शब्दावली में लिंग, वचन एवं कारक के भिन्न-भिन्न विभक्ति एव प्रत्यय आदि का प्रयोग होता है। संज्ञा शब्दों की भांति ही धीरे-धीरे सर्वनाम शब्दों के विकारी रूप लुप्त होते गए और उनके स्थान पर सबध एव अविकरण कारक के रूपों का प्रयोग होने लगा। वैदिक एव लौकिक सर्वनाम रूपों से ही मध्यवर्ती भाषाओं मे रूपान्तर होते हुए हिन्दी सर्वनाम मे लिंग-भेद होता था, परन्तु हिन्दी मे इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। सस्कृत के प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष के स्थान पर हिन्दी मे प्रथम श्रेणी मे उत्तम पुरुष के मैं, हम आदि सर्वनामो का प्रयोग होता है। हिन्दी सर्वनामो मे रूप एवं अर्थ की दृष्टि से निम्न भेद हैं

(१) व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनाम

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	मैं, मेरी	हम, हमारी
मध्यम पुरुष	तू, आप	तुम, आप, सब

सस्कृत अन्य पुरुष के रूप हिन्दी मे सकेतवाचक या उल्लेखसूचक सर्वनाम के अन्तर्गत माने गए हैं।

(२) उल्लेखसूचक या सकेतवाचक

	एकवचन	बहुवचन
प्रत्यक्ष या निकटवर्ती	यह	ये
परोक्ष या दूरवर्ती	वह	वे
(३) साकल्यवाचक		ये, सब
(४) सम्बन्धवाचक	जो, जिस,	जो, जिन्हें
(५) सह-सम्बन्धवाचक	सो, तिस	तिन्हें
(६) प्रश्नवाचक	कौन	कौन
(७) अनिश्चयवाचक	कोई, किसी	कोई
(८) आत्मसूचक एव	अपना, अपनी	
पारस्परिक	आप, स्वयं	

उपरोक्त प्रकारो के अतिरिक्त कतिपय सर्वनाम पर आधारित विशेषण भी हैं। इनके रूप अव्ययवत् प्रयुक्त होते हैं। ये निम्न हैं·

(१) स्थानवाचक, यहाँ, वहाँ, जहाँ, तहाँ, कहाँ।

(२) कालवाचक, अब, जब, तब, कब ।

(३) दिशावाचक, इधर, उधर, जिधर, तिधर, किधर ।

(४) रीतिवाचक, ऐसा, वैसा, जैसा, तैसा, कैसा ।

(५) प्रकारवाचक, यों, ज्यों, त्यों, क्यों ।

(६) परिमाणवाचक, इतना, उतना, जितना, कितना ।

उपरोक्त सर्वनाम जात विशेषणों मे हाँ, व, धर, सा, ओ, तना आदि प्रत्यय हैं जो इ, उ, ज, न, व आदि प्रातिपदिक अंशो मे सयुक्त होकर शब्दो की रचना करते हैं।

विशेषण

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा मे विशेषण के अनुरूप ही लिंग, वचन एवं कारक मे परिवर्तन हो जाता था। यही परम्परा मध्यवर्ती आर्य भाषाओं मे भी विद्यमान रही, परन्तु हिन्दी मे इस प्रकार का परिवर्तन लगभग समाप्त हो या। हिन्दी में केवल आकारान्त विशेषणो के रूप-विकार प्राप्त होते हैं। आकारान्त तद्भव विशेषणो मे रूप-विकार की निम्न स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं

(अ) आकारान्त पुल्लिंग विशेष्यपद मे कर्त्ताकारक एकवचन मे रूप-विकार नही होता । यथा अच्छा लडका जाता है ।

(आ) आकारान्त विशेषण का पदान्त अ > ए रूप मे कर्त्ता बहुवचन एवं विकारी कारक दोनो वचनो मे प्राप्त होता है। यथा अच्छे घोड़े जाते हैं। अच्छे घोडो को जाने दो ।

(इ) अकारान्त विशेषण पद का पदान्त 'ई' रूप मे स्त्रीलिंग विशेष्य पद के साथ सभी वचन एव कारको मे प्रयुक्त होता है। यथा अच्छी लड़कियाँ जाती हैं ।

कतिपय शब्दो मे आकारान्त विशेषण का पदान्त 'आ' स्वर 'ए' एवं 'ई' रूप मे परिवर्तित हो जाता है । यथा

बायाँ का 'बाएँ' एव 'बाईं' रूप मे भी प्रयोग होता है।

सस्कृत भाषा मे तुलनात्मक दृष्टि से विचार के लिए 'तर' एव 'तम्' प्रत्ययो का प्रयोग होता था। यथा श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम आदि । हिन्दी मे तुलनात्मक भाव प्रदर्शित करने के लिए 'से' परसर्गयुक्त पदो का प्रयोग होता है। कभी-कभी सज्ञा सर्वनाम पदो मे 'और अधिक' 'और ज्यादा' 'आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। समानता का भाव प्रदर्शित करने के लिए 'सरीखा', 'जैसा', 'सा' आदि शब्दो का प्रयोग होता है। यथा

रमा गीता से अच्छी है।
यह पुस्तक और। अधिक अच्छी है।
यह लड़का सबसे ज्यादा बुद्धिमान है।
लक्ष्मी सरीखी स्त्रियाँ यहाँ हैं।
कल जैसी ठंड नहीं है।

हिन्दी विशेषणो के निम्नलिखित विभाग किए जा सकते है

(१) गणनात्मक एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि की गिनतियाँ इस श्रेणी में आती हैं। गणनात्मक शब्द को दुहराने से प्रत्येकवाची संख्यावाचक विशेषण बनते हैं। यथा एक-एक। दो-दो।

(२) क्रमात्मक पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा आदि शब्द क्रमात्मक विशेषण के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम चार शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न हैं। शेष क्रमात्मक विशेषण में 'वाँ' प्रत्यय लगता है। यथा पाँचवाँ।

(३) गुणात्मक संख्यावाचक विशेषण एक, दूनी, तिया, चौका, पचा, छका आदि शब्द पहाड़े इत्यादि में प्रयुक्त होते हैं। इनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत शब्दों से हुई है।

(४) समूहवाचक संख्याएँ जिन शब्दो से वस्तु-विशेष के समूह या निर्धारित संख्याओं का बोध होता है, ये समूहवाचक विशेषण कहलाते हैं। यथा जोड़ी, गंडा, चौक, कौड़ी, सैकड़ा, लाख आदि।

(५) समानुपाती संख्यावाचक विशेषण हिन्दी संख्याओं में 'गुना' शब्द संयुक्तकर इस प्रकार के विशेषण निष्पन्न होते हैं। यथा दुगुना, चौगुना आदि।

(६) भिन्नात्मक संख्यावाचक विशेषण पाव, पौन, तिहाई, अद्धा, डेढ़, ढाई, ३/४, १/३, १/२, १½ आदि इसी प्रकार भिन्नो के ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं।

'कम' शब्द के योग से ऋणात्मक संख्यावाची विशेषण शब्द प्रयुक्त होते हैं। यथा 'दो कम बीस' आदि। यह प्रयोग प्राय. अशिक्षित व्यक्तियो में प्राप्त होते हैं।

(७) निश्चित संख्यावाचक विशेषण किसी संख्या-विशेष की निश्चितता प्रकट करने के लिए संख्या-विशेष में 'ओं' प्रत्यय संयुक्त हो जाता है। यथा तीनों, चारों।

(८) अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण किसी संख्या-विशेष के अनिश्चय

का भाव प्रकट करने के लिए गुणित संख्यावाचक शब्द में 'ओं' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा दसों, बीसों, हजारों आदि।

कभी-कभी अनिश्चय का भाव प्रकट करने के लिए 'एक' 'अधि' आदि शब्दों का संख्या-विशेष के साथ प्रयोग होता है एवं कभी-कभी दो संख्याओं का एक साथ प्रयोग करके भी अनिश्चय की स्थिति बतलाई जाती है। यथा दस एक, एकाध, दो-चार, दस-बीस आदि।

क्रिया

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा संस्कृत के परिचय में बताया जा चुका है कि संस्कृत में धातु रूपों की अत्यन्त जटिलता थी, परन्तु पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में विकसित होते हुए वर्तमान आर्यभाषाओं में क्रियापद सरल हो गए हैं। संस्कृत के १० गणों के स्थान पर केवल एक प्रकार की क्रियाएँ प्रयोग में आने लगी है (भ्वादिगण के रूपों की समानता पर अपभ्रंश काल में भी क्रियापदों का प्रयोग होने लगा था)। प भी दो के स्थान पर परस्मैपद के रूप में एक ही प्रयुक्त होने लगा है। वाच्य कर्तृ एवं कर्म दो ही रह गए हैं, लिंग, वचन एवं पुरुष के सम्बन्ध में सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसके कारण आर्येतर जातियों का सम्पर्क भी रहा जिससे भाषाओं में कतिपय नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग कर अत्यधिक सरलता के लिए क्रियापदों की रचना में नई प्रणालियाँ काम में लाई जाने लगी। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भी मध्य-भारतीय आर्यभाषा काल से आरम्भ हो गया था। यह प्रयोग हिन्दी में भी वर्तमान रहा। हिन्दी में अधिकांश कृदन्त रूपों को अपनाया गया है। संस्कृत के कतिपय तिङन्त रूप आधुनिक भाषाओं में अवशिष्ट है। डा० ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि ने हिन्दी एवं आधुनिक भाषाओं की क्रियाओं का अध्ययन एवं मनन किया है। डा० चटर्जी के मतानुसार हिन्दी क्रियापदों को दो विभागों में विभाजित किया गया है

(१) सिद्ध धातुएँ (Primary roots)
(२) साधित धातुएँ (Secondary roots)

सिद्ध धातुएँ

जिन धातुओं के मूलरूप सुरक्षित हैं, वह सिद्ध धातुओं के अंतर्गत माने गए हैं। सिद्ध धातुओं को मूल धातु भी कहा गया है। इस प्रकार की धातुओं में संस्कृत

तद्भव, तत्सम एवं संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली कतिपय देशी धातुएँ भी हैं। ये निम्नलिखित हैं :

(१) संस्कृत तद्भव धातुओं में दो प्रकार की धातुएँ हैं। हार्नले[1] के अनुसार संस्कृत तद्भव धातुओं की संख्या ३९२ मानी गई है। संस्कृत तद्भव साधारण धातुओं के अन्तर्गत हिन्दी की कर, काँप, काट, जाग्, गूंज आदि अनेक धातुएँ हैं जो प्रतिदिन के व्यवहार में 'ना' प्रत्यय संयुक्त होकर प्रयोग में आती हैं। यथा करना, काँपना, काटना, जागना आदि।

संस्कृत तद्भव धातुओं में दूसरे प्रकार की धातु उपसर्गयुक्त धातुएँ मानी गई हैं। उपसर्गयुक्त धातुओं से विकसित क्रियापद इस श्रेणी में आते हैं। यथा बैठ् (सं. उप+विष्ट), उग् (सं. उत्+गम्), भीग (अभि+अञ्ज) आदि क्रियापदों में उत्, उप, अभि आदि उपसर्ग संयुक्त होकर हिन्दी क्रियापदों की रचना हुई है।

(२) दूसरी प्रेरणार्थक अथवा संस्कृत णिजन्त् से आई हुई सिद्ध धातुएँ हैं। इनसे बननेवाले क्रियापद प्राचीन प्रेरणार्थक के तद्भव रूप हैं। गणों के समाप्त हो जाने पर भी विकरणयुक्त कुछ धातुरूप हिन्दी में प्राप्त होते हैं। यथा

य विकरणयुक्त रूप सं० नृत यति (नृत्य) नाच (ना)
नो „ „ श्रु—णोति सुन (ना)
ना „ „ ज्ञा जा नाति जान (ना)
च्छ „ „ पृ च्छ ति पूछ (ना)
न का मध्यागम „ वन्ध बाँध (ना)

संस्कृत णिजन्त धातुएँ भी हिन्दी में प्रयुक्त हुई हैं जिनमें प्रेरणा का भाव लुप्त हो चुका था एवं वे सकर्मक क्रियाओं के रूप में व्यवहृत होने लगीं। यथा मार (ना), छा (ना) आदि। इन रूपों के प्रेरणार्थक के रूप में प्रयोग करने के लिए 'या' अथवा 'वा' प्रयोग करना पड़ता है। यथा मारना के स्थान पर मारना या मरवाना रूप बनते हैं। इसी प्रकार

छाना छवाना
जलना जलवाना
हारना हराना आदि

१. हार्नले हिन्दी रूट्स, ज० आ० ए० सो० बं० १८८०, भाग १।

(३) संस्कृत के पुनः व्यवहृत तत्सम या अर्धतत्सम धातुएँ ये भी हिन्दी मे व्यवहृत होने लगी। आधुनिक युग के प्रथम चरण मे स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ ही धार्मिक एव सास्कृतिक आन्दोलन हुए जिनके फलस्वरूप संस्कृत के तत्सम एव अर्धतत्सम शब्दो के प्रयोग द्वारा भाषा को संस्कृतनिष्ठ बना लिया गया था। अत संस्कृत तत्सम एव अर्धतत्सम धातुओ का प्रयोग कर हिन्दी क्रियापदो की रचना हुई है। उदाहरण–

सं० शोभ शोभित करना

स० अर्प अर्पित करना, अर्जन करना आदि।

(४) संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली देशज धातुएँ इस वर्ग मे ऐसी धातुएँ आती है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत धातुओ से इतर है अथवा देशज है। उदाहरण–

बटोरना, फडकना, लोटना, लडना आदि।

साधित धातुएँ

इस वर्ग के अन्तर्गत वह यौगिक धातुएँ आती हैं जो विभिन्न प्रकार के शब्दो के आधार पर बनी है। ये निम्न रूप मे प्राप्त होती हैं

(१) आकारान्त प्रेरणार्थक या णिजन्त धातुएँ सिद्ध प्रेरणार्थक मे बताया जा चुका है कि हिन्दी मे 'प्रेरणार्थक' रूप लुप्त होकर सकर्मक क्रिया का रूप धारण कर चुके थे। अत 'मरना' से 'मारना' सकर्मक क्रिया बनी। परन्तु आकारान्त प्रेरणार्थक मे 'आ' प्रत्यय संयुक्त होकर करा, पढा, गढा आदि क्रिया-पद निष्पन्न हुए। मूलधातु मे 'वा' प्रत्यय संयुक्त कर अनेक रूप बन गए। यथा–दौड–दौडवाना, जगवाना, घुमवाना आदि।

(२) नाम धातु सज्ञापद एव क्रियामूलक विशेषण जब धातु रचना मे प्रयुक्त होते है, वह नामधातु कहलाते हैं। अनेक तद्भव (प्राचीन एव नवीन) तत्सम, अर्धतत्सम एव विदेशी और देशज शब्दो से हिन्दी मे नाम धातुओ का प्रयोग होता है। अनेक शब्दो मे 'आ' प्रत्यय संयुक्त कर नामधातु रचना प्राप्त होती है। रूप-सादृश्य होने के कारण नामधातु एव प्रेरणार्थक प्रत्यय मे कोई अन्तर नही रह गया है।

उदाहरण	संस्कृत तत्सम	कष्ट	हिन्दी	काढ (ना)
	" अर्धतत्सम	पिष्ट	"	पीट (ना)
		जन्म	"	जनमना
		लोभ	"	लुभाना

संस्कृत तद्भव	गाँठ	गठियाना, बतियाना, हथियाना आदि
विदेशी-फारसी	गर्म	गर्माना
	शर्म	शर्माना
देशज	झाँक	झाँकना, टाँगना आदि

संस्कृत के कृदन्त रूपों को अपनाने के कारण हिन्दी के क्रियारूपों में लिंग-भेद की विशेषता प्राप्त होती है। यथा

लडका गया (पुल्लिंग)
लडकी गई (स्त्रीलिंग)

हिन्दी मे पुरुष भेद सहायक क्रियाओ के रूप मे व्यक्त किये जाता है। यथा

मैं जाता हूँ उत्तम पुरुष
तुम जाते हो मध्यम पुरुष
वह जाता है अन्य पुरुष

निर्देशक, आज्ञा एव सयोजक तीन प्रकार के रूप हिन्दी मे प्रयुक्त हुए है। आज्ञा के रूप परम्परागत एव निर्देश तथा सयोजन के रूप नई पद्धति पर आधारित हैं। कर्तृवाच्य एव कर्मवाच्य केवल दो वाच्य प्रयोग मे आए हैं।

काल रचना

संस्कृत से हिन्दी मे काल-रचना पर्याप्त भिन्न हो गई।] संस्कृत मे भूतकाल के तीन प्रयोग थे परन्तु हिन्दी मे उन्हे एक मे ही समेट लिया गया। संस्कृत वर्तमानकाल कृदन्तीय रूप हिन्दी मे अपनाए गए, साथ ही वर्तमान निर्देश के रूप मे भी। यथा संस्कृत चलन्त हिन्दी चलता। हिन्दी काल रचना विभाजन निम्न रूप मे किया जा सकता है

(१) सरल या मौलिक काल जिसमे विना किसी सहायक क्रिया की सहायता से तिङन्त या कृदन्त रूप प्रयुक्त होते है। उदा०

तिङन्त	(तू) चल	वर्तमान आज्ञार्थक
"	चलूँगा, चलोगे, चलेगा, चलोगी	भविष्यत्।
कृदन्तीय काल	(मैं) चला, (तुम) चले (वह) चला	साधारण या नित्य अतीत
"	" चलता " चलते, " चलता	कारणात्मक अतीत
"	(तुम) चलना	आज्ञार्थक भविष्य

(२) मिश्र या यौगिक काल समूह जिसमे किसी धातु रूप के साथ सहायक क्रिया भी प्रयुक्त होती है। उसके निम्न दो वर्ग हैं

(अ) घटमान काल का समूह वर्तमान कृदन्त के साथ सहायक क्रिया के प्रयोग

वर्तमान काल	भूतकाल	भविष्य काल
(मैं) चलता हूँ	चलता था	चलता हूँगा
(तुम) चलते हो	चलते थे	चलते होगे
(वह) चलता है	चलता था	चलता होगा

सम्भाव्य वर्तमान

(मैं) चलता होऊँ	चलता होता
(तुम) चलते (होवे)	चलते होते
(वह) चलता (होवे)	चलता होता

(आ) पुराघटित काल समूह मूतकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग

वर्तमान	भूत	भविष्य
(मैं) चला हूँ	चला था	चला हूँगा
(तुम) चले हो	चले थे	चले होगे
(वह) चला है	चला था	चला होगा

सम्भाव्य वर्तमान

चला होऊ	चला होता
चले होना	चले होते
चला होवे, हो	चला होता

प्रत्यय सयोगी भविष्य के हिन्दी निम्न रूप हैं

(मैं)	जाऊँगा	(हम)	जाएँगे
(तू)	जाएगा	(तुम)	जाओगे
(वह)	जाएगा	(वह)	जाएँगे

हिन्दी में आज्ञार्थक का आदरसूचक रूप केवल मध्यपुरुष बहुवचन मे मिलता है। यथा चलिए, दीजिए आदि।

सयुक्त क्रिया

प्राचीन भाषाओ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि मे क्रियापदो मे उपसर्ग का प्रयोग कर नवीन भावो की अभिवृद्धि होती थी। हिन्दी मे क्रियापदो के साथ

संज्ञा या क्रियामूलक विशेषणों का प्रयोग कर विशेष प्रकार के भाव प्रकाशन की पद्धति अपनाई गई। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग प्राचीन काल से मानते हैं। कैलाग[1] के अनुसार निम्न संयुक्त क्रियाओं का हिन्दी में प्रयोग हुआ है।

१. पूर्वकालिक कृदन्त पदयुक्त क्रियाएँ मृ शार्थिक—फेंक देना, गिर पड़ना, गिरा देना, फाड़ डालना आदि। शक्यताबोधक जा सकना, देख सकना आदि पूर्वकालिक कृदन्त के साथ 'सकना' के योग से प्रयुक्त होती है। पूर्णताबोधक—खा चुकना, कर चुकना आदि 'चुकना' क्रिया संयुक्त होकर पूर्वकालिक कृदन्त के साथ है।

२. अकारान्त क्रियामूलक विशेष्य पदयुक्त पुन पुन्यार्थक जाया करता है, खेला करता है आदि कर (ना) धातु के योग से बनते हैं। इच्छार्थक वह बोला चाहता है, गाडी आया ही चाहती है, आदि मे चाह (ना) के प्रयोग से इस प्रकार के रूप बनते हैं।

३ असमापिका पदयुक्त क्रियाओं मे खाने लगना, जाने लगना आदि अनुमतिबोधक संयुक्त क्रियाए हैं जो देना क्रिया के योग से बनती हैं। पाना क्रिया के योग से जाने पाना, करने पाना आदि कामर्थ्य बोधक क्रियाएँ बनती हैं।

४. वर्तमान एवं भूतकालिक कृदन्त युक्त इस प्रकार की क्रियाओं मे निम्न रूप है रहना के योग से निर्मित- जाते रहना, खाते रहना आदि निरन्तरता बोधक क्रियाएँ। जाना के योग से निर्मित वह गाती जाती थी, रोती जाती थी आदि प्रगतिबोधक, इसी के अनुरूप गतिबोधक शब्दो का प्रयोग कर कहते, फिरना गाते चलना आदि गत्यर्थक क्रियाएँ बनती हैं।

५ विशेषण या विशेष्य पदयुक्त संयुक्त क्रिया में विशेषण या विशेष्य पद से सुखदेना, दुखदेना, आनन्द करना आदि संयुक्त क्रियाए बनती हैं। इनमे करना, होना, लेना, देना आदि क्रियारूप संयुक्त होते हैं।

हिन्दी तथा उसकी उपभाषाएँ

'हिन्दी' तथा पूर्ववर्ती 'हिन्दुई' अथवा 'हिन्दवी' शब्द निस्सदेह 'हिन्द' शब्द से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'हिन्दी' सम्पूर्ण देश की भाषाओं के लिए उपयुक्त संज्ञा कही जा सकती है। अर्वाचीन आर्य भाषाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी ज्ञात होता है कि जनसाधारण के बीच

१. कैलाग हिन्दी ग्रामर, पृष्ठ २५८।

अधिक व्यापक होने के कारण इसी भाषा का विशेष महत्व था और तभी उसे उक्त सज्ञा से सबोधित किया गया। परन्तु आज उसका अर्थ केवल उत्तर-प्रदेश तथा उसके आसपास के अन्य हिन्दी प्रदेशो की भाषाओ के लिए रूढि हो गया है। इस दृष्टि से कथित प्रदेशवासी निस्सदेह दूरदर्शी या सारग्राही कहे जा सकते है जिन्होने अपनी भाषाओ को सुरक्षित रखते हुए भी 'हिन्दी' को अपने देश की भाषा के रूप मे पहले से ही स्वीकार लिया है। पिछले दो-तीन दशको से अन्य प्रदेशीय जनता भी उसे इसके मूल अर्थ के निकट ही पहुँचा रही है। इसकी बढी हुई जन-शक्ति को ध्यान मे रखकर ही भारतीय सविधान निर्माताओ ने सन् १९४९ मे इसे राष्ट्र-भाषा के रूप मे स्वीकार किया है।

इस देश की भाषा का यह नाम क्यो पडा, इस पर भी विचार करना समीचीन होगा। 'हिन्द' या 'हिन्दू' शब्द फारस-देशीय भाषा-भाषियो की कृपा का फल है। भारत के पश्चिमी भू-भाग सिन्धु-प्रदेश से सबसे पहले उनका सम्पर्क होना स्वाभाविक था। फलत सिन्धु नदी तथा उसके प्रदेश को उन्होने अपनी बोल-चाल की भाषा मे अपनी उच्चारण-प्रवृत्ति के अनुसार 'हिन्दु' तथा 'हिन्द' शब्द के रूप मे व्यवहृत किया। यथा-सप्त-हप्त और सहस्र-हजार रूप मे शब्दो के उच्चारण उनके लिए सुलभ थे, यह अनुमान सहज ही मे लगाया जा सकता है। उनकी 'ह' ध्वनि का उच्चारण हिन्दी 'स' ध्वनि की भाँति सघर्षी व्यजन के रूप मे होता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे भारत के अन्य पूर्वस्थ प्रदेशो से उनका सम्पर्क बढता गया, वे इन प्रदेशो को स्वाभाविक रूप से 'हिन्दु-प्रदेश' कहते चले गए। जैसा मुनि कालकाचार्य से भी उन्होने एक बार कहा था कि हम 'हिन्दु' प्रदेश मे चलना चाहते हैं। इस प्रकार भारत 'हिन्द' देश, भारती 'हिन्दी' और भारतवासी 'हिन्दू' नाम से प्रसिद्ध हुए।

खडीबोली जिसका व्याकरणिक आधार लेकर आधुनिक साहित्यिक हिन्दी खडी हुई है, निस्सदेह देहली की भूमि की क्षेत्रीय बोली थी और उसका अभ्युदय भी अन्य आधुनिक आर्य भाषाओ के साथ-साथ १००० ई० के पूर्व हो चुका था। काव्य-परम्परागत पिंगल-भाषा तथा नाथ-सम्प्रदाय के कुछ गद्य-ग्रन्थो मे उसके व्याकरणिक रूपो के दर्शन किए जा सकते हैं। दो सौ वर्षो मे बोल-चाल के द्वारा उसने सम्यक् विकास कर लिया, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। फलत १३ वी शताब्दी के अन्त मे उसने साहित्यिक बाना भी धारण किया। उसके प्रारंभिक परन्तु पुष्ट साहित्यिक प्रयोग खुसरो की मुकरियो, पहेलियो मे देखे जा सकते हैं। मैथिली एव अवधी के विकास की भी लगभग यही दशा मिलती है। व्रजभाषा का उत्थान साहित्यिक रूप मे अवश्य देर से हुआ, क्योकि

काव्य-परम्परागत पिंगल भाषा जो कि शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ण उत्तराधिकारिणी थी, उसी ब्रज-प्रदेश (शूरसेन) से सम्बन्ध रखती थी। परन्तु यह दक्खिनी भाषा अधिक समय तक न चल सकी और १५ वीं शताब्दी तक ब्रजप्रदेशीय जन-बोली ने उसका स्थान सहज ही में ले लिया। अपनी इन्हीं स्थिति विशेष के कारण ब्रज-भाषा का साहित्य में सहज पदार्पण हो गया। वल्लभ-सम्प्रदायी सूर की सांगीतिकता तथा कृष्णभक्ति के प्रचार ने ब्रज-भाषा को अपूर्व सहयोग दिया। ब्रजभाषा को अपनाने में भक्तसमर्थकों का उद्देश्य नितान्त स्पष्ट था: -

सुरभाषा तें अधिक है ब्रजभाषा सों हेत

ब्रजभूषण जाको सदा, मुखभूषण कर लेत ॥

ब्रज-भाषा और कृष्ण के माधुर्य ने साहित्यिकों तथा रसिकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। नवोदित खड़ीबोली का स्वर मन्द पड़ गया। तुलसी का समर्थन पाकर भी अवधी पनप न सकी। मैथिली-क्षेत्र पर भी ब्रजभाषा ने अधिकार कर लिया। भक्ति-आन्दोलन ने ब्रजभाषा का बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब प्रदेशों में भी परिचय कराया। परन्तु उसका विकास एकांगी ही होता रहा। वह भक्तों एवं साहित्यिकों को ही कंठहार बनी रही, जनता का सहयोग उसे नहीं मिल सका। इसमें गद्य का अभाव रहा। फलतः भक्ति एवं विलासीयुग के साथ-साथ ब्रजभाषा का पतन अनिवार्य हो गया। दूसरी ओर खड़ीबोली जो जनता के बीच अपना स्थान बनाती जा रही थी, इस जन-युग में विजय प्राप्त कर सकी।

इस प्रकार १३वीं शताब्दी में अभ्युदित खड़ीबोली मुस्लिम सैनिकों द्वारा तथा साधु-सन्तों द्वारा भारत के दूरस्थ प्रदेशों तक ले जाई गई। दक्षिणी हैदराबाद में इसका नाम 'दक्खिनी' पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि इस बोली का रूप उत्तर भारत का था जो कि दक्षिण में पनप रहा था। इसमें आधुनिक पंजाबी, बाँगरू तथा खड़ीबोली के पूर्व-रूपों की खिचड़ी मिलती है। शब्दों का चयन भी व्यावहारिक है। संस्कृत, अरबी एवं फ़ारसी के शब्द सीमित हैं, प्रचलित शब्द ही अपनाए हुए जान पड़ते हैं। १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में मुस्लिम-आधिपत्य व्यापक एवं स्थायी हो गया। फारसी सरकारी भाषा बनाई गई थी। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें अरबी, फारसी शब्दों का प्राचुर्य हो। कबीर, सूर, तुलसी की भाषा में भी उक्त शब्दों का पर्याप्त संख्या में पाया जाना इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचायक है। दक्षिण में खड़ीबोली ने जो काव्य-रूप पाया था, उसका रूप उत्तर भारत में अब बदल चुका था। शब्दों के साथ-साथ इस बोली रूप में फारसी-छन्दों को भी अपनाया गया। संभवतः इसी कारण

इसका नाम 'रेख्ता', रेख्ती' भी पड गया। अपने इस मध्ययुग मे खडीबोली की सजीवता के दर्शन होते रहते थे। गग, रहीम, शीतल तथा कुछ भक्त कवयित्रियो के काव्य इसके उदाहरण हैं। पत्र-व्यवहार मे इसका प्रयोग वढ चुका था। १८ वीं शताब्दी तक प्रौढ गद्य-रचना के भी उदाहरण मिलते है। यत्र-तत्र फारसी शब्द-प्राचुर्य पाकर ही इशाअल्ला खां को इस बोली को एक दूसरा रूप देना पडा जो 'हिन्दुई', 'हिन्दवी' नाम से अभिहित हुआ और बाद मे 'हिन्दी' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार हिन्दी का यह आधुनिक काल १८५७ ई० के वाद से प्रारम्भ होता है। अग्रेजी साम्राज्य की व्यापकता ने इसे पूर्ण सहयोग दिया। ईसाई-धर्म प्रचारको को इसी व्यापक गद्य-भाषा को अपनाना पडा। अग्रेज राज-कर्मचारियो को भी जन-सम्पर्क वढाने के लिए इसी भाषा का आश्रय ग्रहण करना पडा, ज्ञान-विज्ञान की अन्यान्य धाराओ के पठन-पाठन की आवश्यकता गद्य-भाषा द्वारा ही पूर्ण की जा सकती थी। फलत ब्रज-भाषा की तुलना मे खडीबोली को गौरव मिलना स्वाभाविक था। छापेखाने की सुविधा ने गद्य के विकास मे योग दिया। परन्तु रेख्ता वाली प्रवृत्ति इतनी आगे वढ चुकी थी कि इस गद्य-भाषा के दो रूपो मे इतना वैभिन्य था कि अग्रेजो द्वारा हिन्दी हिन्दुओ की तथा उर्दू मुसलमानो की भाषा के रूप मे स्वीकृत हुई। इस अन्तर को महत्ता देना अग्रेजो की भेद की नीति का पुष्ट प्रमाण है।

अतएव आधुनिक युग मे खडीबोली (हिन्दी) को दुहरा सामना करना पडा। ब्रजभाषा की सहयोगी शक्तियो का ह्रास इस समय हो चुका था। फलत. खडीबोली की विजय सभव हुई, परन्तु अपनी प्रारभिक कर्ण-कटुता के कारण इसे 'खडी बोली' के नाम का गौरव-भार अवश्य सहना पड़ा, परन्तु वाद मे द्विवेदी-युग के आसपास जव इसमे आवश्यक मधुरता आ गई तव ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के पद से अलग होना पडा और खडीबोली (हिन्दी) गद्य एव पद्य मे पूर्ण विकास पाकर भारत की साहित्यिक भाषा बनी। बोलचाल की शक्ति पहले भी उसमे कम नही थी, धीरे-धीरे जन-शक्ति को वहन करती हुई वह अपनी पूर्व भाषाओं से थोडा वहुत आगे वढ सकी है। इस प्रकार खडीबोली के दोनो रूपो (हिन्दी, उर्दू) मे प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। परन्तु भारत की मौलिक एकता वनाए रखनेवाली जो सास्कृतिक पृष्ठभूमि हिन्दी को प्राप्त थी, वह उर्दू को नही थी, अत. वह शिक्षित मुसलमानो का ही पलडा पकडकर चलती रही। सामान्य मुस्लिम जनता ने भी दुख-सुख मे साथ देनेवाले अपने पडोसी भाइयो की बोली मे साथ दिया और इस प्रकार हिन्दी की व्यापकता वढती गई। उर्दू को पीछे

घसीटनेवाली उसकी अरबी-फारसी लिपि थी जो भारतीय भाषाओं के लिए पूर्ण अवैज्ञानिक थी। फलत खडीबोली हिन्दी-रूप के वहन करने में वह पूर्ण असमर्थ रही। यदि उर्दू ने देवनागरी लिपि का बाना पहना होता तो निस्संदेह राष्ट्रभाषा हिन्दी का जो रूप आज है, वह उससे कुछ भिन्न होता। इस प्रकार हिन्दी अपने मूल अर्थ के निकट तक पहुँचती गई और अंत में नियमित रूप से १९४९ ई० मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह गणतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गई।

इस प्रकार प्रान्त हिन्दी के तीन स्वरूपो का आभास हमे मिलता है, १. राष्ट्र-भाषा का रूप, जो अभी प्रदेशीय रूपो के पुट के कारण अव्यवस्थित है, परन्तु शीघ्र ही एक व्यवस्थित रूप खडा हो सकेगा, जो देश के उच्च शिक्षालयो, न्याया-लयो का माध्यम बनेगा तथा सरकारी कार्यों मे एकरूपता लाकर भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे सहयोग स्थापित करेगा।

२ हिन्दी का वह रूप, जो कि अमृतसर से लेकर भागलपुर तक तथा हिमालय से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ है। इस भू-भाग के मध्य हिन्दी प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम है, पत्र-पत्रिकाओ द्वारा साहित्यिको के बीच सम्बन्ध स्थापित किए हुए है। यह सरकारी कार्यो मे भी अग्रेजी के साथ वैकल्पिक रूप से अपनाई जा रही है।

३. एक रूप और, जो कि उसके वास्तविक क्षेत्रीय रूप के सन्निकट है, खडीबोली वाला। भाषा और बोली का मुख्य ध्येय पारस्परिक विचार-विनि-मय मात्र है। यदि दो भिन्न क्षेत्रीय व्यक्ति उक्त ध्येय के परिपालन मे असमर्थ हैं तो वे भिन्न भाषा-भाषी कहे जाएँगे और यदि समर्थ हैं तो एक ही भाषा के अन्तर्गत आनेवाले भिन्न बोली-रूपो को अपनाए जानेवाले कहे जाएँगे। इसमें कोई सन्देह नही कि व्यक्तियों की शिक्षा, ज्ञान, भ्रमण, एवं अनुभव का आपस मे बहुत अतर होता है. इसलिए विचार-विनिमय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को चुनना चाहिए जो कि आनुपातिक दृष्टि से तीनो बातो में साधारण ही हो और यदि इस प्रकार का मापदंड लेकर हम देहली से चलें तो निश्चय ही वह व्यक्ति बनारस, गोरखपुर, बलिया के व्यक्तियों से विचार-विनिमय कर सकता है। यदि यह विचार-विनिमय ७५ प्रतिशत भी हो जाता है, तो हमें उक्त बोली-रूपो को एक ही भाषा मे रखना चाहिए। यदि केन्द्र देहली से उठकर आगरा या कानपुर रख दें तो भी कोई विशेष अन्तर इस सीमा का न पडेगा। यदि लखनऊ रखें तो हो सकता है कि क्षेत्र पटना तक व्यापक हो सके, इसलिए हम किन्ही दो सिरों को लेकर विचार-विनिमय का ७५ प्रतिशत अनुपात समझकर उक्त बोली-रूपों, को किसी एक साहित्यिक प्रचलित भाषा के अन्तर्गत रख सकते हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि उत्तर में देहली से लेकर पूर्व मे वाराणसी, गोरखपुर तक के बोली-रूप हिन्दी के अन्तर्गत ही आते है। इस प्रकार हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ खडी बोली, बाँगरू, ब्रज, कनौजी, बुदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढी, पश्चिमी भोजपुरी हैं। दूसरे नबर मे गिनाए हुए भू-भाग के बोली-रूपो को हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से 'विभाषा' की सज्ञा दे सकते हैं, जिसके अन्तर्गत राजस्थानी, पजाबी, बिहारी भाषाएँ आ सकती हैं।

बिहारी-विभाषा के अन्तर्गत पाये जाने वाले बोली-रूप भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि को हम हिन्दी की बोलियो के अन्तर्गत गिनते चले आ रहे हैं। वस्तुत. यह दृष्टि साहित्यिक विशेष है, इसमे भाषाविज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उतनी नही है। परन्तु कुछ भाषाविज्ञानी मूल स्रोत को ही सब कुछ समझ कर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि को हिन्दी के अन्तर्गत ले आने मे झिझकते है, परन्तु व यदि विज्ञान की शुद्ध विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति रखे तो बिहारी बोलियो को सरलता से हिन्दी के अन्दर लाने के पक्षपाती हो सकेगे।

राजस्थानी पर भी हिन्दी का प्रभाव पडा है पर साहित्यिक दृष्टि से ही। मुसलमानो के प्रसार के कारण १७वी शताब्दी तक वहाँ खडी बोली के पैर नही जमे, जबकि पूर्व मे खडी बोली का फैलाव होता ही गया। इसलिए आज भी बिहारी बोलियो मे हिन्दी का प्रभाव बहुत अधिक है। फलत उत्पत्ति की दृष्टि से मागधी-प्रसूत होने पर भी बिहारी बोलियाँ सरलता से हिन्दी की जन-बोली के निकट आ जाती हैं। इतना ही नही, हिन्दी मे आत्मसात् करने की वही गौरवपूर्ण शक्ति है जो कि भारतीय सस्कृति मे मिलती है, फलस्वरूप हम अनुमान लगा सकते हैं कि आने वाले समय मे यह बिहार ही क्यो, बगाल के जनसमाज मे भी प्रवेश करेगी। सस्कृत भी जन-रूप मे जितनी व्यापक नही हुई थी, उससे कही अधिक हिन्दी होगी, इसमे रचमात्र भी सदेह नही है। साथ ही भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय प्राकृत, अपभ्रश भी जिस प्रकार साहित्य-रचना मे समर्थ हुई, उसी प्रकार बगला, गुजराती, मराठी आदि साहित्य सपन्न भाषाएँ हैं और उसके साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती ही जाएगी, यह आशा की जा सकती है।

हिन्दी शब्द-समूह

'शब्द' भाषा का एक महत्वपूर्ण अंग है। भाषा की आदिकालीन अवस्था मे भाषा का सुगठित अवयव 'वाक्य' भी सभवत शब्दात्मक रहा होगा, यह

पहले कहा जा चुका है। व्याकरणिक सम्पत्ति की खोज तथा शब्दों का ध्वनियों मे विच्छेदन वैयाकरणो की देन कही जा सकती है। 'शब्द' और 'अर्थ' मे ठीक उसी प्रकार का महत्वपूर्ण संबध है, जिस प्रकार शरीर और प्राण का है। शब्द और अर्थ-का सम्बन्ध नित्य है, इसका विस्तृत विवेचन अर्थ-विकास के प्रसग में किया जा चुका है। शब्द के उच्चरित होते ही उसको अर्थ-बोध करानेवाली पदार्थ विशेष अथवा सम्बन्ध विशेष की प्रतिमा मस्तिष्क मे झूलने लगती है। ठीक इसी प्रकार किसी नए समाज से सम्पर्क बढने पर, हमारा जो पदार्थ एव संबंध-ज्ञान बढ़ता है, उसके लिए नए शब्द या तो हम गढ लेते है, या फिर उस समाज मे प्रचलित शब्दो को ही अपना कर अपनी शब्द-समृद्धि करते हैं। शब्द-सम्पत्ति की समृद्धि के लिए दो ही प्रधान साधन हैं—

१ नये शब्दो का गढना।

२. जाति विशेष के शब्दो को अपनाना।

इन पर विशेष रूप से चर्चा करने के पूर्व हिन्दी की अपनी शब्द-सम्पत्ति पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है। यह भारत की राष्ट्र-भाषा है तथा उद्भव और विकास की दृष्टि से संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी है। प्राकृत वैयाकरणो ने अपनी भाषाओ के शब्द-समूह का अध्ययन करते हुए प्राकृत मे पाए जाने वाले शब्दों की तीन कोटियाँ निर्धारित की थी। हिन्दी के लिए भी हम उनको आधार बना सकते हैं। वे इस प्रकार है—

१. तत्सम, २. तद्भव, ३ देशज। इन पारिभाषिक शब्दो के मूल अर्थ के सम्बन्ध मे आधुनिक विद्वानो के बीच पर्याप्त मत-भेद रहा है, उसी की संक्षिप्त विवेचना यहाँ की जा रही है।

तत्सम्

इसका शाब्दिक अर्थ है 'उसी के समान'। संस्कृत अथवा वैदिक बोलियाँ प्राकृत भाषाओ की मूल प्रकृति रही हैं। अतएव प्राकृत भाषाओ को साहित्य और समाज मे पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर आवश्यकतानुसार जो संस्कृत-शब्दा-वली अपने विशुद्ध उच्चारण के साथ प्राकृत भाषाओं मे अपनाई गई, उसे प्राकृत वैयाकरणो ने 'तत्सम्' शब्दावली की संज्ञा दी है। ठीक यही अर्थ हम 'हिन्दी' के लिए भी अपना सकते हैं, और कह सकते हैं कि १००० ई० के पश्चात् जो संस्कृत-शब्द अपने विशुद्ध उच्चारण के साथ हिन्दी शब्द-समूह में सम्मिलित हुए और हो रहे हैं, वे तत्सम शब्द कहलाएँगे। इस प्रकार तत्सम् शब्दावली की दो विशेषताएँ स्पष्ट हुईं—

१ हिन्दी भाषा का पूर्ण प्रतिष्ठित होना।

२ संस्कृत के उच्चारण सहित शब्दों का प्रयोग

शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो संस्कृत की ही क्यों, हिन्दी के लिए पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की शब्दावली यदि विशुद्ध उच्चारण के साथ अपनाई जाती है, तो वह तत्सम् शब्दावली कहलाएगी। यथा-संस्कृत-तत्सम कर्म, कार्य, कुमार, प्राकृत तत्सम कम्म, कज्ज, कुँवर। इसी प्रकार अन्य भाषाओं को भी लिया जा सकता है, यद्यपि 'तत्सम्' का अर्थ संस्कृत-शब्दावली के लिए ही रूढ़ि हो गया है। यदि अंग्रेजी आदि भाषाओं के उच्चारण की विशुद्धता पर आक्षेप किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि उच्चारण यथासंभव अपनी अपनी भाषाओं के अनुसार हो जाया करता है। यथा 'डॉक्टर' को डाक्टर ही कहेंगे, 'ऑ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग हिन्दी की प्रवृत्ति है। संस्कृत राम को भी हम राम् ही कहते हैं और यदि 'राम' हिन्दी के लिए संस्कृत तत्सम् है तो 'डाक्टर' शब्द भी। सिद्धान्त-कथन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। हिन्दी में संस्कृत तत्सम् शब्दों का प्राचुर्य सूर, तुलसी के समय से हुआ। आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई है। इससे हिन्दी का लाभ ही हुआ है। हिन्दी-व्याकरण की सरलता तथा संस्कृत शब्दों की मधुरता एवं भाव-प्रकाशन-शक्ति का मणिकांचन-संयोग हिन्दी की व्यापकता के लिए अपूर्व उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

तद्भव

इसका शाब्दिक अर्थ है उससे उत्पन्न। 'तत्' यहाँ भी संस्कृत अथवा वैदिक बोलियों की ओर संकेत करता है। हिन्दी के लिए वे शब्द तद्भव हैं जो कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वजा भाषाओं से होते हुए हिन्दी भाषा में आए हैं। यदि शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो क्या दमड़ी और मिमई जैसे शब्द जो कि अपना मूल यूनानी भाषाओं में रखते हैं और संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं से परिवर्तित होते हुए आने के कारण हिन्दी के तदभव शब्दों में गिने जाने चाहिए अथवा अनार्य भारतीय भाषाओं के शब्द जो कि संस्कृत ने प्रचुरता से अपनाए थे, हिन्दी के लिए तद्भव हैं अथवा नहीं? और भी, अनार्य भाषाओं अथवा अरबी, फारसी के वे शब्द जो प्राकृत भाषाओं से होते हुए ही आए हैं, हिन्दी के लिए तद्भव हैं अथवा नहीं? आदि प्रश्न विचारणीय हैं। प्राकृत वैयाकरणों का मार्ग प्रशस्त था। पूर्वजाओं में केवल संस्कृत थी। यूनानी आदि शब्दों पर या तो विचार नहीं किया या फिर संस्कृत द्वारा अपनाए जाने के कारण 'तद्भव' कोटि में ही

रखा गया। अनार्य भाषाओं की शब्दावली अधिकाधिक स्वयं प्राकृत भाषाओं ने अपनाई थी, अतएव 'देशज' कहलाई। परन्तु स्वभावतः उस शब्दावली पर विचार नहीं हुआ जो कि संस्कृत द्वारा अपना ली गई थी, वह स्वभावतः 'तद्भव' ही कहलाई क्योंकि वह संस्कृत से सम्बन्धित थी। इसी प्रवृत्ति-विशेष को यदि हम आधार बनाएँ तो कह सकते हैं कि हिन्दी में पाए जानेवाले वे सभी शब्द तद्भव हैं जो १००० ई० के पूर्व किसी भी हिन्दी की पूर्वजा भाषा द्वारा गृहीत हो चुके थे। यह बात दूसरी है कि हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति पर गहन अध्ययन करते समय हम शब्दों के मूल स्रोतों का पता चलाएँ और भाषा के माध्यम से भारत के ऐतिहासिक सम्बन्धों को स्पष्ट करें। कोई भी भाषा शब्द-समूह की दृष्टि से विशुद्ध नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक न जाने कितनी जातियाँ भारत में आईं। अतः यह स्वाभाविक है कि उनकी कुछ न कुछ शब्दावली हमने ग्रहण की होगी। नस-नस में भिदा हुआ 'गंगा' शब्द भी चीनी भाषा से आया हुआ माना जाता है और उसका मूल चीनी-मंगोलियन शब्द ञांग, क्यांग शब्दों में खोजा जाता है। हिन्दी के कुछ 'तद्भव' शब्द इस प्रकार हैं—

हि० काम < प्राकृत-कम्म < सं० कर्म, दाम < प्रा० दम्म < सं० द्रम्य (ग्रीक द्रख्म), हि० बैंगन < सं० वातिंगन (आस्ट्रिक भाषाओं से लिया हुआ)।

अर्ध-तत्सम्

शब्द-समूह के अध्ययन के लिए यह एक नई कोटि है। प्राकृत वैयाकरणों ने इसकी चर्चा नहीं की है। 'तत्सम' को ऊपर कही हुई दो विशेषताओं में एक इस कोटि द्वारा भी गृहीत है। प्रायः १००० ई० के पश्चात् ही जो शब्द हिन्दी द्वारा गृहीत होंगे, वही अर्ध-तत्सम् कहलाएँगे। साथ ही जो हिन्दी के अपने उच्चारण के अनुकूल परिवर्तित करके अपनाए गए हैं और इस प्रवृत्ति के अनुसार 'तत्सम्' से कुछ भिन्नता भी रखते हैं। यथा सं० कर्म > हिन्दी करम (अर्ध-तत्सम्) सं० कार्य > हि० कारज (अर्ध-तत्सम्), सं० ऋषि > हि० रिसि (अर्ध-तत्सम्)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन शब्दों के विकास में संयुक्त ध्वनियों की विभक्तता ही प्रधान है जो कि हिन्दी की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रकार संस्कृत के वे शब्द ही अर्ध-तत्सम् कहे जाते हैं, जो संयुक्त ध्वनियों के संयोग के कारण हिन्दी के लिए क्लिष्ट थे और हिन्दी में 'स्वर-भक्ति' की प्रवृत्ति से उनका उच्चारण सुलभ बना लिया गया है। यदि शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली तथा अधिकांश अरबी, फारसी शब्दावली हिन्दी की

'अर्धतत्सम्' कोटि मे ही आएगी, क्योकि विशुद्ध उच्चारण उतना सुलभ नही। यथा—

अं० लार्ड 7 लाट, हॉस्पिटल 7 अस्पताल, तुर्को कुली 7 कुली, फा० ज्यादह 7 ज्यादा, अं० लौंगक्लोथ 7 लकलाट, काइनहाउस 7 काँजीहौज।

'तत्सम्' और 'अर्ध-तत्सम' के अध्ययन के लिए सुविधा एव स्पष्टता इसी बात मे है कि हम इन पारिभाषिक शब्दो के रूढिगत अर्थ को ही अपनाएँ और सस्कृत-शब्दावली का ही विभाजन इन कोटियो मे करे और विदेशी शब्दावली को अपनाने वाली विभिन्न प्रवृत्तियो के लिए दूसरी पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करे।

देशज

इसका शाब्दिक अर्थ है—'देश की भाषाओ मे उत्पन्न शब्दावली'। प्राकृत वैयाकरणो के इस पारिभाषिक शब्द ने शब्द-समूह के वर्गीकरण मे एक अव्यवस्था ला दी है। आचार्य हेमचन्द्र की 'देशी' शब्द की व्याख्या से भी प्रश्न नही सुलझता। वे 'देशी' के अन्तर्गत केवल उन शब्दो को लेते है, जो सस्कृत से सम्बन्धित एव सदर्भित नही किए जा सकते। यह सकेत निस्सदेह द्राविड, मुडा आदि आर्येतर भाषाओ की शब्दावली की ओर है, परन्तु 'देशीनाममाला' मे दी हुई सूची से ज्ञात हो जाता है कि आर्येतर शब्द-समूह भी जो सस्कृत ने ग्रहण कर लिया था, 'देशज' नही कहलाया। यदि प्राकृत वैयाकरणो की इस प्रवृत्ति को हिन्दी शब्दसमूह पर भी लागू किया जाय, तो हम कह सकते है कि आर्येतर शब्दावली जो हिन्दी की पूर्वजा भाषाओ सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश ने ग्रहण कर ली थी, वह हिन्दी के लिए 'देशज' नही कहला सकती। इन भाषाओ की अधिकाश शब्दावली प्राकृत भाषाओ ने ही पचाई थी, इसलिए यदि शाब्दिक अर्थ पर जोर दिया जाय तो हिन्दी के लिए यह शब्दावली 'तद्भव' होगी, अन्यथा हम इसे भाषाओ की कोटि मे रखेंगे और विशेष अध्ययन के लिए द्राविड, आस्ट्रिक, चीनी, तिब्बती या तेलगू, तामिल, मुडा आदि भेद-उपभेद कर सकते है।

देशज का यदि राष्ट्रपरक अर्थ लेते हैं तो दूसरा अर्थ भाषापरक हो सकता है और इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषी आवश्यकतानुसार जो शब्दावली गढते रहते है, वह 'देशज' के अन्तर्गत आनी चाहिए। 'देशीनाममाला' मे इस प्रकार के अधिकाधिक शब्द है, जो अनार्य भाषाओ से भी सम्बन्धित और सदर्भित नही किए जा सकते। फलत देशज का उक्त अर्थ तर्कसगत है। जैसे मोटर के 'हार्न' की ध्वनि कोई भो-भो सुनता है, कोई पो-पो, सभवत इसलिए 'हार्न' के लिए

"भोंपू" शब्द हिन्दी मे चल निकला। इस प्रकार हिन्दी क्या, प्रत्येक भाषा अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल शब्द गढती रहती है। गढे हुए शब्दो में अधिकाशत ध्वन्यात्मक शब्द आते हैं, जो कि पदार्थ विशेष अथवा बाह्यप्रकृति की ध्वनियों का अनुकरण करके उक्त पदार्थ के लिए अथवा प्रकृति तत्क्रिया विशेष के लिए प्रयोग मे आने लगते हैं और भाषा की ध्वनि-परिवर्तनशीलता के साथ साथ अपनी आकृति भी बदलते जाते है। स्वाभाविकता लाने के लिए इन शब्दो का प्रयोग साहित्य मे भी यत्र-तत्र पाया जाता है। राष्ट्रकवि गुप्तजी मे इस प्रकार के बहुत से शब्द मिल जाएगे। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

छप-छप पानी मे हाथ द्वारा किए गए आघात की ध्वनि, कल-कल पत्थरो से टकराती हुई ध्वनि, चल-चल प्रभूत पानी का आपस मे टकराना, झल-मल पानी या तरल पदार्थ पर पडनेवाली रोशनी, जग-मग ठोस पदार्थ पर पडनेवाली रोशनी, छपाछप, तड़ातड़ आदि निरन्तरता एव गुरुता का ज्ञान करानेवाली ध्वनि-सयोजना।

इस प्रकार की शब्दावली किसी भाषा मे कम नही है, इससे भाषा की अर्थ-वृद्धि होती है, साथ ही भाषा मे प्रवाह आता है और साहित्य मे उनके प्रयोग से स्वाभाविकता की रक्षा होती है। रोटी-ओटी, अडोस-पडोस आदि द्वन्द्वात्मक शब्दो की भी कमी नही है, इनका एक शब्द निस्सदेह आधुनिक रूप मे ही गढा गया है, परन्तु यह सादृश्य की प्रवृत्ति है, जिसके कारण हम उन शब्दों को सस्कृत से सदर्भित कर सकते हैं और इस प्रकार की शब्द-योजना को 'तद्भव' के अन्तर्गत ले जा सकते हैं।

अनार्य भाषाओ के शब्द

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह शब्दावली उपभेदो के रूप मे रखी जा सकती है, क्योकि इस प्रकार का वर्गीकरण हमारे विशेष अध्ययन मे सहायक सिद्ध होता है। वैसे इन भाषाओ की अधिकाश शब्दावली हिन्दी मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओ से होती हुई ही आई है। १००० ई० के पश्चात जो ली गई, वह अत्यल्प है।

विदेशी

भारत भिन्न-भिन्न सस्कृतियो का सन्धि-स्थल रहा है, प्रागैतिहासिक काल से लेकर अद्यावधि भारत मे दूर देशस्थ जातियाँ आती रही हैं, अत. यह स्वाभाविक है कि उक्त देशीय नवीन शब्दावली भारत की राष्ट्र-भाषा द्वारा अपनाई

जाए। आधुनिक युग में आनेवाली ऐसी अधिकांश शब्दावली हिन्दी मे अंग्रेजी के माध्यम से आई हुई जान पडती है। जैसे १ 'हिटलरपन' नही चलेगा। (जर्मन)। २ उन सब चीजों का 'बायकाट' कर दो (आयरी)।

१००० ई० के पश्चात् आनेवाली शब्दावली हिन्दी मे विशेष स्थान रखती है। अरबी, फारसी से मुस्लिम आधिपत्य के युग मे इतने शब्द हिन्दी में भर गए कि खडी बोली का आकार-प्रकार ही बदल गया और हिन्दी के साथ साथ कुछ लोगो को दूसरे प्रकार के लिए 'उर्दू' नाम भी देना पडा। मुसलमान यहाँ आकर बस गए। फलस्वरूप शासकीय शब्दावली के साथ सास्कृतिक शब्दावली भी आई। बहुत से शब्द तो हिन्दी के रग-रग मे इस प्रकार मे बस गए है कि जिन्होने हिन्दी के अपने शब्दो का नितान्त बहिष्कार कर दिया है। उदाहरणस्वरूप-खरीदना (क्रिया), पायजेब, बाजूबन्द, हजार आदि।

इस प्रकार की सास्कृतिक शब्दावली हजारो की सख्या मे हिंदी मे भरी पडी है। साहित्यिकता के आडम्बर मे चाहे हम सतर्क रहकर उनका प्रयोग न करे, परन्तु बोल-चाल की भाषा मे ९० प्रतिशत व्यक्ति पर्याप्त सख्या मे इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं। स्वस्थ दृष्टिकोण भी यही है कि हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति उन शब्दो को पचाने की ही ओर हो, आडम्बर की ओर झुकाव नहीं होना चाहिए।

अंग्रेजी शब्दावली का भी प्रयोग १९वी शताब्दी से बराबर होता रहा है। परन्तु यह या तो शासकीय है या वैज्ञानिक विषयो से सम्बन्धित। यूरोपीय वेश-भूषा, खान-पान का अनुकरण भी शिक्षित भारतीय समाज ने किया है, फलत. तत्सम्बन्धी शब्दावली भी आवश्यकतानुसार हिन्दी-भाषा मे प्रवेश कर गई है। विचार-विनिमय एव यातायात की जो सुविधाएँ आज के विश्व-समाज को प्राप्त हैं, उससे यह निश्चय है कि भाषा के शब्दसमूह मे इस प्रकार का लेन-देन बढेगा ही।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी

पहले उर्दू और हिन्दी भाषाओ की प्रतिद्वद्विता का उल्लेख किया जा चुका है। भारतीय स्वतत्रता के बाद जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन की गई है, उसकी समस्याओ का समाधान करने मे सरकारी तथा गैर-सरकारी सस्थाएँ प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रभाषा सम्बन्धी समस्याएँ प्राय. तीन प्रकार की हैं—एक शब्द-भडार सम्बन्धी, दूसरी व्याकरण सम्बन्धी, तीसरी लिपि सम्बन्धी। राष्ट्र-

भाषा हिन्दी के साथ देवनागरी लिपि राजकीय लिपि घोषित की गई है जिसका विस्तृत विवरण आगे लिपि के अध्याय मे दिया गया है। यहाँ पर हिन्दी-भाषा के भावी रूप पर विचार करना ही समीचीन होगा।

जन-शक्ति को वहन करने वाली राष्ट्रभाषा का शब्द-भडार किस प्रकार का हो, इस सम्बन्ध मे राजनीतिज्ञो तथा भाषाविदो के विभिन्न मतो को हम इस प्रकार सगृहीत कर सकते है:

१——सस्कृत-प्रधान शब्दावली ही बगाल, असाम, उडीसा, महाराष्ट्र तथा भारत के विभिन्न प्रदेशो को एक सूत्र मे बाँध सकती है, क्योकि सस्कृत भारतीय भाषाओ के लिए उस कामधेनु के समान है जिससे जब चाहा शब्द-दोहन कर लिया। आर्य भाषाएँ ही नही वरन द्राविड परिवार की समृद्धशाली भाषाएँ-तामिल, तेलगु आदि भी अपने परपरागत साहित्यिक रूपो मे सस्कृत की शब्दावली ग्रहण करती रही हैं। सस्कृत ही भारतीय सस्कृति को वहन करनेवाली और भारत की मौलिक एकता बनाए रखने मे समर्थ रही है। इसलिए अपनी सास्कृतिक तथा राजनीतिक एकता को ध्येय मे रखते हुए हमे सस्कृत-शब्दावली को अधिकाधिक अपनाना चाहिए। बगला, मराठी, गुजराती आदि जितनी भी साहित्यसमृद्ध भाषाएँ हैं, वे हिन्दी की भाँति लगभग ७५ प्रतिशत शब्द सस्कृत से उधार लिये हुए हैं।

२ हिन्दी का सरल रूप जिसमे फारसी, अरबी, अग्रेजी आदि शब्दो का यथेष्ट व्यवहार होता है, वह जनसाधारण के लिए अधिक सहज और सुगम है। हिन्दी का यह चलताऊ रूप ही सर्वग्राह्य है। फ़ारसी, अरबी, अग्रेजी शब्द भारत की प्राचीन राजकीय सत्ता के फलस्वरूप हिन्दी तथा भारतीय भाषाओ मे आये हैं और वे इतने अधिक व्यावहारिक हो चुके है कि उनका बहिष्कार किसी भी दशा मे वाछनीय नही है। उक्त विदेशी भाषाओ से नये-नये शब्द भी लिये जा सकते हैं, क्योकि उस ढग के शब्द पहले से ही भारतीय तथा हिन्दी भाषाओ मे वर्तमान हैं।

उपरोक्त दोनो प्रकार के मतो का अपना-अपना आधार तो है ही। किन्तु सस्कृत शब्दावली पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, नैपाल, बगाल, असाम, उडीसा, आन्ध्र, तामिलनद, कर्नाटक, केरल, बबई, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशो की भाषाओ मे बहुतायत से प्रयुक्त हुई है, यह एक सत्य है और सस्कृत-शब्दबहुला हिन्दी ही इन प्रदेशो मे लोकप्रिय हो सकती है। यह अवश्य है कि हिन्दी मे विदेशी भाषाओ मे जो शब्द प्रचलित हो गये हैं और घुलमिल गये है, उनका प्रयोग वाछनीय है जिनसे कोई नई वस्तु, नये विचार, नये सबध का बोध होता हो और वे पहले से

अपनी भारतीय भाषाओं में न पाये जाते हों। राष्ट्रभाषा के शब्द-भंडार को परिपूर्ण बनाने के लिये प्रादेशिक भाषाओं तथा हिन्दी की उपभाषाओं से भी शब्द लिये जा सकते हैं। जहाँ हम संस्कृत की ओर उन्मुख हों, वहाँ हिन्दी की सजातीय भाषाओं की ओर से मुखापेक्षी भी न रहें। हाँ, यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में किसी नये भाव, नई वस्तु आदि के लिये शब्द न मिलें तो फिर संस्कृत-शब्द अपनाना ही समीचीन होगा।

राष्ट्रभाषा के माध्यम से वैज्ञानिक, टेक्निकल तथा अन्य विशिष्ट विषयों का अध्ययन और अध्यापन हो, इसके लिये इन विषयों से संबंधित पारिभाषिक शब्दावली की नितांत आवश्यकता है। किन्तु इसके अपनाये जाने के सम्बन्ध में कोई एक मत नहीं पाया जाता।

१ कुछ इस मत के हैं कि चिकित्सा-शास्त्र, विविध वैज्ञानिक विषय—रसायन-शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि, कानून, वाणिज्य-शास्त्र आदि विशिष्ट विषयों के पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी के ही रहें, क्योंकि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुदृढ़ रखने में सरलता होगी। नये-नये विदेशी अनुसंधान संबंधी विषयों के पारिभाषिक शब्द भी विदेशी ही रहें तो क्या हानि है? इससे राष्ट्रभाषा की सुसंपन्नता में कोई कमी नहीं आती।

२ दूसरा मत इसके विपरीत है। संस्कृत धातुप्रधान भाषा है। इसमें नये-नये शब्दों के निर्माण करने की शक्ति है। अतएव पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत के साँचे में ढाल लेना चाहिए। संस्कृत में बने नये पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी आदि की अपेक्षा अधिक सुलभ और जनग्राह्य होंगे। यूरोपीय देशों में आधुनिक इटैली, फ्रेंच, स्पेनी, पुर्तगाली, रोमानी, अंग्रेजी आदि भाषाएँ लेटिन और ग्रीक भाषाओं से ही अपनी आवश्यकतानुसार शब्दों को उधार लेती रही हैं तथा नये-नये शब्दों का निर्माण भी वे इन प्राचीन भाषाओं के आधार से करती आई हैं। अतएव भारतीय भाषाएँ भी संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा के आधार से शब्द निर्माण करने में स्वतंत्र हैं।

प्रायः यह ठीक ही है कि कोई भी नई राष्ट्रभाषा अपने विकासकाल में प्राचीन भाषा से या तो विशिष्ट शब्दों को उधारस्वरूप लेती है या उसके आधार से नये-नये शब्दों का निर्माण करती है। भारत की भाषा संस्कृत प्राचीन काल से ही हमारी संस्कृति की एक गण्यमान भाषा रही है, यह पहले कहा जा चुका है। अतः नई पारिभाषिक शब्दावली के लिये उसकी ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही है। इस दिशा का सर्वप्रथम प्रयास डा० रघुवीर का पारिभाषिक शब्दकोष है। इस पर काफी टीका-टिप्पणी हुई, किन्तु उनका यह प्रयास इस दृष्टि से

स्तुत्य है कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि संस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दों का नव-निर्माण समर्थ है। हमें पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में उदार दृष्टि से काम लेना चाहिए। बहुत से ऐसे विशिष्ट शब्द हैं, जो विदेशी होते हुए भी काफी व्यवहृत होते हैं और उनके लिए कोई नयी शब्दावली बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उन्हें हम अपनी हिन्दी-ध्वनियों का आवरण दे कर अपना लें तो कोई असंगत बात नहीं होगी। उत्तरप्रदेशीय तथा कुछ अन्य प्रादेशिक सरकारों ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किया है। केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण हेतु एक समिति की आयोजना की है जिसकी देखरेख में विशेषज्ञों के द्वारा हजारों पारिभाषिक शब्दों का गठन हो चुका है। इन विशिष्ट शब्दों के निर्माण का आधार प्रायः संस्कृत-भाषा ही है, किन्तु यह संतोष की बात है कि केन्द्रीय सरकार की उक्त समिति ने ऐसे विदेशी शब्दों को भी स्वीकार किया है जो जनप्रचलित हो चुके है। नव पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का प्रयत्न सराहनीय अवश्य है, किन्तु यह खेद की बात है कि उसकी गति तीव्र होने की अपेक्षा मन्द अधिक है।

यह निश्चित है कि विशिष्ट विषयों से संवर्धित पारिभाषिक शब्द प्रारंभ में कुछ विलक्षण अवश्य लगेंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों उनका व्यवहार बढ़ता जाएगा, उनकी विलक्षणता भी कम होती जाएगी और वे भाषा के स्वाभाविक शब्द बन जाएँगे। राष्ट्रभाषा की इस नविकालीन स्थिति में भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के पारिभाषिक शब्द एक साथ प्रयुक्त किए जा सकते हैं। जब राष्ट्रभाषा का शब्द प्रचलित हो जाएँ तो विदेशी शब्द को त्यागा जा सकता है।

२ राष्ट्रभाषा को व्यापक बनाने के लिए हिन्दी भाषा के व्याकरण संबंधी रूपों में कुछ परिवर्तन किया जाय, यह कुछ विद्वानों की आकांक्षा है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने हिन्दी की संज्ञा, सर्वनाम आदि के विकारी एकवचन और बहुवचन रूपों के सम्बन्ध-चिह्नों, लिंग-भेद के अनुसार शब्दों के परिवर्तन, क्रिया में पुरुष तथा वचन के अनुसार काल-भेद, सकर्मक क्रिया का भूतकाल में कर्म-वाच्य के प्रयोग आदि बातों के निराकरण का प्रस्ताव किया है। उनके मतानुसार हिन्दी-व्याकरण की ये जटिलताएँ हैं जिनके कारण वह अहिन्दी प्रदेशों-बंगाल, असाम, उड़ीसा तथा द्राविड भाषाओं के क्षेत्रों में पूर्ण रूप से व्यापक नहीं हो सकती। इनमें लिंगभेद और कर्मवाच्य के प्रयोग सबसे अधिक क्लिष्ट हैं। अहिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए इनमें कुछ सरलता अवश्य की जानी चाहिए। न केवल अहिन्दी प्रदेशों में, वरन् हिन्दी के पूर्वी क्षेत्रों में भी लिंग-भेद और कर्मवाच्य के प्रयोग में कठिनाई का अनुभव किया

जाता है, क्योकि इन भाषाओ मे ऐसा कोई भेद नही पाया जाता। यथा—हम पुस्तक से पढा, हम हाथी को देखा, उसका पुस्तक लो, उसका हाथ से लो, हम लोग जाता है, तुम लोग खाता था आदि प्रयोग अहिन्दी भाषा-भाषियो के मुख से अधिक और हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र मे कुछ कम सुने जाते हैं।

इस सम्बन्ध मे केवल इतना कहना युक्तिसगत जान पडता है कि साधारण बोलचाल मे लिंग-भेद अथवा कर्मवाच्य के प्रयोग मे कुछ शिथिलता भले ही कर दी जाय, किन्तु यदि ये रूप हिन्दी-भाषा के अग बनकर साहित्यिक ग्रथों तथा लिखित रूपो मे भी व्यवहृत होने लगेंगे तो हिन्दी भाषा सुगठित नही रह जाएगी। साथ ही भाषा मे व्याकरणिक रूपो का विकास परपरागत होता है, और उसे अस्वाभाविक ढग से हटा देना वाछनीय नही है।

यदि हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि लिखित और बोलचाल की हिन्दी मे भी अन्तर पाया जाता है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को अधिक व्यापक बनाने के लिये इनका निराकरण आवश्यक है। दोनो मे अन्तर का स्वरूप कुछ इस प्रकार है :

१ लिखित हिन्दी अपेक्षाकृत सस्कृत शब्दावली से युक्त है, जबकि बोलचाल की भाषा मे हम विदेशी सस्कृति के द्योतक अरबी, फारसी, अग्रेजी आदि भाषाओ के प्रचलित शब्दो का भी व्यवहार करते हैं। प्रादेशिक विभाषाओं एव बोलियो का भी यत्र-तत्र प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। जैसे हि० करा < किया।

२. हिन्दी ह्रस्व 'अ' ध्वनि का उच्चारण शब्दो के मध्य एव अन्त भाग मे कही-कही नही होता है, पर देवनागरी मे उसके लिखने की परम्परा का निर्वाह पूर्णरूप से होता है। यथा चल्ता < चलता, राम् < राम।

३. ह्रस्व 'अ' ध्वनि से सयुक्त होकर यदि 'ह' ध्वनि किसी शब्द मे आती है, तो उच्चारण 'ऐ' रूप मे होता है, परन्तु लिखने मे वह रूप ही सुरक्षित है। यथा—शहर7 शैहर, कहना7 कैहना, पहले 7 पैहले।

४. 'ऋ' वर्ण भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है परन्तु उच्चारण हिन्दी की उत्पत्ति-समय के पूर्व ही समाप्त हो चुका था, इस ध्वनि का उच्चारण हम 'रि' रूप मे करते हैं। यथा रिसि < ऋषि, रिण < ऋण।

५. ऐ और औ सयुक्त स्वरो का प्रयोग कतिपय स्थानो पर उच्चारण से भिन्नता रखता है। यथा—कउवा < कौवा, गइया < गैया।

६ अनुस्वार (ं) एव अर्ध-अनुस्वार (ँ) दोनो वर्णों की पृथक सत्ता लिपि मे स्वीकृत है, फिर भी उच्चारण मे अधिकाश स्थानो मे जहाँ अर्ध-अनुस्वार का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ पूर्ण अनुस्वार का प्रयोग चल रहा है, जो हिन्दी की व्यापकता मे भ्रमपूर्ण होने के कारण बाधक है।

अनुस्वार अर्ध-पचम वर्ण के स्थान पर ही स्वीकृत किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से होना तो यह भी नही चाहिए, क्योंकि एक ध्वनि के लिये एक लिपि-चिह्न का सिद्धान्त ही पूर्ण वैज्ञानिक है, फिर भी यदि वैकल्पिक प्रयोग चलता रहे तो फिर अनुसार को अर्ध-अनुस्वार (शुद्ध अनुस्वार जो कि अनुनासिकता सहित स्वर की निरन्तरता का बोधक है) का स्थान नही लेना चाहिए, परन्तु अ, आ, इ, उ, ऊ के साथ तो अर्ध-अनुस्वार का प्रयोग ठीक चलता है, परन्तु शेष स्वरो के साथ ई, ए, ऐ, ओ, औ मे पूर्ण अनुस्वार का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं ईधन ईंधन, हैं हैं इत्यादि ।

७ शब्दान्त मे 'य' एव 'व' अक्षर लिखने की प्रथा है, परन्तु इनका शुद्ध उच्चारण नहीं होता । यथा. माधौ < माधव, जै < जय ।

८ 'ञ्' ध्वनि का उच्चारण भी 'न्' हो गया है, फिर भी 'ञ' लिखा जाता है । यथा पन्जा-पञ्जा, कन्चन-कञ्चन ।

९ 'ष' का लिपि मे प्रयोग परम्परागत है, यद्यपि बोलचाल मे दन्त्य 'स' अथवा तालव्य 'श' का उच्चारण ही प्राप्त होता है ।

१० क्ष, त्र, ज्ञ क्रम से क्छ, त्र्, ग्यँ रूप मे उच्चरित होते हैं। यथा—
पक्छ < पक्ष, सेत्र < सत्र, प्रग्याँ < प्रज्ञा ।

११. अर्ध रकार लिखने की प्रथा भी कुछ भ्रमपूर्ण है, यथा—
आदर्श उच्चरित आर्दश ।

१२. कुछ सयुक्त ध्वनिया भी हैं, जिनमे इस प्रकार का वैभिन्न मिलता है, यथा . साहित्तिक < साहित्यिक ।

हिन्दी का स्वरूप

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी का जो रूप राष्ट्रभाषा के लिए गृहीत हुआ है, वही रूप उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे नर्मदा की तलहटी तक और पूर्व मे भागलपुर से लेकर पश्चिम मे अमृतसर तक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओ, प्रारम्भिक एव माध्यमिक शिक्षाओ तथा अग्रेजी के साथ-साथ सरकारी कार्य-व्यवहारो का माध्यम बना हुआ है। इस विस्तृत भू-भाग को भी कुछ विद्वानो ने निम्नाकित चार उपभाषा-खण्डो मे विभाजित किया है—(१) पजाबी उपभाषा खण्ड, (२) राजस्थानी उपभाषा खण्ड, (३) हिन्दी उपभाषा खण्ड, (४) बिहारी उपभाषा खण्ड ।

ऐतिहासिक परम्परा को ध्यान मे रखते हुए अधिकाश विद्वानो ने हिन्दी-क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त किया है (१) पश्चिमी हिन्दी (२) पूर्वी हिंदी ।

राजस्थानी एव पजावी उपभाषाओ का वर्ग भाषा-गठन की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी के अत्यधिक निकट है, जब कि बिहारी उपभाषाओ को पूर्वी हिन्दी का नैकट्य प्राप्त है। यह विभाजन-रेखा उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से कुछ पश्चिम हटकर उत्तर-दक्षिण खीची जा सकती है। पश्चिमी हिन्दी का विकास शौरसेनी तथा पूर्वी हिन्दी का सबध मागधी (अर्ध-मागधी) प्राकृत से जोडा गया है। प्रथम के अन्तर्गत खडी बोली, बॉगरू (हरियानी या जाटू), ब्रजभाषा, बुन्देली और कन्नोजी प्रधान बोलियाँ हैं और द्वितीय मे मुख्य रूप से अवधी, बघेली, छत्तीसगढी बोलियो की गणना की जाती है।

साहित्यिक परम्परा का जो गौरव पश्चिमी हिन्दी के बोली-रूपो को मिला है, वह उसकी पैतृक सम्पत्ति है, उसकी चर्चा यहाँ न करके हम हिन्दी के दोनो रूपो पूर्वी एव पश्चिमी की ध्वनि, पद एव वाक्य-रचना सम्बन्धी कतिपय विशेषताओ को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते है—

१ पश्चिमी हिन्दी की ह्रस्व 'अ' ध्वनि विवृत मध्य स्वर के रूप मे है। परन्तु इसकी बोली बागरू पर पजाबी-प्रभाव पूर्ण रूप से स्पष्ट है और कहा जा सकता है कि पश्चिमी प्रदेश की ह्रस्व 'अ' ध्वनि अर्ध-विवृतपन लिए हुए अग्रस्वर है, जब कि पूर्व हिन्दी के पूर्वी भाग मे बोली जाने वाली उक्त ध्वनि पश्च स्वर के रूप मे है। यही ध्वनि बिहार प्रदेश के पूर्वी भाग मे अर्धविवृत हो जाती है और पश्च स्वर के रूप मे सुनाई पडती है।

२ भिन्न स्वरो की विशेषकर अ+इ, अ+उ की समीपस्थ स्थिति पूर्वी-हिन्दी की बोलियो तथा बिहारी बोलियो मे पूर्णतः सम्भव है, परन्तु पश्चिमी हिन्दी की प्रवृत्ति सस्कृत की भाँति इन स्वरो मे सन्धि की ओर विशेषोन्मुख है। यथा-पूर्वी हिन्दी करइ, भएउ, रहेउ आदि। पश्चिमी हिन्दी-करे या करै, भयो, रह्यो आदि।

३ पश्चिमी हिन्दी की उच्चारण-प्रवृत्ति 'य' अपश्रुति को अपनाने की ओर है, जबकि पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ 'व' के उच्चारण मे अधिक सुविधा का अनुभव करती हैं। इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण भूतकालिक क्रिया-रूपों के प्रयोग मे मिलते हैं। यथा—

अवधी-गवा, भवा, खडीबोली-गया, हुआ, ब्रजभाषा-गयो, भयो।

४ सज्ञा तथा विशेषण प्रतिपादित शब्दो के प्रयोग मे पूर्वी हिन्दी का झुकाव-ह्रस्व (short) रूपो की ओर है, जबकि पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ दीर्घ शब्द (long) अपना रही है। पूर्वी हिन्दी तथा बिहारी बोलियाँ एक अन्य दीर्घ रूप अपनाती हैं जिन्हे हम पश्चिमी हिन्दी की तुलना मे 'अति-दीर्घ'

रूप कह सकते हैं। संज्ञा शब्दों में इस रूप की रचना के लिए-वा अथवा-या ध्वनि-समूह जुड़ता है, और विशेषण रूपों के लिए-क अथवा-का का योग होता है। यथा—

पश्चिमी हिन्दी घोड़ा, नारी, बड़ा, मोटा।

पूर्वी हिन्दी (क्रम से) घोड़, नारि, बड़, मोट (स्वांट)।

अथवा घोड़वा, नरिया, बड़का, मोटका।

विशेषण रूपों में कछुक, थोरक, बहुतक में 'क' का योग निरर्थक (pleonastic) कहा जायगा। फलत इसे हम दीर्घ-रूप ही कहेंगे।

५अ परसर्गों के प्रयोग में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर कर्ता-कारक में-ने के प्रयोग का है। पूर्वी हिन्दी तथा बिहारी बोलियों में इसका सर्वथा अभाव है, जबकि पश्चिमी बोलियाँ अनिवार्य रूप से इसका प्रयोग यथास्थान करती हैं। यथा—-पश्चिमी हिन्दी हमने खाया था, पूर्वी-हिन्दी हम खायेउ रहेउ।

ब पूर्वी हिन्दी में परसर्ग-रूपों पर सम्भवत बलाघात नहीं पड़ता है, अतएव यत्र-तत्र निकटस्थ पूर्व-भाग में स्थित संज्ञा अथवा सर्वनाम रूपों के साथ वे जुड़ते जा रहे हैं। योग की इस प्रकार की प्रवृत्ति को भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषा की 'संयोगात्मक स्थिति' कहा गया है। अतएव पश्चिमी हिन्दी की प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत वियोगात्मकता की ओर कही जायगी। यथा—

१ हस्तिक मारक गदहा लेई ? (पूर्वी हिन्दी)

हाथी का मार क्या गदहा लेगा ? (पश्चिमी हिन्दी)

२ अकम गहेउँ (पूर्वी हिन्दी)

अंक (गोद) में ग्रहण करूँ (पश्चिमी हिन्दी)

३ अवधी के जेहिक, तेहिक, ओहिक आदि प्रयोग ऐसे ही हैं। खड़ी बोली हिन्दी जिसका, उनका आदि (खड़ी०) तथा ब्रजभाषा में जाको, ताको, वाको मिलता है।

मैथिली में यह प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट है। यथा—

ओहिं ग्राम क बनिक (उस गाँव का बनिया)।

६- क्रिया की रूप-रचना में पूर्वी हिन्दी के भविष्यकालिक रूप-ब लगाकर बनाए जाते हैं। पश्चिमी हिन्दी में इस प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव मिलता है। यथा—पू० हि० जाब, खाब, पश्चिमी हिन्दी (खड़ी०) जाऊँगा, खाऊँगा, (ब्रज) जाउँगो, खाउँगो।

७ पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी का सब से महत्वपूर्ण अन्तर वाक्यरचना

से सम्बन्धित है। इसी विशेषता को आधार बताकर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भारतीय आर्य भाषाओं को दो भागों में विभाजित किया है। उक्त विभाजन का आधार लेकर हम कह सकते हैं कि पश्चिमी हिन्दी कर्म-प्रयोग प्रधान भाषाओं के साथ आती है और पूर्वी हिन्दी की बोलियां कर्तृ-प्रयोग प्रधान भाषाओं के साथ। इस विशेषता को इन शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि पूर्वी हिन्दी में भूतकालिक सकर्मक क्रिया कर्ता के पुरुष और वचन के अनुकूल संस्कृत की तिङन्त क्रियाओं की भाँति परिवर्तित होती चलती है, जबकि पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में कथित क्रिया-रूप पर वाक्य के कर्म (पुरुषवाचक सर्वनाम रूपों को छोडकर जो कि वस्तुत. कर्म नहीं सम्प्रदान है) के लिंग तथा वचन का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिये अवधी कवियों की कुछ पंक्तियाँ और उनका पश्चिमी हिन्दी में अनुवाद दिया जा रहा है—

अ दीन्हा नैन पन्थ पहिचानों
दीन्हा रसना ताहिं वखानौं
कीन्हा राति मिलै सुख जासों
कीन्हा दिन कारज है जासों
इनके पश्चिमी हिन्दी-रूप क्रम से इस प्रकार होंगे—
दीन्हे नैन पन्थ पहिचानों
दीन्ही रसना ताहिं वखानौं
कीन्ही राति मिलै सुख जासों
कीन्हा दिन कारज है जासों (अपरिवर्तित)

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूर्वी हिन्दी की क्रियाएँ कर्ता 'सिरजनहार' के पुरुष, वचन से ही बाधित हैं, जबकि पश्चिमी हिन्दी के क्रिया-रूपों पर कर्म के लिंग, वचन का पूर्ण प्रभाव है। आधुनिक अवधी में भी 'हम फूल चढावा' वाक्य बोलचाल में है, जबकि राष्ट्रभाषा हिन्दी का रूप 'मैंने फूल चढ़ाए' होगा। पश्चिमी हिन्दी के अत्यधिक प्रभाव के कारण पूर्वी हिन्दी की प्रतिनिधि बोली 'अवधी' के बैसवाड़ी-क्षेत्र पर यत्र-तत्र कर्म-प्रयोग के लक्षण दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

(ख) कर्ता के पुरुष के अनुसार परिवर्तित होने के उदाहरण इस प्रकार हैं—

पूर्वी हिन्दी (अवधी) उ० पु० एकवचन—मैं मारेउँ
म० पु० एकवचन—तैं मारिस
प्र० पु० एकवचन—ऊ मारिस

पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली) क्रमश मैंने मारा, तूने मारा, उसने मारा।

प्रथम यहाँ परिनिष्ठित हिन्दी की विभिन्न बोलियों की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट किया जा रहा है। जो भाषा-समूह की आधुनिक प्रतिनिधि बोली 'खड़ी बोली' है जिसका आधार लेकर आधुनिक राष्ट्रभाषा का विकास हुआ है। राष्ट्रभाषा अथवा कोई भी भाषा साहित्यिक अनुशासन में नहीं है। उसका तो निरन्तर विकास होता जाता है, और वह अपनी प्रकृति के अनुकूल नवीन क्षेत्रीय विशेषताओं को भी आत्मसात करती जाती है। ठीक यही स्थिति आज की राष्ट्रभाषा हिन्दी की है। स्पष्ट रूप से हम इसको तीन भागों में विभाजित करके देख सकते हैं—

१ राष्ट्रभाषा हिन्दी का क्षेत्रीय रूप जिसे हम 'खड़ी-बोली' कहते चले आ रहे हैं और जिसका क्षेत्र-विस्तार गंगा का उत्तरी दोआब तथा पश्चिमी रुहेलखंड है।

२. बोलचाल की हिन्दी जो कि दिल्ली से लेकर बिहार तक सामान्य शिक्षित जनता द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम है। राष्ट्रभाषा हिन्दी का यही वास्तविक स्वरूप है, जिसमें न तो संस्कृत शब्दावली की बहुलता है और न अरबी, फारसी शब्दों की भरमार। इसकी उपयोगिता दैनिक व्यवहार में है, और हिन्दोस्तानी (हिन्दी, उर्दू) के वास्तविक उद्देश्य के अति निकट है। यही रूप जातीयता के चक्कर में पड़कर प्रेमचन्दजी के पात्रों की भाँति दो विभिन्न आकार धारण कर लेता है—

क. आलिम-आलाओं के मुख से निकलकर अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त होकर 'उर्दू' रूप।

ख. हिन्दू-संस्कृति के पोषक कहे जानेवाले पंडित-जनों के द्वारा बहुल संस्कृत शब्दावली से जकड़ी 'साहित्यिक हिन्दी'।

इस प्रकार के साहित्यिक रूप हिन्दू एवं मुसलमानों द्वारा गृहीत होने के के कारण क्रम से हिन्दी और उर्दू के रूप में रूढ़ि हो गए हैं। परन्तु हम यह पारिवारिक वर्गीकरण के अन्तर्गत बता चुके हैं कि किसी अन्य भाषा से संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के उधार लेने पर कोई भाषा समूल दूसरी नहीं कहला सकती। भाषा का सर्वस्व तो उसके वे क्रिया, सर्वनाम आदि शब्द हैं, जो कि स्वभावतः दैनिक प्रयोग में होने के कारण हमारे मस्तिष्क में पैठ जाते हैं और यह शब्दावली हम तथाकथित 'हिन्दी और उर्दू' दोनों रूपों में सर्वथा समान पाते हैं। फलतः कुछ आलोचकों का यह कहना तर्कसंगत है कि उर्दू को भिन्न नामकरण देकर कटुता क्यों बढ़ाई जाय, अपितु उसे 'मुसलमानी हिन्दी' के नाम से ही अभिहित किया जाय।

अब रह गया बोलचाल और साहित्यिक रूपों का अन्तर। यह अन्तर तो संसार की सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्राओं में मिलता ही है। सभी विषय जनसाधारण के लिए नहीं होते। गुरुतर विषयों के लिए अध्येतावर्ग पूर्व-प्रतिष्ठित भाषाओं से या अन्य स्रोतों से शब्दावली ग्रहण करता है और इस कारण भाषा में कुछ अन्तर पड जाना स्वाभाविक ही है।

३ हिन्दी के एक और रूप का अनुमान लगाया जा सकता है और इसे हम डा० चटर्जी के अनुसार चलर्तू-हिन्दी कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशवासी राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनी उच्चारण एव व्याकरण की भिन्न प्रवृत्ति के अनुसार ग्रहण करते है।

अब यहाँ पर हिन्दी की विविध उपभाषाओं का विवरण देना समीचीन होगा।

राजस्थानी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

उत्तर भारत के वर्तमान राजस्थान-प्रदेश की यह भाषा है। इसके उत्तर मे पजाबी, दक्षिण मे मराठी और पूर्व मे ब्रज-भाषा की सीमाएँ हैं। भाषा के लिए 'राजस्थानी' शब्द का प्रयोग समूहवाची शब्द के रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत राजस्थान की कतिपय बोलियों की गणना की जाती है। सर्वप्रथम डा० ग्रियर्सन ने राजस्थानी बोलियो की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। पुरानी राजस्थानी का विविवत् परिचय डा० एल्० पी० तेस्सितोरी ने दिया। तदनन्तर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने राजस्थानी का ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से, उत्कृष्ट विवेचन प्रस्तुत किया। तेस्सितोरी ने यह स्पष्ट किया कि पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती एक मूल स्रोत से विकसित हुई। पुरानी राजस्थानी का साहित्य भी काफी सपन्न है। इसमे प्राचीन गद्य और पद्य दोनो मिलता है, यह इसकी मुख्य विशेषता है। शौरसेनी अपभ्रश से उद्भूत पिंगल तथा ब्रजभाषा का प्रभाव अर्वाचीन राजस्थानी पर यथेष्ट रूप में पडा। पिंगल के अनुकरण पर ही राजस्थानी-काव्य की विशेष भाषा 'डिंगल' का आविर्भाव हो गया जिसका साहित्य १५वीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

हिन्दी भाषा का निरन्तर प्रभाव पड़ने के कारण राजस्थानी और हिन्दी मे काफी घनिष्ठ सबध हो गया। आधुनिक राजस्थानी मे साहित्य-सर्जन अपेक्षाकृत कम हुआ है। राजनीतिक तथा सास्कृतिक जागृति के साथ राजस्थान के लोगो का ध्यान अब अपनी भाषा की उन्नति की ओर गया है। आधुनिक राजकीय सगठन के परिणामस्वरूप पुराने राजपूताना को एक नये प्रदेश 'राजस्थान' के नाम से अभिहित किया गया है। किन्तु इससे राजस्थानी और हिन्दी के

सबध में कोई अन्तर नही पडना चाहिए। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत ही रखना अधिक समीचीन समझते हैं। उन्होंने दोनों भाषाओं की ध्वनि, व्याकरण, साहित्य, सांप्रतिक इतिहास आदि के विशद तुलनात्मक विवेचन के बाद यही कामना की है—'राजस्थानी बढ़ती रहे पर हिन्दी से इसका छुटकारा कभी न हो।' राजस्थानी के भाषा-समूह के दो प्रमुख भेद हैं—

१ पश्चिमी राजस्थानी जिसके अन्तर्गत जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि की 'मारवाड़ी' मुख्य बोली है।

२. पूर्वी राजस्थानी के अन्तर्गत जयपुर, अजमेर, रेवाटी, किशनगढ़, कोटा, बूँदी आदि बोलियों की गणना की गई है।

डा० ग्रियर्सन ने अहीरवाटी, मेवाती, मालवी, निमाडी आदि बोलियों के कुछ अन्य भेद दिये हैं, किन्तु डा० तेस्सितोरी और डा० चटर्जी ने उन्हें स्वीकार नही किया है। उक्त बोलियाँ पश्चिमी हिन्दी में अधिक सबधित जान पडती हैं।

राजस्थानी की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

क ध्वनि सबधी

१. प्रायः शब्द के आदि मे अ7 इ तथा शब्द के मध्य—इ,-अ के रूप मिलते हैं। यथा सरदार7 सिरदार, हरिण7 हिरण, पडित7 पिडत, दिन7 दन, मानुष7 माणस, मिलाप7 मलाप आदि।

२. ण तथा ळ ध्वनियो का विशेष प्रयोग होता है। यथा काळ, फळ, चळ आदि।

३ शब्द के आरम तथा मध्य में घोष महाप्राण व्यजन, घ, झ, ढ, ध, भ, का उच्चारण क्लिक् (click) ध्वनि के रूप मे होता है। यथा घोड़ा—7 ग'ोड़ो,' वाघ7 वाग, लाभ7 लाब आदि।

ख. व्याकरण सम्बन्धी

१. पश्चिमी हिन्दी के सदृश सज्ञा पुलिग कर्ता कारक एकवचन का रूप समान होता है। यथा-घोडो।

२. पश्चिमी राजस्थानी के सम्बन्ध कारक में रा,-री,-रो प्रत्यय लगते हैं। यथा—उणरो-उसका, उणरी-उसकी।

३. संज्ञा आदि के विकारी रूप बहुवचन मे—आँ विभक्ति लगती है। यथा-सीहाँ, तोपाँ आदि।

४. उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामो के सम्बन्ध कारक एकवचन मे म्हारो, थारो रूप होते हैं।

५ संज्ञा, सर्वनाम आदि में विभक्ति-चिह्न तथा कारक-चिह्न दोनों का प्रयोग होता है।

६. सहायक क्रिया–'है' के लिए–'आछ' धातु रूप का सीमित प्रयोग जयपुरी में होता है। यथा–छू, छा, छ्य आदि में 'छ' रूप का व्यापक प्रयोग हुआ है।

७. भविष्यकाल के रूप -सी,-स्यू आदि विभक्तियों तथा-ला, ली आदि प्रत्ययों के योग से बनाये जाते हैं। यथा-रहसी, रहस्यू, बूडेला-डूबेगा।

खड़ी-बोली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है खड़ी बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में बोली जाती है। इस क्षेत्र के पश्चिम में पंजाबी एवं बांगरू, उत्तर में पहाड़ी बोलियां तथा दक्षिण-पूर्व में ब्रज-भाषा का क्षेत्र है। इस बोली की जन-शक्ति ५३ लाख से अधिक ही है।

इसकी कुछ ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

क ऐ, औ, ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। हिन्दी की तुलना में इनके स्थान पर क्रम से 'ए' और 'ओ' मिलती हैं। यथा

ओर<और, हे<है।

ख अधिकांश स्थानों पर जहां हिंदी में 'न' मिलता है, वहां 'ण' ध्वनि का प्रयोग होता है।

ग मूर्धन्य ध्वनि 'ळ' का प्रयोग राजस्थानी और पंजाबी की ही भांति किया जाता है। किन्तु खड़ी बोली के पूर्व में इस ध्वनि का सर्वथा अभाव मिलता है।

घ. व्यंजनों के द्वित्व रूप अर्थात् दीर्घव्यंजनों से युक्त शब्दावली का प्रयोग होता है। यथा रत्ती, पुच्छा आदि।

इन दीर्घ व्यंजनों के पूर्व-भाग में स्थित स्वर ('आ' को छोड़कर) ह्रस्व ही मिलता है। यथा बेट्टी, लोट्टा (यहां ए और ओ दोनों ध्वनियां उच्चारण में ह्रस्व ही हैं)।

६ व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य है–

क संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कृदन्त आदि रूपों में ब्रज तथा बुन्देली के अन्त्य-औ, ओ की अपेक्षा शब्दान्त में-आ ध्वनि का प्रयोग हुआ है। यथा भलौ, भलो7 भला, मेरौ7 मेरो7 मेरा, गयो, गओ7 गया आदि।

ख संज्ञा के विकारी रूप बहुवचन में ओं के स्थान पर इस बोली में आँ मिलता है। यथा—लड़कों7—लड़काँ, घरों—घराँ।

ग कर्तृवाच्य में वर्तमान काल का रूप सहायक क्रिया के साथ वर्तमान कृदन्त की अपेक्षा सामान्य वर्तमान जोड़कर प्रयुक्त किया जाता है। यथा: (मेरठ के आस-पास के प्रदेश में)

खाता हूँ7 खाऊँ हूँ, मारता हूँ7 मारूँ हूँ।

इसी प्रकार अपूर्ण भूत के लिए सहायक क्रिया के साथ अन्त्य—ए कृदन्त का प्रयोग होता है। यथा—वह पढे था, मैं मारे था।

हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा इसमें अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग अधिकता से हुआ है।

बागरू-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

स्थान और बोलने वालों की जाति के अनुरूप यह बोली कई नामों से व्यवहृत होती है। हरियाना के आसपास इसको 'हरियानी' अथवा 'देसाडी', रोहतक और दिल्ली में जाटों के नाम पर 'जाटू' एवं अन्य स्थानों में 'बांगरू' (बागर-प्रदेश से सम्बन्धित) नाम से प्रचलित है। परन्तु इन सभी बोली-विभेदों में प्राय समानता मिलती है। इसका क्षेत्र-विस्तार दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार तथा पटियाला और झींद स्थानों तक पाया जाता है। पश्चिम में पंजाबी, दक्षिण में मारवाड़ी, दक्षिण-पूर्व में व्रज और उत्तर-पूर्व में खड़ी बोली का प्रभाव दिखाई देता है। इसके बोलनेवालों की संख्या २२ लाख से ऊपर है।

क. ध्वनिसम्बन्धी विशेषताओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१. मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग बहुलता से मिलता है, हिन्दी में इन स्थान पर 'न' का ही प्रयोग हुआ है अपणा7 अपना, होणा7 होना।

२. मूर्धन्य ळ भी बहुप्रयुक्त ध्वनि है। यथा-काळ < काल (ठीक राजस्थानी बोलियों की ही भाँति)।

३ 'ड' ध्वनि का प्रयोग नही मिलता। इसके स्थान पर 'ड' का प्रयोग प्रचलित है। यथा बडा < बडा।

४. शब्द में द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग खड़ी बोली की भाँति बहुतायत से हुआ है तथा इनके पूर्व के स्वर 'आ' को छोड़कर सभी ह्रस्व रूप में मिलते हैं। यथा मुक्का < मूका, मित्तर, < मीतर, परन्तु चालनणा, चाल्ल्या, घाल्लणा, घाल्ल्या।

ख व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती हैं

१. खडी बोली से कही अधिक मात्रा मे तिर्यक बहुवचन के रूप ओं मे अन्त न होकर—आँ मे अन्त होते हैं। यथा

घोडाँ < घोडो, दिनाँ < दिनो, छोरयाँ < छोरियो।

२. परसर्गों का प्रयोग भी हिन्दी की अन्यान्य बोलियो से बहुत कुछ भिन्नता रखता है। यथा

नें (हिन्दी ने) कर्ता कारक परसर्ग का प्रयोग इस बोली मे पजाबी की ही भाति कर्म, सम्प्रदान के लिए भी प्रयुक्त होता है—

परदेस नैं (हिन्दी)—परदेस को।

'तीं', 'तैं' परसर्ग अपादान मे, 'का', 'कै' सम्बन्ध मे अधिक प्रयुक्त होते हैं।

३ सर्वनाम-रूप भी कही पजाबी और कही राजस्थानी से मेल खाते हैं। यथा—मन्नै — मुझको, तन्नै — तुझको (हिन्दी)

निश्चय ही 'नै' पर बलाघात का प्रभाव है जिसके कारण 'मैं' का केवल 'म' रूप शेष रह गया है। हिन्दी की अन्य बोलियो मे यत्रतत्र 'मही'—'मैं ही' के लिए मिलता है।

तू, थू, त्हारो, थारो आदि रूपो मे 'थ' ध्वनि की ओर झुकाव राजस्थानी के समान है। कतिपय शब्दो भी म्होत आदि रूपो का झुकाव 'भ' महाप्राण की ओर पूर्ण स्पष्ट है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि महाप्राण की वहाँ दो कोटियाँ हैं और इस प्रकार स्पर्श व्यजनो के हम तीन भाग कर सकते हैं, जैसे त्, त्ह, थ आदि।

४. सहायक क्रियाओ के प्रयोग में वर्तमान काल का क्रिया-रूप उल्लेखनीय है जो कि पजाबी की ही भाँति हैं, यथा ऱौं, सूँ आदि, हिन्दी है, हूँ आदि।

५ वर्तमानकालिक कृदन्त रूपो की रचना पजाबी की भाति दा लगाकर होती हैं। यथा 'जादा', हिन्दी 'जाता' आदि।

६ भूतकालिक कृदन्त रूपो में अन्त-या का प्रयोग उल्लेखनीय है—चाल्या, हिन्दी चला, खडी बोली चाल्ला। बागरू बोली के अध्ययन से यह विचार तर्कसगत जान पडता है कि दक्खिनी हिन्दी जो कि बहमनी राज्यो मे पनपी, निस्सदेह बागरू तथा खडी बोली के मध्यस्थल-क्षेत्र के सैनिको द्वारा प्रथम वहाँ व्यवहृत हुई। इसकी चर्चा खड़ी बोली (हिन्दी) के विकास में पहले की जा चुकी है। दक्खिनी-साहित्य में सज्ञा के तिर्यक-रूप, सर्वनामो के मन्नै, तन्नै रूप तथा भूतकाल के—या वाले रूप बाँगरू के समान ही प्रयुक्त हुए हैं।

ब्रज-भाषा-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

लिंग्विस्टिक सर्वे मे डा० ग्रियर्सन ने ब्रज के लिए एक और नाम 'अन्तर्वेदी' दिया है अर्थात् गंगा-यमुना के बीच प्रदेश की भाषा। ब्रज केवल ब्रजमंडल-प्रदेश की ही (जिसका विस्तार ८४ कोस की परिधि का है) भाषा नही है। इसका विस्तार व्यापक क्षेत्र में पाया जाता है। ब्रजभाषा का टकसाली रूप मथुरा, आगरा, अलीगढ तथा धौलपुर मे प्रयुक्त होता है। इनका कारण यह है कि प्राचीन 'शूरसेन' जनपद का केन्द्र 'मथुरा' ही था, जहाँ पर शौरसेनी अपभ्रंश प्रचलित थी और ब्रजभाषा इसी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी हुई। बुलन्दशहर बदाऊँ और नैनीताल की तराई मे प्रयुक्त भाषा में खड़ी-बोली का प्रभाव पाया जाता है। एटा, मैनपुरी, बरेली की ब्रज-भाषा मे कनौजीपन मिलता है। गुड़गाँव, भरतपुर तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भू-भाग की ब्रज में बुन्देली तथा राजस्थानी की झलक मिलती है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० धीरेन्द्र वर्मा ने पीलीभीत तथा इटावा की बोली को कन्नौजी की अपेक्षा ब्रज के अधिक निकट माना है।

ब्रज-भाषा क्षेत्र के उत्तर मे बागरू तथा खड़ी-बोली, पूर्व मे कन्नौजी तथा अवधी, दक्षिण में बुंदेली तथा पश्चिम में राजस्थानी का प्रदेश है। ३८ हजार वर्गमील के क्षेत्र मे ब्रजभाषा के बोलनेवालो की संख्या १ करोड़ २२ लाख से ऊपर आँकी गई है। ब्रज अपने साहित्यिक महत्व तथा व्यापकता के कारण बोली-रूप से उठकर भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठो मे विस्तार से की जा चुकी है। ब्रजभाषा-साहित्य का इतिहास १६वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे उस समय से माना जाता है, जब वल्लभ-मत के अष्टछापी भक्त-कवियो के कीर्तन आदि की आयोजना गोवर्धन के मन्दिर मे की गई। इनमे सूरदास और नन्ददास प्रमुख थे। मीराबाई और तुलसीदास ने भी ब्रजभाषा को कुछ अशो मे अपने काव्य का माध्यम बनाया। केशव, रसखान, सेनापति, रहीम, बिहारी, देव, मतिराम, भूषण, घनानन्द, भिखारीदास, पद्माकर आदि प्रसिद्ध कवियो ने ब्रज-भाषा को ही काव्य-भाषा के लिए चुना। ब्रजभाषा की लोकप्रियता इतनी बढी कि लगभग समस्त उत्तर-भारत मे यह काव्य-भाषा के रूप मे गृहीत हुई। साहित्यिक रचनाओ के अतिरिक्त ब्रज का लोकसाहित्य भी अपना निज का महत्व रखता है। ब्रज-मडल नामक सस्था ब्रज के प्रादेशिक साहित्य के प्रचार, सरक्षण एव प्रसार मे सलग्न है। इन गीतो तथा कहानियो मे ब्रज की मधुरिमा तथा सरसता कूट-कूटकर भरी है। हिन्दी भाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रज भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। भाषा-क्षेत्र मे उनका यह शोध-कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

क. ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओ के सम्बन्ध मे व्रजभाषा पश्चिमी हिन्दी का प्रतिनिधित्व करती है । हिन्दी की अन्य बोलियो की ही भाति इसमे भी व 7 ब, य 7 ज, ष 7 ह मिलता है। अनुनासिक व्यजनो मे न, म ध्वनियो का प्रयोग अपने महाप्राण रूपो के साथ उच्चरित होता है, अन्य अनुनासिक व्यजनों का प्राय. लोप मिलता है ।

ख. व्याकरण सम्बन्धी कतिपय विभिन्नताएँ इस प्रकार संगृहीत की जा सकती हैं–

१. हिन्दी यदि आकारान्त भाषा कही जा सकती है, तो इसकी तुलना मे व्रज-भाषा ओकारान्त भाषा ठहरती है। इस प्रकार सज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग तथा कृदन्त रूपो मे जहा हिन्दी मे अन्त्य-आ ध्वनि मिलती है, वहाँ व्रजभाषा मे–औ मिलती है । यथा–

गला7 गरौ, मेरा7 मेरौ, का7 कौ, गया7 गयौ ।

२ सज्ञा के तिर्यक वहुवचन रूपो को अन्त-न अथवा-अन लगाकर और मूल वहुवचन रूपो की रचना स्त्रीलिंग मे-ए अथवा केवल अनुस्वार और पुलिंग मे-ए लगाकर की जाती है । यथा–

लरिकन, गइयन, (तिर्यक वहु०), लट लटे, बुडिया वुडियां, कटौ–काटे (मूल वहु०) ।

३. हिन्दी की तुलना मे सर्वनाम-रूप इस प्रकार हैं

उत्तम पु० हौ, मैं हम, मो, मोय, हमे, मेरौ, हमारौ ।

मध्यम पु० तूँ, तैं, तुम, तो, तोय, तुम्हे, तेरौ, तुम्हारौ ।

दूरवर्ती और निकटवर्ती सकेतवाचक सर्वनाम रूपो मे यत्र-तत्र पुलिंग और स्त्रीलिंग का भी भेद मिलता है·

वो (वह) राजा, वा (वह) रानी, जो (यह) राजा, जा (यह) रानी।

४. परसर्गों का प्रयोग हिन्दी-रूपो के ही समान है। हिन्दी के अन्त्य ए का––ऐ और अन्त्य-ओ का औ ध्वनि मे परिवर्तन हो जाना अनिवार्य है। यथा :

हिन्दी-व्रज क्रमश: कर्ता-कारक ने, नै, कर्म, सम्प्रदान को, कौं, करण, अपादान-से सैं, आदि ।

५ सहायक क्रियाएँ निम्नप्रकार की भिन्नताएँ रखती हैं

वर्तमान काल हौं, है क्रम से एकवचन और वहुवचन ।

भूतकाल हो, ही, हे क्रम से हिन्दी के था, थी, थे के स्थान पर ।

हुतौ, हुतीं, हुते क्रम से हिन्दी के था, थी, थे के स्थान पर।
परन्तु ये रूप प्राचीन ब्रजभाषा-साहित्य में ही मिलते हैं।

६. वर्तमान, भूत एवं भविष्य काल के क्रिया-रूपों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

क. वर्तमान काल के रूप—त अथवा-अत लगाकर बनते हैं, जब कि हिंदी में दीर्घ-ता जुड़ता है। कृदन्त होने के कारण लिंग और वचन भी क्रिया में मिलता है, पुरुष-भेद नहीं।

यथा खेलत श्याम अपने रंग।

'रमा खेलति' प्रयोग भी व्याकरणसम्मत है, वहां हिन्दी में 'रमा खेलती' का प्रयोग मिलता है। पुरुष-भेद में अन्तर नहीं पड़ता, यथा—

हौं खेलत, कान्ह खेलत आदि।

सहायक क्रियाओं का प्रयोग हिन्दी क्रियाओं की भांति अनिवार्य नहीं है।

ख. भूतकालिक रूप भी हिन्दी की ही भांति कृदन्त हैं, अर्थात् लिंग-वचन-भेद रखते हैं परन्तु पुरुष-भेद नहीं रखते। यथा.

गयौ हिन्दी गया पु० एक०, गये गए पु० बहु० गई गई स्त्री० एक०, गई गई स्त्री० बहु०।

ठीक इसी प्रकार भयो, भये, भई, भई, हिन्दी के हुआ, हुए, हुई, हुई रूपों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

ग. भविष्यत् काल के रूपों की रचना दो प्रकार से है। एक रूप हिन्दी के ही समान गो-गी, गे हिन्दी गा, -गी, गे-लगाकर बनते हैं। यथा हौं जाऊंगो, हिन्दी-मैं जाऊंगा आदि। दूसरे प्रकार के रूप क्रिया के अन्त में-ह लगाकर बनते हैं। प्रथम रूप कृदन्त हैं अर्थात् लिंग-वचन-भेद-रखते हैं, पुरुष-भेद नहीं। परन्तु इसके रूप तिङन्त् हैं और वचन-भेद रखते हैं, लिंग-भेद नहीं। यथा—

हौं जैहो, खैहो आदि—मैं जाऊंगा, खाऊंगा। जैहै, खैहै आदि—वह जाएगा, खाएगा।

ऐसा जान पड़ता है कि दूसरे प्रकार के रूप ब्रजभाषा के परम्परागत हैं जो कि पूर्व भाषाओं से चले आ रहे हैं। यही कारण है कि ब्रजभाषा-साहित्य में इन्हीं रूपों का अधिकता से प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रथम प्रकार के रूप हिन्दी के प्रभाव से विकसित हो गए हैं, और इसमे सदेह नही कि आधुनिक बोलचाल की ब्रज-भाषा में प्रथम प्रकार के ही रूप अधिकता से प्रयोग में आते हैं।

७ क्रियार्थक सज्ञाएं भी दो प्रकार की रूप-रचना रखती हैं। प्रथम न लगाकर और दूसरा-बो लगाकर, यथा :—

क 'चलिनौं' केतिक दूर पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै।

ख. 'अखमूदनौं' संग तुम्हारे न खेलिहौं।

ग 'हँसिवौ', 'रमिवौ', 'वोलिवौ' गयौ बीरबल साथ।

घ 'खेलिवौ' अच्छो है।

ब्रज-भाषा की अन्त्य ध्वनि-प्रवृत्ति के अनुकूल-औ ध्वनि मिलती है जब कि हिन्दी में अन्त्य-आ है, यथा—खेलना अच्छा है आदि।

न वाले रूप हिन्दी में नहीं मिलते, ब्रजभाषा के पूर्व में स्थित हिन्दी की सभी बोलियों में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त उदाहरण मूल रूप के ही है। तिर्यक-रूप में क्रम से केवल ह्रस्व-न अथवा-ने ही जुटता है। इन रूपों में लिंग-वचन-भेद भी नहीं मिलता।

८ पूर्वकालिक क्रिया रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता। यथा—खा कैं, खाय कैं, सुनि कैं, हिन्दी-खा कर, सुन कर।

कन्नौजी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

डा० ग्रियर्सन ने इसका विस्तार इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत जिलों में दिया है। फर्रुखाबाद जिसके अन्तर्गत प्राचीन कन्नौज नगर है, इसका केन्द्र माना जाता है। पीलीभीत और इटावा की कन्नौजी पर ब्रज तथा हरदोई और कानपुर की कन्नौजी पर अवधी की छाप मिलती है। कन्नौजी के पश्चिमोत्तर में ब्रज, दक्षिण में बुन्देली, पूर्व तथा उत्तरपूर्व में अवधी का क्षेत्र पाया जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या ४४ लाख से अधिक है।

कन्नौजी का क्षेत्र साहित्यिक दृष्टिकोण से कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है। हिन्दी के चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, अकबरी दरबार के प्रसिद्ध नवरत्नों में से बीरबल जिन्होंने 'ब्रह्म' उपनाम से रचना की है, कानपुर जिले में तिकवाँपुर के निवासी थे। परन्तु इस क्षेत्र के सभी कवियों ने ब्रज में ही अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

व्याकरणिक दृष्टि से कन्नौजी ब्रजभाषा से बहुत अधिक भिन्नता नहीं रखती। क्षेत्रीय अन्तर होने के कारण तथा समीपवर्ती भाषाओं के प्रभाव के कारण थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है। प्राचीन गौरव जो पांचाल और कनउज प्रदेश को मिला है, उसी को ध्यान में रखकर इस बोली-विभेद को भिन्न नाम से दिया गया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा इसे पूर्वी-ब्रज की संज्ञा देना अधिक समीचीन समझते हैं। उनके इस कथन में व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रधान है, क्योंकि बोलियों

के भेद-प्रभेद किए जा सकते हैं। केवल ग्रामगत ही नहीं, जातिगत अन्तर भी स्पष्ट किया जा सकता है। फिर भी इस प्रकार का अन्तर करके अध्ययन अधिक गहरा हो सकता है, परन्तु जब व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाना है तब डा० वर्मा की उक्ति ही मान्य होगी।

कन्नौजी की यत्किंचित् विशेषताओं को नीचे दिया जा रहा है—

१. हिन्दी में 'र' का स्पर्श व्यंजनों से योग होने पर दोनों व्यंजनों का समीकृत रूप हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमें प्राकृत-काल की भाषाओं में मिलता है। यथा—

मिर्च7 मिच्च, उर्द7 उद्द, हल्दी7 हद्दी।

२ हिन्दी आकारान्त भाषा की तुलना में जहां ब्रजभाषा ओकारान्त कही गई है, वहां कन्नौजी ओकारान्त भाषा कही जा सकती है। इसके उदाहरण के लिए हमें हिन्दी आकारान्त संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, कृदन्त आदि रूपों को लेना चाहिए, यथा—

हिन्दी, व्रज, कन्नौजी (क्रमश) छोटा, छोटो, छोटो, बडा, बड़ो, बडो; दिया, दियो, दओ, लिया, लियो, लओ।

बुंदेली में भी इस प्रकार की रूप-रचना मिलती है।

३. बहुवचन शब्द-प्रत्यय-हर या-ह्वार है जो कि संज्ञा तथा सर्वनाम रूपों के बाद में जुडते हैं, भोजपुरी में जिस प्रकार सभ, लोग आदि जुडते हैं, ठीक उसी प्रकार उसका प्रयोग होता है। यथा—

हम हर या हम ह्वार (हिन्दी-हम लोग।)

४. सहायक क्रियाओं के रूप इस प्रकार हैं—

क. वर्तमानकालिक रूपों में-ग ध्वनि का योग होता है। यथा—

हैगो (है), हैं (हैं)।

इस प्रकार तिङन्त और कृदन्त का योग होता है।

ख भूतकालिक रूप कृदन्त ही हैं परन्तु स्थानगत अन्तर मिलता है। यथा—थो, थे, थी, हिन्दी था, थे, थी, हतो, हते, हती; रहो, रहे, रही।

ये रूप क्रम से कन्नौजी-प्रदेश के पश्चिम, मध्य और पूर्व के भागों में मिलते हैं।

ग, भविष्यत् काल के रूपों में भी गो, -गी, -गे रूप जुडते हैं। परन्तु ठीक ब्रजभाषा की ही भांति भविष्यत् काल की रचना दोनों प्रकार से होती है क ह लगाकर, ख -ग लगाकर

५ अतीत काल अन्य पुरुष की क्रिया के एक विचित्र प्रयोग की चर्चा

भी की जाती है, यथा—लरिका नें चलो गओ (लड़का गया—लड़के के द्वारा जाया गया)। आदर्श हिन्दी में इस प्रकार का प्रयोग चिन्त्य माना जाता है। निम्नांकित उदाहरणों में 'कहना तथा पूछना' क्रियाएं अतीत काल स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुई हैं। इनका अन्वय वस्तुत: कर्म कारक 'बात' से हुआ जो यहां लुप्त हो। यथा—उसनें कही (उसनें बात कही), उसने पूछी (उसने बात पूछी)।

बुन्देली क्षेत्र तथा विशेषताएँ

बुन्देली बुन्देलखंड की प्रधान जाति बुन्देलों की बोली मानी जाती है, जिसका विस्तार जालौन, हमीरपुर, झांसी, बाँदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर, दमोह, नरसिंहपुर, सिवनी तथा जबलपुर, हुशंगाबाद तक फैला हुआ है। छत्रसाल के राज्य की सीमा जिस दोहे से स्पष्ट की जाती है वह दोहा भी बुन्देली की सीमा के रूप में साधारणत: गृहीत है। यह इस प्रकार है—

इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टौंस।
छत्रसाल सों लरनि की रही न काहू हौंस॥

परन्तु यह कथन तात्कालिक राजनीतिक एकता की दृष्टि से जितना सत्य है, उतना भाषा की व्याकरणिक गठन की दृष्टि से नहीं। सीमावर्ती प्रदेशों में स्वभावत: ब्रज, अवधी, राजस्थानी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। बांदा जिला की भाषा में बुन्देली, बघेली और बैसवाड़ी (अवधी) का सम्मिश्रण है। इसका क्षेत्र-विस्तार लगभग ४० हजार वर्गमील है, जिसमें सवा करोड़ से अधिक व्यक्ति इस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। इस बोली के भी कई एक विभेद किए जा सकते हैं, क्योंकि इस विस्तृत क्षेत्र को एक सूत्र में बांधनेवाली सामाजिक एकता का अभाव है। यातायात के साधन अत्यल्प हैं। स्थानीय विशेषताओं को ध्यान में रखकर ग्रियर्सन नें बुन्देली के पँवारी, खटोला, राठौरी तथा लुधाँती आदि कई उपभेद किए हैं।

ठेठ बुंदेली की कोई साहित्यिक बहुमूल्य रचना उपलब्ध नहीं होती। एनसाईं, ईसुरी, धर्मदास, गंगाधर की रचनाएँ बुंदेली में ही हैं। तुलसी, केशवदास, पद्माकर, ठाकुर, गोरेलाल आदि कवियों नें काव्य के लिए ब्रज-भाषा को ही अपनाया है। परन्तु इन कवियों की रचनाओं पर यथेष्ट बुंदेली-प्रभाव मिलता है। जगनिक की प्रसिद्ध रचना 'आल्हाखंड' ऐतिहासिक और जन-परम्परा के आधार पर ही नहीं, अपितु प्रकृति-सामग्री के भाषा-विश्लेषण द्वारा भी 'बनाफरी' में लिखा गया, जो कि बुंदेली की एक बोली है और महोबा के आसपास बोली जाती है।

वुन्देली की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ ध्वनि-समूह एवं उसका शब्दों में प्रयोग व्रजभाषा के समान ही है। साहित्यिक हिन्दी की तुलना में रखते हुए हम कह सकते हैं कि क हिन्दी ङ, ञ, ण7 न, ख. हि० य, व7 क्रम से ज, व, ग. हि० श, ष, स7 म घ शब्दों में अनुनासिकता के अधिकाधिक प्रयोग मिलते हैं।

यथा :—

हिन्ना (हिरण), हांत, पांव, नाक, कान, मूं, घिंची आदि।

२ जिस प्रकार हिन्दी की अन्य वोलियों के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जा चुका है, हम वुन्देली को उसी दृष्टि से ओकारान्त-वहुला भाषा कह सकते हैं अर्थात् हिन्दी संज्ञा, सर्वनाम, कृदन्त के रूपों में जहाँ अन्त्य-आ ध्वनि मिलती है, वहाँ वुन्देली में-ओ मिलता है, यथा—

हिन्दी, व्रज, वुन्देली क्रमश गला, गरौ, गरो, वुरा, वुरौ, वुरओ; मेरा मेरौ, मोओ, गया, गयो, गओ आदि।

३ संज्ञा के मूल तथा विकृत एकवचन और वहुवचन के रूप व्रजभाषा के ही समान हैं, यथा—

गइया, गइयन (गाय), मोडा, मोडन (लड़का), गोडो, गोडन (पैर), मोडी, मोंडी (लडकी), विन्नू, विन्नूं (वहिन)।

४ सर्वनाम-रूप भी व्रज-भाषा के समान हैं। यत्किंचित अन्तर इस प्रकार है—

उत्तम पुरुष सम्बन्ध कारक रूप रो<ओ हमाओ (हमारा)

मध्यम ,, ,, ,, —री<ओ तुम्हाओ (तुम्हारा)

५ कारक के सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाले परसर्गों की सूची इस प्रकार है:

कर्त्ता कारक	नैं	(हिन्दी-ने)
कर्म कारक	खा, खौं	(हिन्दी-को)
करण-अपादान कारक	सैं	(हिन्दी-से)
सम्प्रदान ,,	के लानैं, के नानैं	(हिन्दी-के लिए)
सम्वन्ध ,,	कौ, की, के, खौ, खी, खे	(हिन्दी का, की, के)
अधिकरण ,,	मैं, पै, पर	(हिन्दी-मे, पर)

६ सहायक क्रिया-रूपों के सम्बन्ध मे दो वातें उल्लेखनीय हैं—

वर्तमान काल आय (हिन्दी-है, वैसवाडी आहि, आय), आँय (हिन्दी-हैं), आव (हिन्दी-हों), आंत (हिन्दी-तू है), आव (हिन्दी-हो), भूत-काल तो (हिन्दी था, व्रजभाषा-थो), ती (हिन्दी-थी), ते (हिन्दी-थे)।

७ भविष्यत् काल के रूपो की रचना व्रजभाषा की भाँति-ह् के रूपान्तरों को लगा कर होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी 'जाना' क्रिया के रूप बुन्देली मे स्पष्ट किए जा रहे हैं। यथा—

मैं जैहों, (हिन्दी-मैं जाऊँगा), हम जैहन, (हिन्दी-हम जायेगे),
तैं जैहत, (तू जायेगा), तुम जैहो, (तुम जाओगे)।
वौ जैहै (वह जायगा), वै जैहैं, (वे जायेगे)।

उत्तम पुरुष बहुवचन के साथ 'हम जैबो' आदि रूप भी उत्तर-पूर्व मे सुनने मे मिलेंगे जो कि अवधी के समान हैं।

पहाड़ी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

हिमालय की उपत्यका मे हिन्दी की ध्वनि एव व्याकरण सम्बन्धी कुछ समानता रखनेवाली बोलियाँ नैपाली, गढवाली, कुमाउनी आदि हैं। डा० सुनीतकुमार चटर्जी उन बोलियो का विकास खस-अपभ्रश से तथा उन्हे शौरसेनी अपभ्रश से प्रभावित मानते हैं। गुर्जर अपभ्रश का भी विशेष प्रभाव उनके विकास के मूल मे बताया जाता है। विद्वानो ने नैपाली को पूर्वी, गढवाली और कुमाउनी को मध्य तथा शिमला और उसके आसपास के प्रदेश के बोली-रूपो को पश्चिमी पहाडी के नाम से दिया है। वर्तमान जन-सख्या के अनुसार पूर्वी पहाडी बोलनेवालो की सख्या ४ लाख १३ हजार, मध्य पहाडी की ७ हजार तथा पश्चिमी की २३ लाख २६ हजार बताई जाती है।

पूर्वी पहाडी को 'पर्वतिया', 'गोरखाली', 'खसकुरा' भी कहते है। इस क्षेत्र मे चीनी-तिब्बती परिवार की 'नेवाटी' बोली का भी व्यापक प्रयोग होता है। मध्य पहाडी के दो मुख्य भेद हैं गढवाली और कुमाउनी। कुमाउनी अल्मोडा तथा नैनीताल और गढवाली पौरी-गढवाल तथा मसूरी के आस-पास के प्रदेशों मे प्रचलित है। पश्चिमी पहाडी की लगभग ३० बोलियाँ हैं जिनमे उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर स्थान की बोली जौनसारी तथा पश्चिम की शिरमौरी, चवाली, कुलूई, क्यथली आदि मुख्य हैं। इन बोलियो मे कोई विशेष साहित्य नही पाया जाता। नैपाली का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अग्रेज-विद्वान् टर्नर द्वारा 'नैपाली-शब्दकोश' है। नैपाल मे हिन्दी का मान अधिक है। माध्यमिक (गढवाली, कुमाउनी) क्षेत्र के कवियो ने व्रजभाषा मे ही रचनाएँ की हैं। किन्तु आधुनिक काल मे उनमे साहित्य सर्जना हो रही है। इनका लोक-साहित्य सपन्न है, ये देवनागरी लिप मे ही लिखी जाती हैं। पश्चिमी पहाडी की बोलियाँ शारदा से सबधित टाकरी लिपि के विभिन्न रूपो मे लिखी जाती है।

१ इन बोलियों की सामान्य विशेषताओं में वही व्याकरणिक प्रवृत्ति प्रमुख है, जिसके आधार पर खड़ी बोली को आकारान्त, ब्रजभाषा को औकारान्त, तथा बुन्देली और कन्नौजी को ओकारान्त भाषाएँ कहा जाता है। राजस्थानी में भी ओकारान्त प्रवृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। विकास की दृष्टि से पहाड़ी बोलियों को भी ओकारान्त भाषाएँ कहा जा सकता है अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा कृदन्त रूपों में जहा हिन्दी में अन्त्य -आ ध्वनि है, वहा पहाड़ी बोलियों में अन्त्य-ओ मिलता है ।

२. (क) कर्म और सम्प्रदान के कारक सम्बन्धों को स्पष्ट करनेवाले परसर्ग-रूप पश्चिमी और मध्य बोलियों में 'सनि, कणि, कँ, हैं,' और नैपाली में 'लाई' के प्रयोग उल्लेखनीय हैं—

(ख) करण कारकीय परसर्ग गढ़वाली 'नें' कुमाऊनी, नैपाली 'लें'।

(ग) अपादान „ „ „ 'तैं', 'थैं', नैपाली में 'बाट' ।

(घ) सम्बन्ध „ „ „ 'की' 'को' ब्रजभाषा की भाँति 'कौ' मिलता है ।

(ङ) अधिकरण „ „ गढ़वाली 'में', अवधी की भाँति 'मा' रूप विशेष रूप से प्रचलित है ।

३. उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम रूपों में -मे, मैं, मेरो तथा बहुवचन हम, हमन, हमारो आदि प्रयुक्त होते हैं ।

४. वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के रूपों में गुजराती की भाँति-'छ' वाले रूप प्रचलित हैं । पजाबी की भाँति,'स' वाले और हिन्दी की भाँति-'ह' वाले और भोजपुरी की भाँति -'व' वाले रूपों का प्रयोग नही होता है।

५ भूतकालिक कृदन्त रूप चलनो, चल्यो आदि ओकारान्त ही हैं।

डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं के सर्वे में पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा बिहारी उपभाषा-खड की भोजपुरी, मैथिली और मगही मुख्य बोलियाँ दी हैं। लब्धप्रतिष्ठ भाषाविज्ञानी डा० बाबूराम सक्सेना ने पूर्वी हिन्दी के केवल दो मुख्य रूप अवधी और छत्तीसगढ़ी माने हैं। बघेली को अवधी का रूपान्तर कहा गया है। डा० ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि बघेली को अवधी से भिन्न रूप केवल जन-धारणा के कारण ही दिया गया है, अन्यथा बघेली का अवधी से कोई भिन्न रूप नही है।

नीचे पूर्वी हिन्दी की विभिन्न बोलियों की सामान्य विशेषताओं को अलग अलग स्पष्ट किया जा रहा है ।

अवधी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से अवधी पूर्वी हिन्दी की एक बोली ठहरती है, परन्तु एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए समाज के विचार-विनिमय का माध्यम होने के कारण उसे हम मध्यप्रान्त की भाषा भी कह सकते हैं। तुलसी की समाज-भेदिनी दृष्टि ने अवधी को एक बहुत बड़ी व्यावहारिक शक्ति प्रदान की थी, परन्तु समाज की कुछ अन्य विपरीत परिस्थितियों ने जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, इसे व्रज-भाषा के सामने साहित्यिक भाषा न बनी रहने दिया। फिर भी उसकी अक्षुण्ण परम्परा को हम तीन भागों में बाँटकर अध्ययन कर सकते हैं :

१. १००० ई० से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्त तक। १००० ई० के आसपास के भाषा-रूपों का तर्कपूर्ण अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उस युग की कोई निश्चित रचना उपलब्ध नहीं होती। स्वप्नावती, खंडावती, मृगावती, मधुमालती आदि प्रेम-गाथाओं का स्पष्ट उल्लेख उसकी अप्रतिहत गति का दर्शन करा देता है। जायसी तथा इस परम्परा में आने वाले अन्यान्य सूफी कवि तत्कालीन अवधी भाषा का अन्यान्य स्वाभाविक रूप सामने रखते हैं। महाकवि तुलसी का रामचरितमानस उस युग की अवधी का एक परिष्कृत और साहित्योपयुक्त रूप है। इसी रूप को आदर्श बना कर तथा आधुनिक युग की विशेष संस्कृतमयी हिन्दी की प्रवृत्ति को अपनाकर प० द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' जैसी सुन्दर रचना प्रस्तुत की है। उपरोक्त रचनाओं के विभाजन का यदि साहित्यिक मापदंड न रखा जाए तो भाषा की शुद्ध क्षेत्रीय व्याकरणिक प्रवृत्ति के अनुसार 'रामचरितमानस' की रचना अवधी के बैसवाड़ी रूप-पश्चिमी रूप (बैस्य राजपूतों की प्रधानता के कारण यह प्रदेश उस नाम से प्रसिद्ध हुआ है) को आधार बनाकर हुई है, जबकि पद्मावत आदि प्राप्त सूफी रचनाओं का आधार अवधी का पश्चिमी रूप है। संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया-रूपों के अन्यान्य उदाहरण इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दिए जा सकते हैं, परन्तु वाक्य-गठन सम्बन्धी एक अन्तर का उदाहरण देकर ही यहाँ संतोष किया जा सकता है। रामचरितमानस में भूतकालिक सकर्मक क्रिया वाक्य के कर्म से यत्रतत्र उसी प्रकार सबंधित मिलती है जिस प्रकार पश्चिमी हिंदी में। समीपस्थ होने के कारण बैसवाड़ा पर पश्चिमी हिन्दी की किसी बोली विशेष (व्रजभाषा) का प्रभाव स्पष्ट है। सूफी कवियों के क्रिया रूप पूर्वी हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुकूल हैं। इन कवियों के पर्याप्त उदाहरण पहले पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी-भेद को दिखलाते हुए दिए जा चुके हैं।

२ १७०० १९०० ई० के बीच व्रजभाषा काव्य-भाषा रही, परन्तु भूपति,

बेनी, भिखारीदास आदि की रचनाओं को पढ़ कर अवधी, ब्रज की सम्मिलित कल्पना की जा सकती है।

३. १९०० ई० से अब तक। साहित्यिकों की प्रवृत्ति लोकोन्मुखी होने के कारण फिर से अपनी क्षेत्रीय बोलियों को अपनाने की ओर है। हास्य, व्यंग्य के रूप में अवधी का पुनरुत्थान प० प्रतापनारायण मिश्र के समय से ही मिलता है। आधुनिक अन्यान्य कवि साहित्य के अन्य क्षेत्रों और काव्य के अन्य विषयों के लिए भी अवधी का प्रयोग कर रहे हैं।

क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अवधी अवध प्रान्त के हरदोई जिले को छोड़कर शेष समस्त भाग की बोली है। यह लखीमपुर-खीरी, सीतापुर, उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ, बाराबंकी, प्रतापगढ़, सुलतानपुर, बहराइच, गोंडा आदि स्थानों में बोली जाती है।

डा० बाबूराम सक्सेना ने अवधी के तीन रूप पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्वी माने हैं। अवधी की ध्वनि एव व्याकरण सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार संगृहीत की जा सकती हैं—

१. अवधी पूर्वी हिन्दी की प्रतिनिधि बोली है, इसलिए ऊपर पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के भेद को स्पष्ट करती हुई जो विशेषताएँ गिनाई गई हैं, वे सब यहाँ उदाहरण-रूप में लाई जा सकती हैं अर्थात् असमान स्वरों की समीपवर्ती स्थिति अवधी के उच्चारण के अनुकूल है। परन्तु खड़ी बोली में संधि होने की प्रवृत्ति अधिक है। ह्रस्व 'इ', 'उ' के बाद दीर्घ 'आ' का उच्चारण अवधी भाषा-भाषियों के लिए सुलभ है, परन्तु हिन्दी वालों को नहीं, यथा—

क्रम से अवधी सिआर, हिन्दी स्यार (लिखित रूप सियार); कउवा, कौआ, गइया, गैया;, गुआल, ग्वाल आदि।

२ ह्रस्व-अ, दीर्घ-आ, के उपरान्त ह्रस्व 'इ' का उच्चारण अवधी में सुलभ है, खड़ी बोली, व्रजभाषा में कदापि नहीं; यथा—

व्रज—जात, हिन्दी—जाता, अवधी—जाइत।

३ ह्रस्व 'ऍ' और 'ऑ' के उच्चारण की प्रवृत्ति हिन्दी में नहीं मिलती। अवधी में इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है, यथा—

बेटवा, लोटवा, हिन्दी-क्रम से बेटा, लोटा।

बलाघात-वा पर है, फलत. सास खिंचकर-वा पर विशेष रूप से पड़ती है। अतएव दीर्घ-ए,-ओ, ह्रस्व रूप में ही मिलते हैं। सर्वनाम के जेहि. केहि, तेहि, आदि रूपों में भी ह्रस्व 'ए' का अनुमान तर्कपूर्ण है क्योंकि तभी तो साहित्य में अनेक रूपों में लिखे गए हैं, यथा—जेहि, जिहि, ज्यहि। यहाँ तीनों

रूप अशुद्ध है, ह्रस्व 'ए' ध्वनि के लिए देवनागरी मे भिन्न लिपि-चिह्न नही है, इसलिए अभिव्यक्तीकरण अनेकता लिए हुए है।

४. कतिपय अवधी संज्ञाओ के तीन रूप ह्रस्व, दीर्घ, अतिदीर्घ मिलते हैं। यथा—

घोड, घोडवा, घोडौना, बेटा, बेटवा बेटौना, लरिका, लरिकवा, लरिकौना।

५. सर्वनाम और विशेषण-रूपो की प्रवृत्ति भी ह्रस्वान्त की ओर है। यथा—

बड<बडा, थोर<थोडा; मोर<मेरा, हमार<हमारा, तोर<तेरा, तुम्हार<तुम्हारा।

पर विशेषण कही—'क' निरर्थक प्रत्यय लगाकर अपने रूप को दीर्घ कर लेते हैं। यथा—बहुतक, कछुक, थोरक आदि।

६. ब्रज-भाषा तथा अवधी के कुछ अन्य सर्वनाम-रूपो की भिन्नता इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है—

ब्रज, अवधी, खडी (क्रमश) यौ, जो, वौ, को, ए, ई, ओ, ऊ, के, यह, वह, जो, कौन।

७. (क) परसर्ग रूपो मे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि अवधी मे कर्ता-कारक के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाला 'ने' परसर्ग का प्रयोग नही होता है।

(ख) सम्बन्ध कारकीय परसर्ग : १. बरम क टीका (मानस) पु०
२. राम कै प्रतीती (मानस) स्त्री०, ३ राम का घोरवा पु०
(ह्रस्व-क इसी से सम्बन्धित है)

४ राम कर दासा (केर, केरी, केरे रूप भी पुरानी अवधी मे प्रयुक्त मिलते हैं।)

८ सहायक क्रियाएँ इस प्रकार हैं :—

क. वर्तमानकालिक १. आहि, आय · बैसवाडी (पूर्वी अवधी)।
२. बा, बाटै—(पश्चिमी अवधी)।
३. अहै, अहौं आदि (पुरानी अवधी)।

ख. भूतकालिक १' रहेऊँ, रहा, रही आदि।..
ऊ आवा रहा (वह आया था)।
२. अहे आदि भी पुरानी अवधी मे मिलते है!

९ भविष्यत्काल की रूप-रचना अवधी मे—ब लगाकर होती है। कतिपय व्याकरणिक स्थानो मे ह के अवशेष-चिह्न भी प्रचलित हैं। यथा—हम जाब (हिन्दी मैं जाऊँगा), ऊ जाई, ऊ जइहै (हिन्दी वह जाएगा)

१० क्रियार्थक संज्ञा के रूपों की रचना—व लगाकर होती है, यथा—देखव (हिं०-देखना), घूमता (हिं० घूमना)।

बघेली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

बघेली बघेलखंड की बोली है जिसका केन्द्र रीवाँ-राज्य माना जाता है। किन्तु इसका विस्तार दमोह, जबलपुर, मण्डला, बालाघाट आदि जिलों में भी पाया जाता है। फतेहपुर, हमीरपुर, बाँदा में भी इसका व्यवहार बुंदेली मिश्रित रूप में होता है। इस क्षेत्र के उत्तर में अवधी, पूर्व में छत्तीसगढ़ी, दक्षिण-पश्चिम में बुंदेली बोलियों का विस्तार मिलता है। लिंग्विस्टिक सर्वे में इसके बोलने वालों की संख्या ४६,१२,७५६ दी गई है,अब यह संख्या अधिक ही है।

मध्यकाल में रीवा-राज्य उच्चकोटि के कलाकारों का केन्द्र था। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन, तथा बीरबल, नरहरि आदि कवियों का सम्बन्ध रीवा-राज्य से था और यहीं से वे अकबरी दरबार में पहुंचे थे। रीवाँ के महाराजा भी केवल प्रसिद्ध गुणपारखी ही नहीं, वरन् उच्चकोटि के विद्वान् भी रहे हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बघेली के रूप अवधी के समान ही प्रयुक्त होते हैं। परन्तु शब्दों में ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता अवश्य वर्तमान है। कुछ प्रयोग भी भिन्न हैं। बघेली की कतिपय विशेषताओं को इस प्रकार संगृहीत किया जा सकता है—

(१) संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों के मध्य में प्रयुक्त—ओ तथा -ए ध्वनियों का-वा और -या में परिवर्तन मिलता है। यही प्रवृत्ति कम या अधिक मात्रा में बैसवाडी में भी मिलती है। जैसे घोडा—घ्वाडि, मोर म्वार, खेत—ख्यात, जेहि-ज्यहि।

(२) संज्ञा के रूप अवधी के समान ही हैं। यथा घ्वाड, घ्वाटे (मूल), घ्वाड़, घ्वाडन (तिर्यक)।

(३) सर्वनामों के एकवचन में मय, म्वहि, म्वार और बहु० में, हम्ह, हम्हारे, हम्हार रूप मिलते हैं।

(४) इनमें कर्ता 'ने' परसर्ग का अभाव है। का, कहा, से, तर, कर आदि कारक-चिह्नों का प्रयोग होता है।

(५) सहायक क्रिया वर्तमान काल में है, हूँ एक०, हैं, अहेन बहु०, भूतकाल में रहा, रहेऊँ—एक०, रहेन बहु०, भविष्य में होइ, होब्येउँ एक०, होइहैं, होब बहु० में होते हैं।

(६) क्रियाओं में भूतकाल के रूपों के साथ एकवचन में रहा और

बहुवचन मे—ता, ते, प्रत्यय लगते हैं। उदा० उत्तम पुरुष एक० रहे हुँते, बहुवचन मे रहेनते। भविष्यकाल के उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुषो मे क्रमश. देखब्यउ, देखिव, देखिवेस, देखिवा, देखी, देखिहैं होता है। व<ह रूप का प्रयोग अवधी के समान मिलता है। उदा० देखवेयउँ, देखिहौं।

छत्तीसगढी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

छत्तीसगढी का विस्तार रायपुर, विलासपुर के जिलो, काकेर, नादगाव, खैरागढ, रामगढ तथा कुछ भिन्न रूप मे कोरिया, सरगुजा, उदयपुर, जशपुर आदि स्थानो मे और बालाघाट मे खल्वाटी (खलोटी) नाम से पाया जाता है। (डा० ग्रियर्सन ने लिंगविस्टिक सर्वे मे इसके वोलनेवालो की जन-सख्या ३७,५५,३४३ दी है। अब यह सख्या अधिक ही है। छत्तीसगढी मे व्याकरण आदि ग्रन्थो की रचना मिलती है। परन्तु कोई साहित्य उपलब्ध नही होता। केवल लोकगीत प्रचलित मिलते हैं।)

इस बोली की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

(१) सज्ञा, सर्वनाम मे—ऐ,—औ ध्वनियो का क्रमश-अइ और -अउ मिलता है। जैसे बैल—वइल, जौन—जउन, तौन-तउन, कौन—कउन आदि।

(२) शब्द के मध्य मे—'ड' ध्वनि का लोप मिलता है। यथा—लड़िका लइका।

(३) सज्ञा के प्राचीन रूप मे—अन प्रत्यय तथा आधुनिक मे—मन प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। उदा० लडिकामन, परन्तु कभी-कभी इसका प्रयोग नही भी किया जाता है।

(४) कारको मे, का, ला, वर ले, से, के, मा आदि परसर्ग प्रयुक्त होते है।

(५) उत्तम पुरुष सर्वनाम एक वचन मे -मे, मैं, तिर्यक मो, मोर, तथा बहु० हम, हममन आदि रूप मिलते हैं।

(६) क्रियाओ मे वर्तमानकालिक 'ह' का उत्तम पु० एकवचन मे हवउ, म० पु० हव, प्र० पु० हवै तथा बहु० मे हवर्न, हवै, (क्रमश) और आदरार्थक रूप एकवचन हौं, आवं, हय, है आदि, बहु० मे हन्, हौ, हैं आदि व्यवहृत होते हैं।

(७) भूतकाल एक वचन मे रहेउँ, रह्यौं, रहे, रहै, बहु० मे रहेन, रहेयू आदि प्रयुक्त होते हैं।

(८) वर्तमानकालिक कृदंत—अत प्रत्ययुक्त उदा० देखत और भूतकाल में—ए उदा०, देखे, क्रियार्थक संज्ञा के रूप देख, देखन, देखब आदि मिलते हैं।

भोजपुरी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

हिन्दी की बिहारी बोलियों में भोजपुरी का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा हिन्दी के अधिक निकट है। शाहाबाद जिला के उत्तर-पश्चिम में 'भोजपुर' परगना के आधार पर भोजपुरी का नामकरण हुआ है। वर्तमान काल में भी छोटका भोजपुर तथा बड़का भोजपुर नामक गाँव पाए जाते हैं। भोजपुरी का विस्तार शाहाबाद, सारन, चम्पारन, राँची, मुजफ्फरपुर का पश्चिमोत्तर भाग, उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों—वाराणसी, गाजीपुर, आजमगढ़, बलिया, जौनपुर एवं मिर्जापुर, गोरखपुर के कुछ भागों में पाया जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या सर्वे में २,०४,१२,६०८ दी गई है। अब यह संख्या बढ़ गई है। डा० ग्रियर्सन ने भोजपुरी के उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी तथा नगपुरिया रूप दिये हैं। दक्षिणी भोजपुरी टकसाली भोजपुरी मानी जाती है जिसका विस्तार शाहाबाद, सारन, बलिया तथा पूर्वी गाजीपुर में मिलता है। इन स्टैंडर्ड रूप को अधिक श्रुतिमधुर तथा संगीतात्मक स्वराघातसम्पन्न माना गया है। सर्वनाम 'रउआ' के रूप 'राउर' आदि केवल टकसाली रूप में ही मिलते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी भाषा के उद्गम और विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

भोजपुरी का गद्य-साहित्य भी विकसित हो रहा है। राहुल सांकृत्यायन ने इसमें आठ नाटकों को प्रकाशित किया है। श्री अवधविहारी सुमन भोजपुरी के सफल कहानी लेखक हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य कहानी और नाटक लेखक हैं। लोक-कथाओं में भी गद्य का सुन्दर रूप मिलता है।

भोजपुरी का कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। फिर भी हिन्दी के संत कवियों कबीर, धर्मदास, धरणीदास, शिवनारायण, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है। भोजपुरी के अनेक आधुनिक कवि प्रतिभासम्पन्न माने जाते हैं। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोकगीतों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। भोजपुरी के लोकगीतों का साहित्य बहुत ही सुसंपन्न है जिसमें वहाँ के सामाजिक जीवन का सुन्दर संगीतमय चित्रण मिलता है।

भोजपुरी की कतिपय विशेषताएँ ये हैं—(१) भोजपुरी के उत्तरी (गोरखपुर) रूप में अनुनासिक ध्वनि का आगम मिलता है। यथा—माटन्ट, भाँनादन्नाँद।

सारन तथा मुजफ्फरपुर की बोली में र<ड मिलता है। यथा घोडा, घोरा, सडक-सरक। गोरखपुर, वस्ती मे भी यह रूप मिलता है। जैसे पडल—परल।

(२) भोजपुरी की नगपुरिया बोली मे बंगला भाषा के प्रभाव से अकारांत का ओकारांत उच्चारण हो जाता है। जैसे कल-कोल।

(३) भोजपुरी मे संज्ञा एवं विशेषण के तीन रूप माली, मलिया, मलिनयवा मिलते हैं। कुछ शब्दो के केवल दो रूप होते हैं।

(४) बहुवचन के रूप-नि, -न्ह, -न आदि प्रत्यय तथा सभ, लोग आदि शब्दों के योग से बनते हैं जैसे घरन, घरन्ह, रउआ, समन् मिलते है।

(५) इसमे कर्ताकारक मे कोई प्रत्यय या परसर्ग नही जुडते। करण मे -ए, -अन् प्रत्यय जुडते है। यथा मूखें (मूख से), अधिकरण मे ए, -एँ, सबंध मे -र का योग होता है घरे, मोर आदि। इनने परसर्गो का भी प्रयोग होता है।

(६) पुरुषवाचक सर्वनाम एकवचन मे (मूल), मोहिं (विकारी), मोर (सबध), बहु०—मे (मूल) हमनिका (विकारी), हमरि (सबध) तथा इनके आदरार्थक रूप हम, हमरा, हमार, हमरन, प्रयुक्त होते हैं।

(७) क्रियादि पुलिंग उत्तम पुरुष एकवचन के रूप मे बाडी, बाडे, बारी, म० पु० बाडे, प्र० पु० बाडे, बा तथा बहु० मे बाटी, बाटै, बाटेन रूप मिलते हैं।

(८) भूतकाल के एकवचन मे रहली, रहले, रहल, रहलसि बहु० मे रहली, रहलन्हि, रहलेसन्हि रूपो मे पुरुष विशेष की सूचना शब्दो मे ही निहित है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियो मे ऐसे रूप का अभाव पाया जाता है।

मैथिली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

मैथिली के लिए तिरहुतिया तथा मिथिला-भाषा नाम भी प्रचलित मिलते है। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने इसे देशी बोली (देसिल बअना) के नाम से तथा १९वी शताब्दी के अंत मे कविवर चंदा झा ने इसे मिथिला—भाषा के नाम से अभिहित किया है। मैथिली का विस्तार, दरभंगा, पूर्णिया, गंगापार, दक्षिण के मुंगेर तथा भागलपुर मे माना जाता है। सर्वे मे डा० ग्रियर्सन ने इसके बोलने वालो की संख्या एक करोड के लगभग दी है। मैथिली के बोलनेवाले बगाल, असाम आदि प्रान्तो मे भी पाये जाते हैं। मैथिली की कुछ बोलियाँ हैं। आदर्श-रूप उत्तरी-दरभंगा, दक्षिणी-मैथिली—दक्षिणी दरभंगा, पूर्वी मुजफ्फरपुर, उत्तरी मुंगेर, उत्तरी भागलपुर, पूर्निया, पश्चिमी पूर्निया, पूर्वी मैथिली—पूर्वी पूर्निया,

माल्दा, दिनाजपुर, छिकाछिकी रूप दक्षिणी भागलपुर, मुंगेर, पश्चिमी मैथिली-पश्चिमी मुजफ्फरपुर, पूर्वी चम्पारन, जोल्हो रूप उत्तर दरभंगा के मुसलमानों में प्रचलित मिलता है।

बिहारी बोलियों में सबसे अधिक सम्पन्न-साहित्य मैथिली भाषा का ही माना जाता है। इसका आरम्भ १४वीं शताब्दी को ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत प्रसिद्ध गद्य-रचना वर्णरत्नाकर से माना जाता है। १५वीं शताब्दी के मध्य में लखिमा ठकुरानी, विद्यापति, गोविन्ददास, लोचन, १७वीं-१८वीं में उमापति, रामदास, रमापति, १९वीं में नन्दीपति, रत्नपाणि, भानुनाथ, हर्षनाथ आदि प्रसिद्ध कवि हुए। विद्यापति के अनन्तर उमापति तथा हर्षनाथ का ही विशेष मान किया जाता है। मनबोध झा तथा चदा झा मैथिली के प्रबन्धकार तथा महाकवि माने जाते हैं। वर्तमान लेखकों तथा कवियों में रघुनन्दनदास, सीताराम झा, बदरीनाथ झा तथा चदा झा, मोतीलाल दास, भुवन, सुमन, तन्त्रनाथ, ईशनाथ आदि उल्लेखनीय हैं। मैथिली का लोकगीत भी मधुरतम रूप में मिलता है। इनका एक संग्रह मैथिली लोकगीत के नाम से श्री राम इकबाल सिंह 'राकेश' ने प्रकाशित किया है।

मैथिली की कतिपय विशेषताएँ ये हैं—

(१) मैथिली की सभी बोलियों में अ, इ, उ, का अतिलघु उच्चारण होता है। छिकाछिकी में ए, ओ का इसी प्रकार उच्चारण होता है।

(२) मैथिली में संज्ञा तथा विशेषण के तीन रूप भोजपुरी की भाँति ह्रस्व, दीर्घ, अतिदीर्घ—घर, घरवा, घरउवा; मीठा, मिठवा, मिठकवा मिलते हैं।

(३) बहुवचन के रूप सभी, सबहि, लोकनि आदि शब्दों के योग से बनते हैं। उदा० नेनासभ-लड़कों।

(४) विभक्तियों में करण में-एँ, उदा० नेनें (लड़के), नेनिएँ (लड़कियाँ), संबन्ध में-क, -अक, उदा० नेनाक, अधिकरण में -ए, -हि, -ही, जुड़ते हैं। उदा० घरे, घरहि आदि।

(५) कारकों में कें (सम्प्रदान), सँ सो (करण-अपादान), केर, क र (संबंध), मँ, मे, (अधिकरण) के रूप मिलते हैं। संज्ञा के विकारी रूपों में अन्त्य -व, -र, -ल, का-बा, -रा, ला, हो जाता है। उदा० पहर, >पहरा सौं।

(६) पुरुषवाचक सर्वनामों में हम, हमार, हम सभ, तोह, तोहार, तोहे सभ, अपनहि अपनें, अपन सभ आदि रूप प्रयुक्त होते हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों के संबंध रूप में आदरसहित और आदररहित दो रूप होते हैं।

यथा—एकर (इसका), हिनक (उनका), विकारी रूप एकरा, हिनका, ओकरा, हुनका आदि होते हैं।

(७) लिंग-भेद ई या -इ प्रत्यय के योग से होता है। सज्ञा आकारात मे -ई और विशेषण में-इ जुडता है। यथा—नेना (लडका), नेनी (लडकी), वड़ (वडा), वडि (वडी)।

(८) सहायक क्रियाओ मे वर्तमानकालिक रूप 'हु' का गुजराती के सदृश 'छ' रूप के प्रयोग मिलते है। उदा० उत्तम पु० एक० छिअहु, छिए, छी, छिऐन्हि, म० पु० छह, छे, छिऐ, छिऐन्हि, प्र० पु० अछि, छै, छिक्, छैन्ह, छियौन्हि आदि। इसके लिये थिक रूप भी मिलता है, उदा० थिकहू (उत्तम), थिकह (मध्यम), थिक (प्रथम) आदि।

(९) भूतकाल की क्रियाओ मे 'छ' रूप होता है यथा—छलहु, छलह, छल। इसके अतिरिक्त रह, रहीं, रहह, रहै रूप भी व्यवहृत होते हैं।

(१०) क्रियावाचक विशेष पद -व, -ल, के योग से वनते है। यथा मूल० देखव, विकारी० देखवा, देखल, देखल। पूर्वकालिक क्रिया-रूप देखिके, देखिकै, वर्तमानकालिक कृदत देखैत, भूत मे देखल होता है। मैथिली मे एक ही क्रिया के तीन या चार रूप तक होते है। अत उसका रूप-रचना काफी जटिल है।

मगही-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

यह पुराने 'मागधी' नाम से सबधित है। शिक्षित-वर्ग मे मागधी नाम भी प्रचलित है। मगही का विस्तार पटना, गया, हजारीवाग, मुगेर तथा भागलपुर के पूर्वी भागो मे पाया जाता है। इसके उत्तर मे मैथिली, पश्चिम मे भोजपुरी विहारी वोलियाँ प्रचलित हैं। सर्वे मे इसके वोलने वालो की सख्या ६५ लाख के लगभग दी गई है। अब यह सख्या वढ गई है। इसका कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नही होता। प्रचलित लोकगीतो का उल्लेख मिलता है।

मगही के कुडमाली, खोण्टाली वोली-रूप भी मिलते हैं। कुडमाली वहाँ की अनार्य जाति कुडमी की वोली है जो उडिया भाषा से घिरी है और खोण्टाली पश्चिमी माल्दह की वोली है जो वगला भाषा से घिरी है।

मगही की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) मगही की कुडमाली वोली मे-ओ 7 -अ हो जाता है। यथा—ओकर-अकर (उसका), मोर-मर (मेरा), भोज-भज, (निमत्रण), लोक-लक (मनुष्य) इसमे इच्छा 7 हिछा मिलता है। शब्दो मे इ, -ए के पूर्व -अ 7 -ए ध्वनि मे परिवर्तन हो जाता है। यथा कहिके (कहकर)-कहिलेक् (उसने कहा)।

(२) संज्ञा के तीन रूप भोजपुरी, मैथिली के सदृश ही घर, घरवा, घरौना प्रयुक्त होते हैं।

(३) बहुवचन के रूप -न प्रत्यय तथा सब, लोग के योग से बनते हैं। यथा- घोरा-घोरन, घोरा सब, राजा लोग आदि।

(४) विभक्तियों में करण के लिये -ए, -ए, अधिकरण में -ए का योग मिलता है। यथा- घोरे (घोड़े ने), घोरे (घोड़े में)। इनका बहुवचन रूप नहीं मिलता।

(५) कारकों में (मूल, विकारी), में-के, (कर्म-संबंध); ने, सें, सेंति (करण, अपादान); ला, लागि (सम्प्रदान), क, केर, के (संबंध); में, मे, मो (अधिकरण) का प्रयोग होता है।

(६) पुरुषवाचक सर्वनाम एकवचन में आदररहित हम (मूल), मोरा (विकारी), हमरा (संबंध), बहु० में हमनीं तथा आदरार्थक रूप एकवचन हम, हमरा, हमार और बहु० हमरनीं आदि प्रयुक्त होते हैं।

(७) सहायक क्रिया के वर्तमान काल में ही (उत्तम०), हे, हहिन् (मध्यम), है, हहिन्, हइन (प्रथम०); भूतकाल में क्रमशः हल्, हली, हलहिन्, हल्, हले, हलन् रूप होते हैं।

(८) क्रिया-विशेष्य पद में देख् का देखब, देखल, विकारी-देखला, वर्तमानकालिक कृदन्त देखित्, देखैत, भूत में देखल, पूर्वकालिक क्रिया देखके होता है। विहारी बोलियों के भेद को स्पष्ट करते हुए डा० ग्रियर्सन ने सर्वे में प्रश्नवाचक सर्वनाम का एक उदाहरण दिया है—

कसकस कसमर किर्ना मगहिया।
का भोजपुरिया की तिरहुतिया॥

अतएव, संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी की उपरोक्त बोलियाँ अपनी विशेषताओं के साथ पनपती हुई दृष्टिगत होती हैं। इन सभी के समान रूप एक दूसरे के भाषा-रूप तथा साहित्य को समझने में सहायक सिद्ध हुए हैं और इस रूप में इनका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो रहा है एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी को और अधिक पुष्ट करने में इनके योग की पूरी संभावना है।

अध्याय ५

भारतीय लिपियाँ और देवनागरी

लिपि अथवा लिखावट की प्रेरणा आदिम मनुष्य को अपने चारो ओर के प्राकृतिक वातावरण से मिली होगी। आकाश मे स्थित तारे, रम्य उपवन मे उगे पौधे बराबर उसे अपना मूक सदेश देते रहते थे। वह अपनी विचारधारा को भी इसी प्रकार स्थायी बनाने के लिए सचेष्ट हुआ होगा और सर्वप्रथम उसे सबसे सरल उपाय यही सूझा कि वह अपनी भावनाओ को पूर्ण रूप से चित्रित कर दे। चित्रकला के विकास का यही मूल आधार रहा होगा। अपने भावो को सुरक्षित और स्थायी बनाने के लिये आदिम काल से मनुष्य ने तरह-तरह के ढंग निकाले। इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं। पेरू प्रदेश मे कुइपु (Quipu) नाम की डोरियो का उल्लेख मिलता है। इन डोरियो मे रग-बिरगे धागो की गाँठें लगा दी जाती थी और धागो के विविध रगो तथा गाँठो के बँधे रूप से विविध भावो का बोध कराया जाता था। चमडे मे मोती, मूंगे आदि पिरोकर जिसे वैम्पम् (Wampum) कहा गया है, भाव को सुरक्षित रखने की परपरा उत्तरी अमरीका के लोगो मे प्रचलित थी। किसी बात को याद रखने के लिये गाँठ बाँधने के उदाहरण अब भी अशिक्षित-वर्ग मे मिलते ही हैं। शिक्षित-वर्ग मे 'गाँठ बाँध लेना' मुहावरा भी प्रचलित मिलता है। चित्रो द्वारा अर्थबोध कराने की परंपरा बहुत पुरानी है। कई देशो मे घटनाओ को चित्रित करके उन्हें स्थायी बनाया जाता था। जावा मे रामायण की समस्त घटनाएँ पत्थर पर खुदी हुई हैं। जानवरो की खालो, सीगो पर बने हुए चित्रो के उल्लेख मिलते हैं। उत्तरी अमरीका, मिस्र, डेनमार्क, न्यूजीलैड, पूर्वी द्वीपसमूह आदि देशो मे इस प्रकार की चित्र-लिपि (Pictography) के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष की प्राचीन लिपि 'ब्राह्मी' का प्रारभिक रूप भी चित्रात्मक माना जाता है। इसमे पत्थर का उपयोग सम्भवत इसलिए किया गया क्योकि अन्य वस्तुएँ नाशवान थी और यह अधिक स्थायी था।

'दो मिले हुए हाथो से मित्रता की भावना', 'वृक्ष के ऊपर सूर्य' के चित्र से प्रकाश, 'वृक्ष के नीचे सूर्य' के चित्र से अन्धकार, 'जल के पास दौडते हुए बछडे,' के चित्र से प्यास, 'पख फैलाये हुए पक्षी' से शीघ्रता, 'अगूर की बेल' से मित्रता, 'घर को काला करके दिखाने' से बदीगृह आदि भावो का बोध होता था। विविध

पशु-पक्षियो के चित्रो से उनके नामों का परिचय कराया जाता था। धीरे-धीरे सपूर्ण चित्र के स्थान पर उनके सकेतमात्र से ही भाव का बोध होने लगा। वे सकेत-भाव विशेष अथवा वस्तु विशेष के लिए रूढि हो गये। यह लिपि-विकास की दूसरी स्थिति है जिसे भावात्मक चित्र-लिपि (Ideography) कहा गया है। बाद मे यही सकेत किसी वस्तु अथवा भाव से संबधित शब्द के लिये अपना लिये गये। 'शब्द' के लिए प्रयुक्त वे ही साकेतिक चित्र फिर घिस कर 'अक्षर' के लिये अपना लिया गया और कालान्तर मे वह एक 'ध्वनि' का बोधक हो गया। किन्तु चित्रलिपि से ध्वन्यात्मक लिपि का क्रमिक विकास सभी देशो मे समान रूप से नही पाया जाता। कुछ देशो ने अपनी लिपियाँ ध्वन्यात्मक रूप मे विकसित कर ली हैं और कुछ केवल अक्षर-लिपि तक ही विकसित हो सकी। चीनी-लिपि इसी प्रकार की है। किन्तु चीनी-लिपि का आधार लेकर जापानी लिपि ध्वन्यात्मक रूप मे विकसित हो गई हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से कैल्डिया, मिस्र, चीनी, फोनीशी, सुमेरी तथा भारतीय भाषा-भाषी लोगो की गणना की जाती है। फोनीशी से यूनानी और यूनानी से रोमन लिपि का विकास माना जाता है। सुमेरी लिपि के उल्लेख लोहे की कीलो से ईंटो पर खुदे हुए मिले हैं। ईंटो पर लकीरें आसानी से खीची जा सकती थी, इसलिए यह लिपि सीधी, तिरछी आदि लकीरो के रूप मे ही व्यक्त हुई है। इस लिपि का सबध सामी लिपि से जोड़ा गया है। यह अनुमान है कि सामी लिपियाँ (आर्मीनी, अरमी, कीलाक्षर आदि), सुमेरी तथा फोनीशी लिपियों से विकसित हुई।

भारतवर्ष की प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी तथा खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी लिपि भारत के पश्चिमोत्तर, चीनी-तुर्किस्तान आदि स्थानो मे प्रचलित मानी गई है। प्राचीन काल मे ब्राह्मी भारत की व्यापक लिपि थी। भारतीय लिपियों के मूल स्रोत तथा प्राचीनता के सबंध मे काफी मतभेद मिलता है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो मे आज भी इस सबध मे मतैक्य नही पाया जाता। खरोष्ठी लिपि का अशोक के पश्चिमोत्तर भाग के शिलालेखो मे प्रयोग हुआ है। शहबाजगढी, मनसेहरा के शिलालेख इसी लिपि मे हैं। कुछ सिक्को मे भी इसके अक्षर मिलते हैं। इस लिपि के लिखने का ढग ब्राह्मी से भिन्न है। खरोष्ठी दाईं से बाईं ओर ब्राह्मी बाई से दाईं ओर को लिखी जाती है। अत खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियो के उद्गम भिन्न-भिन्न स्रोतो से कहे जा सकते हैं।

खरोष्ठी लिपि का सबध ईरान की अरमी लिपि से जोड़ा गया है, क्योकि दोनो के अक्षर एक-दूसरे से काफी मिलते हैं। 'खरोष्ठी' शब्द की व्युत्पत्ति के

सबध मे कई अनुमान लगाये गये हैं। 'खरोष्ठ' नामक किसी आचार्य के द्वारा अरमी का भारतीयकरण हुआ हो इसलिये यह खरोष्ठी कहलाई अथवा सभव है कि अक्षरो की आकृति गधे के ओठ के सदृश होने के कारण इसका यह नाम पड़ा हो। अभी तक इस सबध मे कोई निश्चित मत नही निकल सका है। डा० चटर्जी हिब्रू-खरोशेथ (लिखावट) से इसे सम्बधित करते है। कुछ भारतीय तथा चीनी विद्वानो ने खरोष्ठी को भारत की उपज सिद्ध किया है किन्तु यह मत मान्य नही है।

भारतवर्ष की आधुनिक उर्दू लिपि खरोष्ठी के सदृश ही दाई से बाई ओर लिखी जाती है, किन्तु यह लिपि अरबी-फारसी लिपि से अधिक सबधित है। खरोष्ठी पर भी फारसी-अरबी का प्रभाव जान पड़ता है। भारत मे मुगलो के शासनकाल मे जब फारसी राज्य-भाषा बनी तो उसके साथ उक्त लिपि का व्यवहार भी व्यापक हो गया। उर्दू भाषा हिन्दी का एक रूपान्तर मात्र है, यह पहले कहा जा चुका है। चूँकि इसमे फारसी-अरबी शब्दो की बहुलता है इसलिए फारसी-अरबी लिपि ही इसके लिये अधिक उपयुक्त थी। उर्दू भाषा-भाषी लोगो मे इसी लिपि का व्यवहार पाया जाता है।

ब्राह्मी लिपि को अभारतीय सिद्ध करने का प्रयास कई विदेशी विद्वानो द्वारा किया गया। पाश्चात्य विद्वानो मे बर्नेल, प्रिंसेप, मूलर, सेनार्ट, विल्सन आदि ने ब्राह्मी का सबध ग्रीक अथवा फोनीशी लिपि से जोडा है। इन लोगो के मतानुसार फोनीशी जाति का व्यावसायिक सबध भारत से था और तभी भारतीयो ने उनसे लिपि का प्रयोग करना सीखा। बूलर, वेबर, टेलर, जोस आदि ने ब्राह्मी का सबध सामी लिपि से जोडा है। इन विद्वानो का अनुमान है कि ईरान के मार्ग से यह भारत मे पहुँची। बूलर ने भारत मे सामी वर्णो का प्रवेश ८०० ई० पूर्व के लगभग माना है। इसी प्रकार किसी ने ब्राह्मी का सबध असीरी-कीलाक्षर तथा चीनी लिपि से भी जोडने का प्रयास किया है एव किसी ने खरोष्ठी से ब्राह्मी लिपि का विकास सिद्ध किया है, किन्तु वर्णो की आकृति तथा लिखने के ढग से ब्राह्मी लिपि किसी विदेशी लिपि से सबधित नही होती। चीनी लिपि ऊपर से नीचे लिखी जाती है, ब्राह्मी की भाँति बायी से दायी ओर नही। अतएव मनमाने ढग और खीचातानी से ब्राह्मी के वर्ण विदेशी लिपियो से नही जोडे जा सकते।

यहाँ पर उन भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो के नाम उल्लेखनीय है जिन्होने ब्राह्मी को भारतीयो का मौलिक आविष्कार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसमे महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचद ओझा, डा० सुनीतिकुमार

चटर्जी, डा० तारापोरवाला, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, डा० राजबली पांडेय, एडवर्ड थामस, डासन, कनिंघम आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन विद्वानों ने ब्राह्मी को विदेशी लिपियों से संबंधित किया है, उन्होंने भारतीय लिपि की प्राचीनता बहुत काल की नहीं मानी है, किन्तु तथ्य इनके विपरीत हैं। भारतीय तथा कुछ विदेशी सूत्रों से भारतीय लिपि की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज, चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारतीय लिपि की प्राचीनता स्वीकार की है तथा चीनी विश्वकोष में ब्राह्मी-लिपि को ब्राह्मी के द्वारा निर्मित भारतीय लिपि माना गया है। ग्रीक-सूत्रों से यह भी पता चलता है कि भारतीय लिखने के लिये कागज तथा पेड़ों की छालों का व्यवहार करते थे। बौद्ध ग्रंथों में भी लिपि की प्राचीनता के कई सांकेतिक उल्लेख मिलते हैं। 'ब्रह्मजालसुत्त' में 'अक्खरिका' नामक बच्चों के खेल का परिचय दिया गया है, जो पीठ पर या आकाश में उंगली से बनाये गये अक्षरों का बूझना था। 'सुत्तान्त' में भिक्षुओं के लिये यह खेल न खेलने का आदेश दिया गया है। 'विनयपिटक' में भिक्षुओं के लिये लेखन का कार्य प्रशंसनीय बताया गया है। गृहस्थों तथा उनके पुत्रों के लिये लेखन-व्यवसाय को जीविका का उत्तम साधन कहा गया है। जातक, महावग्ग में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनमें लेखन-कला के अध्यापन तथा उसके लिये आवश्यक सामग्री आदि की शिक्षा दी जाती थी। 'ललितविस्तर' ग्रंथ में एक उल्लेख मिलता है कि शिशु-अवस्था में गौतम बुद्ध एक लिपिशाला में गये और उनके गुरु विश्वमित्र ने चंदन की तख्ती पर स्वर्ण-कलम से उन्हें लिखना सिखाया।

जब बौद्धकाल में लेखन-कला उन्नत रूप में थी तो उसकी प्राचीनता सैकड़ों वर्षों पहले की आँकी जा सकती है। बौद्ध साहित्य से भी पूर्व प्राचीन संस्कृत-साहित्य में लेखन-कला संबंधी कई उल्लेख मिलते हैं। रामायण, महाभारत में लेख, लेखन, लेखक आदि शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं। महाभारत के आदि-पर्व में यह लिखा मिलता है कि उसके रचयिता व्यास ने गणेश नामक प्रवीण लिखिया से उसे लिपि-बद्ध कराया। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, साहित्य में तत्संबंधी कई उल्लेख लिपिबद्ध हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में लिपि, लिवि, लिपिकर, ग्रन्थ, यवनानी, स्वरित आदि शब्द मिलते हैं। यवनानी से आशय यूनान की लिपि से है तथा स्वरित लिखने का एक चिह्न होता है। इसी में महाभारत को ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया है तथा व्याकरण के पूर्ववर्ती लेखकों अपिशलि, कश्यप, गालव, गार्ग्य, चक्रवर्मन, भारद्वाज, यास्क, शाकल्य, शाकटायन, सेनक, स्फोटायन के

उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि के पूर्व यास्क ने निरुक्त मे अपने से पूर्व के लेखकों—औदुम्बरायण, अग्रायण, औपमन्यव, शतवलाक्ष, शाकपुरि आदि का परिचय दिया है। इन उदाहरणो से लेखन-कला की प्राचीनता बौद्धकाल से भी पूर्व की सिद्ध होती है। उपनिषद् एव ब्राह्मण-ग्रथो मे भी तत्सबधी उल्लेख मिलते हैं। भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद मे गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दो के उल्लेख से भी लेखन-कला का सकेत मिलता है। यहाँ एक और उल्लेख किया गया है कि राजा सावर्णि ने एक हजार 'अष्टकर्णी' गायें दान मे दी। 'अष्टकर्णी' का अर्थ है कि जिनके कानो पर ८ की सख्या अकित थी। अको का विशद् उल्लेख भी वेदो मे मिलता है। करोडो की सख्या की गणना बिना लिखे निश्चित नही की जा सकती।

इस सम्बन्ध मे श्रुतियो से कुछ भ्रम हो गया है। 'श्रुति' से यह अर्थ लगाया जाता है कि पहले सुन कर याद कर लेने की प्रथा थी, क्योकि लेखन-कला का विकास नही हुआ था। किन्तु तथ्य यह है कि वैदिक मत्रो की प्रतिष्ठा के लिये उनका शुद्ध उच्चारण आवश्यक था, यह पुरोहित द्वारा उच्चरित मत्रो को कानो से भली प्रकार सुनने पर ही सभव था, जो पुरोहित लिपिबद्ध मत्रो का उच्चारण करते थे, वह उनके लिये कोई प्रतिष्ठित बात नही मानी जाती थी। इस पर बल दिया जाता था कि लोग मत्रो को पुरोहित से सुन कर कण्ठस्थ कर लें। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि नई रचना पहले लिपिबद्ध की जाती थी, बाद मे उसे कण्ठस्थ कर लिया जाता था। कुछ विद्वानो का मत है कि प्रातिशाख्य जैसी प्रारंभिक रचनाएँ लेखन-कला के बिना सभव नही थी। भारतीय लिपि की प्राचीनता के सबध मे एक शका यह भी की जाती है कि उसकी कोई प्राचीन सामग्री उपलब्ध नही होती। इसका उत्तर केवल यह है कि शिलालेखो, सिक्कों आदि की सामग्री तो काल के प्रहार को सहन कर सकी, किन्तु भोजपत्र, वृक्षो की छाल, हाथ से बने कागज पर लिखी पुरानी सामग्री समय के आघात को न सह सकने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गई। बहुत-सी पुरानी हस्तलिखित पोथियो को नष्ट होने से बचाने के लिये उन्हें बार-बार नये रूप मे लिपिबद्ध किया जाता रहा। इसलिये वह बहुत प्राचीन नही जान पडी।

भारतीय ग्रथो मे लेखन-सामग्री के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रथो में 'पण्ण' (पत्र) से ताड़पत्र की सूचना मिलती है। बौद्धो का त्रिपिटक सर्वप्रथम ताडपत्रो पर लिखा बताया जाता है। प्राचीन ग्रथ इसी प्रकार के पत्रो का सग्रह होता था जिसे गाँठ या डोरी से छेद करके बाँध दिया जाता था। भूर्ज (भोज) नामक वृक्ष की भीतरी छाल पर भी लिखने की प्रथा थी। इसे भोजपत्र

कहा गया है। अल्बरूनी ने इसका उल्लेख किया है। कश्मीर, उड़ीसा आदि प्रदेशों में इनका अधिक प्रयोग होता था। देशी कागज पर भी लिखने की प्रथा थी जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, किन्तु यह महँगा होने के कारण कम प्रचलित था। लिखने के लिये लकड़ी के पतले पाटों का भी प्रयोग होता था। रेशमी कपड़ा, सूती कपड़ा, चमड़ा आदि भी लिखने के काम में आते थे किन्तु ये सब सामग्रियाँ अधिक स्थायी न थीं, इसलिए किसी बात को चिरस्थायी बनाने के लिये पत्थर का अधिक उपयोग होता था। इसीलिए अनेक पुराने लेख चट्टानों, स्तंभों, शिलाओं आदि पर ही खुदे हुए मिलते हैं। संपूर्ण पुस्तकें चट्टानों में खुदा दी जाती थीं। सुवर्ण-पत्र, रजत-पत्र, ताम्र-पत्र, लोहे के स्तंभ आदि धातुओं का भी लिखने के लिये उपयोग होता था। स्याही भी अनेक प्रकार से बनाई जाती थी। अतः भारत में लिखने की परंपरा और लिखने की सामग्री से लिपि की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है। अशोक के भी पूर्व प्रचलित लिपि के उदाहरण सिक्कों तथा कुछ शिला-लेखों पर मिलते हैं। बस्ती जिले के पिप्रावा तथा अजमेर जिले के बड़ली नामक स्थानों में दो शिलालेख मिले हैं। बड़ली वाले शिलालेख पर 'वीराय भगवते चतुसिति वसे' अंकित है जिसका अर्थ है 'भगवान् महावीर के ८४ वें वर्ष में' इससे इसका समय ४८३ ई० पू० स्पष्ट होता है। गोरखपुर जिले का सोहगौर ताम्रपत्र, बंगाल महास्थान शिलालेख आदि से भी लिपि की प्राचीनता स्पष्ट होती है। इधर मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से भारतवर्ष में लिपि के प्रयोग की प्राचीनता ई० पूर्व हजारों वर्ष पहले की सिद्ध होती है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता ४००० ई० पू० के लगभग आँकी गई है। इस प्रकार भारतवर्ष की लिपि मिस्र, मेसोपोटामिया आदि की लिपियों के समकक्ष ही पुरानी कही जा सकती है।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ो की सभ्यता आर्येतर सभ्यता मानी गई है। इसका संबंध द्राविड़ तथा सुमेरी लोगों से जोड़ा गया है। इसलिये उपलब्ध लिपि भी द्राविड अथवा सुमेरी से संबंधित की गई है। पाश्चात्य विद्वान् हेरस, सर जान मार्शल ने इसका संबंध द्राविड की तामिल लिपि से जोड़ा है। वैडेल, प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसे सुमेरी से संबंधित किया है। किन्तु सुमेरी जाति के संबंध में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मेसोपोटामिया में यह बाहर से आई और इसमें लेखन-कला का प्रयोग होता था। अतः यह संभव है, सुमेरियों ने भारत की सिन्धु-घाटी से इसे अपनाया हो। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसी प्रकार मिस्र

आदि देश मे भी सिन्धु भाषा-भाषी लोगो के द्वारा वह उन देशो मे गई हो। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो ने सिंधु-घाटी की लिपि को एक मौलिक आविष्कार के रूप मे स्वीकार किया है, इस सबध मे डा० राजबली पाडेय का निष्कर्ष है कि समवत सिन्धु घाटी की लिपि के आधार पर ही भारतीय लिपि ब्राह्मी, सुमेरी, मिस्री आदि लिपियो का विकास हुआ। इस प्रकार भारतवर्ष मे लेखन-कला की प्राचीनता हजारो वर्ष पहले की ज्ञात होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की प्राचीन लिपि है और इसे भारतीयो के मौलिक आविष्कार के रूप मे स्वीकार किया जाता है। जो लोग इसे विदेशी स्रोत का बताते हैं, वे भी इस बात से सहमत हैं कि प्राचीन काल मे विदेशी व्यापारियो से यहाँ के लोगो ने लिपि का प्रयोग सीखा और उसमे आशातीत विकास कर लिया। ब्राह्मी को द्राविड़ स्रोत से सिद्ध करनेवाले विद्वानो मे एडवर्ड थामस का नाम उल्लेखनीय है। इनके मतानुसार भारत मे आर्यों के विस्तार के पूर्व द्राविड़ सपूर्ण भारत मे फैले थे और उनमे सास्कृतिक उपकरण आर्यों की अपेक्षा अधिक उन्नत रूप मे थे। डा० राजबली पाडेय तथा अन्य विद्वानो ने इस आधार पर उक्त मत का खडन किया है कि द्रविडो के आधुनिक निवास-स्थान दक्षिण मे हैं, किन्तु प्राचीन लिपि के उदाहरण उत्तर मे मिले। साथ ही तामिल आदि लिपियो मे आर्य वर्णमाला के केवल पहले और पाँचवें वर्ण मिलते-हैं, अन्य नही मिलते। अत एक अपूर्ण लिपि से पूर्ण लिपि का विकास समव नही। डा० डेविड डिरिन्जर तथा अन्य विद्वानो ने कुछ तर्कों के आधार पर ब्राह्मी को भारतीय आविष्कार मानने मे सदेह प्रकट किया है। सिन्धु घाटी की लिपि चित्रात्मक रूप का सकेत करती है। पर ब्राह्मी ध्वन्यात्मक लिपि है तथा चित्र-लिपि से वर्ण-लिपि का विकास समव नही, साथ ही ब्राह्मी की प्राचीनता के यथेष्ट प्रमाण नही मिलते। डा० राजबली पाडेय ने इन सदेहो का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। सिन्धु-घाटी की लिपि का अभी तक पूर्णरूपेण कोई निर्णय नही हो सका है, किन्तु चित्र-लिपि से वर्ण-लिपि का विकास असमव नही कहा जा सकता। सभी प्राचीन लिपियाँ मिस्री, फोनीशी, चीनी आदि इसी ढग से विकसित मानी गई हैं। लिपि की प्राचीनता के कई उल्लेख वैदिक वाङ्मय मे मिलते है जिनका निर्देश पहले हो चुका है। पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय सभ्यता और सस्कृति की प्राचीनता ई० पूर्व की स्वीकार की है और यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी एशिया मे लिपि का विकास प्राचीन भारतीय लिपि के आधार पर हुआ और उसी प्राचीन भारतीय लिपि से ब्राह्मी का सबध है।

जेम्स प्रिंसेप, एमिल सेनार्ट, अल्फ्रेड मूलर, जोजेफ हलेवी, विल्सन आदि ने ब्राह्मी को ग्रीक लिपि से संबंधित किया है, किन्तु ग्रीक लिपि को फोनीशी अंततः से विकसित माना जाता है और फोनीशी लिपि को वैदिक काल की 'पणि' जाति से संबंधित किया गया है। भारतीय प्राचीन लिपि यूनानियों और फ्रोनीशी लोगों के द्वारा अपने अपने देशों में फैलाई गई, यही कहना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। वेबर, बेन्फी, जेन्सन, बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी के वर्णों की आकृतियाँ फोनीशी से जोड़ी हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्वानों ने फोनीशी जाति को समुद्री मार्ग के द्वारा पश्चिम में पूर्व से आया हुआ माना है। डा० राजबली पाण्डेय ने स्पष्ट किया है कि भारतीय और फ्रोनीशी वर्णों में समानता न होने का कारण भी यही है। अतः फोनीशी लिपि पश्चिम भूमध्य सागर के समीपवर्ती देशों में भारत से ही गई।

पहले कहा गया है कि कुछ विद्वानों ने उत्तर और दक्षिण सामी लिपियों से ब्राह्मी का संबंध जोड़ा है। डा० बूलर, डा० डेविड डिरिंजर ने इसका संबंध उत्तरी सामी से जोड़ा है। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने डा० बूलर के निष्कर्षों का भली प्रकार से खंडन किया है। बूलर ने ब्राह्मी के २२ वर्णों की आकृतियाँ उत्तरी सामी से सिद्ध की और शेष का संबंध फोनीशी, असीरी आदि से बताया। ब्राह्मी के कुछ वर्णों को दायें से बायें ओर लिखे रूप से भी इसकी पुष्टि की। डा० डिरिन्जर ने ब्राह्मी को उत्तरी सामी से संबंधित अरमी-स्रोत का सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु भारतीय विद्वानों का मत इस संबंध में पहले दिया जा चुका है कि यदि फोनीशी, सामी, ग्रीक आदि लिपियाँ वर्णात्मक हैं तो सिंधु-घाटी की प्राचीन लिपि में भी चित्रात्मक, अक्षरात्मक और वर्णात्मक रूपों के पर्याप्त लक्षण मिलते हैं। अतः यह कथन कि ब्राह्मी जैसी वर्णात्मक लिपि विदेशी वर्णात्मक लिपियों से ही विकसित हुई, युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता।

टेलर, डीके, कैनन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मी का संबंध दक्षिणी सामी से जोड़ा है। किन्तु अरबों का भारत से कोई प्राचीन संबंध था, इसके पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते। ब्राह्मी के वर्णों की आकृतियाँ सामी से नहीं मिलती। अतः इनमें संबंध-निर्धारण उपहासास्पद ही कहा जायेगा।

ब्राह्मी एक पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि है। इसमें वर्णों का संयोजन पूर्णतया ध्वन्यात्मक है। ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, अनुस्वार, उच्चारण-अवयवों के अनुसार स्वरों और व्यंजनों का विभाजन, संयुक्त व्यंजन आदि के लिए व्यवहृत पृथक् लिपि-चिह्न ब्राह्मी लिपि की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं। प्राचीन विदेशी लिपियों में

इस प्रकार की पूर्णता का अभाव मिलता है। सामी, ग्रीक आदि लिपियो में वर्णो का न तो कोई क्रम है और न उनका विकास ही उच्चरित ध्वनियो के अनुसार मिलता है। ब्राह्मी लिपि की इसी पूर्णता और वैज्ञानिकता के कारण विद्वानो का यह निष्कर्ष है कि इस लिपि का विकास उच्च मस्तिष्क वाले पडितो, ब्राह्मणो के द्वारा किया गया। प्राचीन वैदिक साहित्य मे भाषाविज्ञान सबधी सामग्री जो उपलब्ध होती है, वह भी इसी बात की द्योतक है। डा० बूलर ने जहाँ ब्राह्मी का सबध सामी से जोडने के लिए मनमाने ढग से काम लिया है, वहाँ उसने यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन काल मे भारतीय ब्राह्मणो के द्वारा ब्राह्मी का विकास सस्कृत भाषा को लिपिबद्ध करने के लिये किया गया। वस्तुत ब्राह्मी लिपि का विकास शिक्षित-वर्ग के द्वारा ही किया गया। वह अर्धशिक्षित व्यापारी वर्ग का आविष्कार नही कहा जा सकता। म० म० प० गौरीशकर हीराचद ओझा ने इसकी प्राचीनता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे साक्षर-समाज ब्राह्मणो की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो. .।' डा० तारापोरवाला ने ब्राह्मी लिपि को हैदराबाद की खुदाई मे प्राचीन काल के बर्तनो पर अकित अक्षरो से जोडा है। किन्तु अन्य भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नही हैं, क्योकि ब्राह्मी और इसकी आकृति मे बहुत कम समानता है।

जैन तथा बौद्ध ग्रथो मे भारतवर्ष की प्रचलित लिपियो के नाम मिलते हैं। जैन-ग्रथ पन्नवणासूत्र और समवायाग-सूत्र मे ऐसी १८ लिपियो के नाम दिए गए है जिनमे बभी (ब्राह्मी) प्रमुख लिपि मानी गई है। भगवती-सूत्र मे ब्राह्मी लिपि को 'नमो बभीये लिविये' रूप मे नमस्कार किया गया है। बौद्ध ग्रथ 'ललित विस्तर' मे ६४ लिपियो का उल्लेख मिलता है जिनमे सर्वप्रथम स्थान ब्राह्मी को दिया गया है। ब्राह्मी के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि, अगलिपि, वगलिपि, मगधलिपि, यवनानीलिपि, शकारिलिपि, द्राविडलिपि, दक्षिणलिपि, चीनलिपि, हूणलिपि आदि के नामकरण प्रदेश और जाति के नाम पर रखे हुए जान पडते है। किन्तु इनसे इतना तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ब्राह्मी सर्वमान्य लिपि थी। उपरोक्त ग्रथो मे मनुष्य-लिपि, अगुलीय लिपि, ऊर्ध्वधनु-लिपि, पुष्पलिपि, मृगचक्र लिपि, चक्रलिपि, वज्रलिपि, विमिश्रित लिपि आदि से भारत की प्राचीन चित्रलिपि के सकेत मिलते हैं। विमिश्रित लिपि से चित्र, अक्षर तथा वर्ण लिपियो के समन्वित रूप का अनुमान किया गया है।

ऐसा जान पडता है कि प्राचीन भारतीय लिपियाँ कालान्तर मे धीरे-धीरे

समाप्त हो गई और ब्राह्मी ही अशोक के समय में भारतवर्ष की प्रधान लिपि बन गई थी। दक्षिण में प्राप्त भट्टिप्रोलु के स्तूप की लिपि, सिद्धापुर और ब्रह्मगिरि से प्राप्त लेखों की लिपियाँ ब्राह्मी के प्राचीन रूप में सम्मिलित की गई हैं। यह प्राचीन ब्राह्मी (Proto-Brahmi) का रूप अर्वाचीन ब्राह्मी से भिन्न था, वैसे अशोककालीन ब्राह्मी लिपि भी पूर्ण सुविकसित नहीं थी। लिपि के परिष्कार, सुधार आदि में प्राय वही मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं जो भाषा के विकास में। अत अर्वाचीन ब्राह्मी लिपि का विकास होना स्वाभाविक ही था।

विद्वानों का अनुमान है कि लगभग ३५० ई० में ब्राह्मी लिपि दो धाराओं में प्रवाहित होने लगी है। एक को उत्तरी शैली और दूसरी को दक्षिणी शैली के नाम से कहा जा सकता है। उत्तरी शैली के अन्तर्गत गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी, शारदा, बंगला तथा दक्षिणी शैली की पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलुगु, कन्नडी, ग्रंथ, कलिंग, तामिल, वट्टेळुत्तु मुख्य लिपियाँ हैं।

गुप्त-वंश के राजाओं की संरक्षा में चौथी और पाँचवीं शताब्दी में ब्राह्मी लिपि का काफी विकास हुआ। उन्हीं के नाम से नई लिपि का कल्पित नाम 'गुप्त-लिपि' रख लिया गया। गुप्त-वंश के राजकीय लेखों तथा मध्य-भारत के परिव्राजक, कुछ राजाओं के दानपत्र आदि में इसी लिपि का व्यवहार मिलता है। गुप्तलिपि के साथ-साथ राजपूताना, मध्य-भारत आदि क्षेत्रों में दक्षिणी शैली की पश्चिमी लिपि के उदाहरण भी मिलते हैं। इस लिपि में कुछ वर्णों की आकृतियाँ नागरी से मिलती हैं। इसमें मात्राओं के चिह्न नये रूप में बदल गये हैं। अ, क, ग, च, ट, ढ, व, द, प, भ, म, ल, ष के रूप नागरी से कुछ समता रखते हैं। इस काल में वर्णों की शिरोरेखा का प्रयोग स्पष्ट रूप में मिलता है। वर्णों की आकृतियाँ प्राचीन लिपि की अपेक्षा क्रमश विकसित जान पड़ती हैं।

'गुप्त-लिपि' का उत्तरोत्तर विकास 'कुटिल-लिपि' के रूप में माना जाता है। यह विकास छठी से नवीं शताब्दी के बीच हुआ। लिपि के लिये कुटिल शब्द की कल्पना उस काल में वर्णों की टेढ़ी आकृतियों के कारण की गई। कुटिल-अक्षर तथा कुटिल-लिपि के उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। इसी को 'विकटाक्षर' के नाम से भी कहा गया है। उस अवस्था में अक्षर की रेखाएँ नीचे की ओर बाईं तरफ मुड़ी होती हैं और स्वरों की मात्राएँ अधिक टेढ़ी-मेढ़ी और लम्बी होती हैं। इसमें लिखे हुए अनेक लेख मिलते हैं। जैसे राजा यशोधर्मन् के लेख, राजा हर्ष के दानपत्र आदि, मगध के गुप्तवंशी आदित्यसेन, जीवितगुप्त (द्वितीय) के लेख, प्रतिहार राजाओं के लेख आदि। कुटिल लिपि के वर्ण नागरी लिपि के अधिक निकट हैं।

नागरी लिपि का समुचित विकास १०वी शताब्दी से माना जा सकता है। नगर मे रहनेवाले लोगो या गुजरात के नागर ब्राह्मणो के नाम पर इस लिपि का नाम चल पडा। तब से लेकर आज तक नागरी लिपि का व्यापक व्यवहार होता आया है। १०वी शताब्दी मे वर्तमान हिन्दी-क्षेत्र के अतिरिक्त अहिन्दी क्षेत्रो मे भी इसका प्रयोग किया जाता था। इसी का कुछ परिवर्तित रूप बगला लिपि के नाम से कहलाया। नागरी के सदृश ब्राह्मी से ही शारदा लिपि का विकास पजाब और कश्मीर मे हुआ। दक्षिण तथा गुजरात मे राष्ट्रकूट (राठौर) राजाओ के दानपत्रो, चालुक्य राजाओ एव विजयनगर राज्य के शिलालेखो तथा दानपत्रो मे नागरी के एक रूप नदि-नागरी का प्रयोग मिलता है। उत्तर भारत मे कन्नौज, मेवाड, अजमेर, आबू, मालवा, ग्वालियर आदि राज्यो के द्वारा देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता था। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण मे नागरी लिपि का प्रयोग पहले हुआ। वहाँ ८वी शताब्दी के लेखो मे यह रूप मिलता है। प्राचीन नागरी लिपि का उत्तरोत्तर विकास मिलता है। १०वी शताब्दी मे कछ वर्ण अ, आ, घ, म, प, य, प, स की शिरोरेखा दो भागो मे विभक्त थी, किन्तु ११वी शताब्दी से ये दोनो भाग एक मे मिले हुए पाये जाते हैं। वर्णों की आकृतियाँ भी कुछ सडौल हो गई। शिरोरेखा वर्णों की आकृति के अनुसार प्रयक्त होने लगी। १८वी शताब्दी की नागरी लिपि का प्राय स्वरूप वर्तमान के सदृश पूर्णतया विकसित हो गया था, केवल कछ मात्राओ मे ही अन्तर पाया जाता है तथा ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ भी १५वी, १६वी शताब्दियो के लगभग वर्तमान नागरी लिपि समान ही व्यवहृत होने लगती हैं। नागरी लिपि के वर्णों मे प्रादेशिक भेद के कारण भिन्नता मिलना स्वाभाविक है। हिन्दी की तीन सौ अथवा चार सौ वर्षों की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे नागरी के वर्णों के कुछ विचित्र प्रयोग मिलते हैं। इनका उत्तरोत्तर विकास मिलता है। इनमे 'ख' के लिए प्राय 'प' तथा 'ष' के लिए 'श' चिह्नो का प्रयोग अधिकांशत पाया जाता है। नागरी, मराठी, गजराती, कैथी, महाजनी लिपियो मे काफी समानता है।

गुजराती लिपि

इस लिपि का प्रचार वर्तमान बम्बई प्रदेश (गुजरात, काठियावाड, कच्छ) मे पाया जाता है। काठियावाड की भिन्न लिपि हालारी और कच्छ की कच्छी है, किन्तु इन क्षेत्रो मे गुजराती का व्यापक प्रयोग होता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इसका उद्गम नागरी से माना जाता है। अ, इ, ख, च, ज, झ, फ, ब

वर्णों की आकृतियाँ शीघ्रता से लिखी जाने के कारण नागरी से भिन्न हो गई हैं। इस लिपि में शिरोरेखा का प्रयोग अब नहीं किया जाता। प्राचीन स्थिति में शिरोरेखा का प्रयोग होता था, परन्तु सरलता के कारण उसको धीरे धीरे समाप्त कर दिया गया। इनमें कतिपय वर्णों की आकृतियाँ नागरी से भिन्न हैं।

मोडी लिपि

इस लिपि का विकास शिवाजी के समय से बताया जाता है। शिवाजी ने नागरी को राजकीय लिपि बनाया, किन्तु उसमें त्वरा-लेखन के लिए उनके मंत्री बालाजी अवाजी ने इसके वर्णों को तोड़-मोड़कर एक लिपि बना दी जिसके कारण इसका उक्त नाम पड़ गया। पेशवा राज्यकाल में इसे कुछ और सुधारा गया। इसमें कुछ वर्ण गुजराती तथा तेलगू-कन्नड़ी से मिलते हैं। अ, आ, उ, क, च, ञ, फ, य, ल, व, स, ह की आकृतियाँ नागरी से भिन्न हैं। शेष वर्ण प्राय नागरी के सदृश हैं। इसी के आधार पर वर्तमान मराठी लिपि का विकास हुआ है। शैली और काल-भेद से वर्णों की आकृतियों में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक है। नागरी-लिपि को देवनागरी लिपि भी कहा जाता है। इसका आधार देवताओं की उपासना के लिये बने 'देवनागर यंत्र' माना गया है। ये यंत्र नागरी के वर्णों से मिलते-जुलते थे, इसलिए 'नागरी' लिपि के लिए 'देवनागरी' शब्द का प्रयोग होने लगा। नागरी लिपि का एक रूप कैथी-लिपि है।

कैथी लिपि

यह नागरी लिपि का परिवर्तित रूप है। इसे शीघ्र लिखी जानेवाली लिपि कहा जाता है। इसमें ऋ, ङ, ञ, व आदि वर्णों के लिये कोई लिपि-चिन्ह नहीं हैं। 'ब' के नीचे एक बिन्दु से 'व' का रूप प्रकट किया जाता है। कायस्थ जाति के द्वारा प्रयोग में लाई जाने के कारण इस लिपि का उक्त नाम प्रचलित हो गया। इसे सुविधाजन्य बनाने की दृष्टि से शिरोरेखा का प्रयोग नहीं किया जाता। इस लिपि में स्थान-भेद के कारण शैली-भेद भी मिलता है। मिथिला, मगध तथा भोजपुर-क्षेत्र की कैथी लिपियों में थोड़ी भिन्नता मिलती है। बिहार-प्रदेश में उक्त लिपि का अधिक प्रयोग होता है।

बंगला लिपि

जैसा कि पहले कहा गया है, प्राचीन बंगला लिपि नागरी से ही उद्भूत मानी गई है। भारत के पूर्वी क्षेत्र बिहार, बंगाल, मिथिला, नेपाल, असाम, उडीसा मे

नागरी के आधार पर ही लिपि का विकास किया गया। ११वी शताब्दी से पालवश के राजाओं के लेखो तथा असाम मे उपलब्ध कुछ दानपत्रो मे नागरी लिपि का झुकाव बगला लिपि के सदृश मिलने लगता है। वर्णों मे अ, इ, ई, ऋ, ए, ऐ, ख, घ, झ, ञ, ट, थ, प, फ, र, श, ष की आकृतियाँ नागरी से भिन्न प्रतीत होने लगती हैं। प्राचीन बगला-लिपि के आधार पर वर्तमान नैपाली, मैथिली, असामी, उड़िया, वर्तमान बगला लिपियो का विकास सिद्ध होता है।

मैथिल लिपि

यह बगला-लिपि का परिवर्तित रूप है। मिथिला के ब्राह्मणो की लिपि होने के कारण इसका उक्त नाम पड गया। मैथिली भाषा के प्राचीन ग्रन्थ इसी लिपि मे लिखे मिलते हैं। मैथिल-लिपि के वर्ण प्राय बगला लिपि के सदृश ही होते हैं, केवल कुछ वर्णों की आकृतियो मे भिन्नता मिलती है।

उड़िया लिपि

यह प्राचीन बगला-लिपि से विकसित मानी जाती है। शिरोरेखा के वृत्ताकार होने के कारण इसके वर्ण कुछ विचित्र से जान पडते हैं। किन्तु शिरोरेखा-विहीन वर्णों की आकृतियाँ सरल और बगला के सदृश जान पडती हैं। स्वरो के लिपि-चिह्न बगला से मिलते हैं। उड्र-प्रदेश की प्रचलित लिपि होने के कारण इसका उक्त नाम पड गया।

शारदा लिपि

इस लिपि का विकास कुटिल लिपि के आधार पर हुआ। अतएव इसका नागरी लिपि से बहनवत् सबध जोडा जा सकता है। पहले कहा ही गया है कि सर्वप्रथम इसका प्रचार कश्मीर और पजाब मे मिलता है। सब से पुराना लेख १०वी शताब्दी का चबा राज्य की एक प्रशस्ति को माना जाता है। सर्वप्रथम इस लिपि का अन्वेषण प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० फोजल ने १९११ ई० मे किया। इसी प्राचीन लिपि से वर्तमान कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी लिपियो का विकास माना जाता है। कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा मानी गई हैं। सभवत इसी कारण शारदा-प्रदेश की लिपि शारदा कहलाई।

टाकरी लिपि

यह शारदा लिपि का शार्ट-हैड का रूप कहा जा सकता है। इसमे 'ख' को

'ष' रूप में लिखा जाता है। जम्मू तथा शिमला को छोड़कर पंजाब के समस्त उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में इसका प्रचार मिलता है। जम्मू में इसे डोगरी और चम्बा में चमिआली कहा जाता है। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने राजपूत ठाकुरों के आधार पर ठाकुरी (ठक्कुरी) अथवा टाक जाति के व्यापारियों की लिपि होने के कारण उक्त लिपि के नाम की कल्पना की है। व्यवसायी वर्ग की लिपि घसीट होती भी है। अतः इसका सबंध टाक जाति से अधिक संभव जान पड़ता है।

गुरुमुखी लिपि

पंजाब में 'लंडा' नाम की महाजनी लिपि का प्रचार था और अनुमान है कि सिक्ख-धर्म के ग्रंथ उसी में लिखे जाते थे, किन्तु अपूर्ण लिपि होने के कारण गुरु अंगद ने लगभग १६वीं शताब्दी के मध्य में इस लिपि को स्वर आदि की मात्राओं से पूर्ण बनाया और संभवतः गुरु के मुख से निकले वचन को लिपिबद्ध करने में पूर्ण होने के कारण यह उक्त नाम से प्रचलित हो गई। सिक्ख-धर्म के ग्रंथ इसी लिपि में उपलब्ध होते हैं। इस लिपि के अनेक वर्णों की आकृतियाँ शारदा-लिपि से मिलती हैं। दक्षिण शैली की लिपियों को भी प्राचीन ब्राह्मी से संबंधित किया गया है। ये लिपियाँ क्षत्रप तथा आन्ध्रवंशी राजाओं के लेखों में मिलती हैं। इस शैली की प्रसिद्ध लिपियाँ निम्नलिखित हैं

पश्चिमी लिपि

पुराने गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश तथा सितारा जिलों, हैदराबाद, (आन्ध्र) कोंकण, मैसूर के पुराने राज्यों, राजस्थान, मध्य-प्रदेश के कुछ भागों में इस लिपि के नमूने शिलालेखों, दानपत्रों के रूपों में उपलब्ध हुए हैं। ये लेख ५वीं शताब्दी से ९वीं शताब्दी तक के हैं। उत्तर-शैली की लिपियों का इस पर काफी प्रभाव मिलता है। संभवतः भारत के पश्चिमी भाग में इसका प्रयोग होने के कारण उक्त नाम प्रचलित हो गया।

मध्यदेशी लिपि

इसका प्रचार पुराने मध्य-प्रदेश, हैदराबाद (आन्ध्र) का उत्तरी भाग मैसूर राज्य तथा बुंदेलखंड के कुछ भागों में पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक मिलता है। यह अनेक राजाओं के शिलालेखों तथा दानपत्रों में पाई गई है। दानपत्र विस्तृत और शिलालेख अपेक्षाकृत छोटे आकार में पाये जाते हैं।

इस लिपि मे वर्णो के सिर चौकोर अथवा सदूक की आकृति के होते हैं। वर्णों की बनावट मे आडी और खडी रेखाओ का प्रयोग हुआ है जिसे समकोणवाली आकृति का कहा गया है। इस कारण इसके वर्ण कुछ विलक्षण-से जान पड़ते हैं। इस पर उत्तरी शैली का यथेष्ट प्रभाव पडा है। समवत मध्यदेश में प्रचलित होने के कारण इसका उक्त नाम पड गया।

तेलगु-कनड़ी लिपि

यह ववई तथा वर्तमान आन्ध्र-प्रदेश के दक्खिनी भागो, मैसूर, मद्रास के उत्तरी-पूर्वी भाग विजगापट्टम, कर्नूल, विलारी, कड्डप्पा, नेल्लोर आदि जिलों मे पाँचवी शताब्दी से मिलती है। इस लिपि का उत्तरोत्तर विकास होता गया और १४वी शताब्दी के लगमग वर्तमान तेलगु तथा कनडी लिपियो के यह वहुत निकट हो गई। इसी के परिवर्तित रूप से तेलगु-कनडी लिपियाँ वनी। तेलगु की उत्पत्ति त्रिलिग (तिलिगाना) प्रदेश और कन्नड की प्राचीन कर्णाट प्रदेश से सिद्ध की गई है। समवत इसीलिये इसका उक्त नाम प्रचलित हो गया। यह लिपि पल्लव, कदव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गगावशी, काकाती आदि राजवशो के अनेक शिलालेखो तथा दानपत्रो मे प्राप्त होती है। इन लेखो की सख्या हजारो तक आँकी गई है। इस लिपि के वर्णों की आकृतियाँ भी कुछ लेखो मे मध्यदेशी की भाँति चौकोर मिलती है।

ग्रन्थ लिपि

यह मद्रास के उत्तरी तथा दक्षिण भागो-सलेम, त्रिचिनापली, मदुरा, तिन्ने-वेल्लि जिलो एव वर्तमान केरल-प्रदेश मे ७वी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक मिलती है। वर्तमान ग्रथ-लिपि प्राचीन लिपि का विकसित रूप है। इसके आधार पर ही वर्तमान केरल और तुळु भाषा की लिपियो का विकास हुआ है, जिनका व्यवहार सस्कृत ग्रथो के लिखने में किया जाता है। तामिल भाषा की लिपि अपूर्ण होने के कारण सस्कृत-ग्रथो के लिये उपयुक्त न थी, अत उक्त लिपि मे ही सस्कृत भाषा के ग्रथ लिखे गये। समवत इसी कारण इसका 'ग्रन्थ' नाम पड गया। यह लिपि पल्लव, चोल, यादव वशी राजाओ के शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो मे प्राप्त होती है। इसके वर्णों के बीच-बीच मे ग्रन्थियाँ भी लगी मिलती हैं और आकृतियाँ गोलाई लिये हुए होती हैं।

कलिंग लिपि

यह मद्रास के चिकाकोल तथा गंजाम के बीच प्रदेश में कलिंगनगर के गंगावंशी राजाओं के दानपत्रों में सातवीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक मिलती है। इसमें कुछ ताम्रपत्र भी उपलब्ध हुए हैं। कुछ दानपत्रों की लिपि मध्यदेशी की भांति चौकोर आकृतिवाली तथा ताम्रपत्रों की लिपि ग्रन्थ और नागरी लिपि के मिश्रित रूप में गोलाईदार मिलती है। इसकी आकृतियाँ तेलुगु-कनडी से भी कुछ मिलती हुई हैं। यह लिपि उत्तर और दक्षिण की लिपियों के मिश्रण से बनी कही जा सकती है। पुरातत्ववेत्ता डा० कीलहर्न ने इस लिपि के लगभग ७३० अक्षरों में से ३२० नागरी और ४१० दक्षिणी लिपियों के स्वीकार किए हैं।

तामिल लिपि

यह मद्रास के उन भागों में जहाँ प्राचीन ग्रन्थ लिपि का प्रचार था तथा उसके पश्चिमी तट मलाबार प्रदेश की तामिल भाषा में पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों के शिलालेखों एवं दानपत्रों में मिलती है। इसके नमूने सातवीं शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। इसके वर्ण ग्रन्थलिपि से प्राय मिलते हैं। इसी के आधार पर १४वीं शताब्दी के लगभग वर्तमान तामिल लिपि बनी। संभवतः इसलिए यह लिपि उक्त नाम से प्रचलित हो गई। तामिल लिपि में ख्, ग्, घ्, छ्, ज्, झ्, ठ्, ड्, ढ्, थ्, द्, ध्, फ्, ब्, भ्, श्, आदि वर्णों के लिये लिपि-चिह्न नहीं हैं। इसमें कुल १८ व्यंजनों के लिये चिह्न हैं जिनमें ळ, ऴ, ऱ, ण विशेष व्यंजन हैं। इस प्रकार वर्णों की कुछ आकृतियाँ ग्रंथलिपि से मिलती हैं।

वट्टेळुत्तु लिपि

यह तामिल लिपि का ही एक भेद है। इसे तामिल का शार्टहैंड-रूप कहा जा सकता है। इसके लेख मद्रास के पश्चिमी तथा दक्खिनी भागों में ७वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक मिलते हैं। यह चोल, पाड्य आदि राजवंशों के शिलालेखों तथा दानपत्रों में प्राप्त होती है। अब इसका व्यवहार नहीं पाया जाता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की प्राचीन तथा अर्वाचीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी लिपि से है। यह अवश्य है कि अपने वर्तमान रूप में ये लिपियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न जान पड़ती हैं। लिपियों में यह भिन्नता उनके उत्तरोत्तर विकास में वातावरण तथा लोगों की विभिन्न मनोवृत्ति के

फलस्वरूप है। यह अन्तर कालभेद और स्थानभेद के कारण है। व्यक्ति अथवा जाति के द्वारा रुचि के अनुसार वर्णों की आकृतियो मे परिवर्तन हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नही है। लिपि के वर्णो को शीघ्रता मे लिखने, उनकी आकृतियो को सुदर, सुडौल बनाने, उन पर शिरोरेखा लगाने के विविध ढगो के कारण मूल लिपि के भेदो मे बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। भाषा के विकास के सदृश ही लिपि-विकास मे भी मनुष्य की प्रयत्न-लाघव की वृत्ति निरतर योग देती रहती है। घसीट लिखने, बिना कलम उठाये वर्णों को लिखते रहने, कम से कम समय मे वर्णो को सुडौल बनाने की भावनाये इसी से प्रेरित हैं। त्वरालिपि अथवा शार्टहैंड सदृश लिपि-विकास के मूल मे यही मनोवृत्ति रही है।

मनुष्य मे रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। एक ही लिपि का व्यवहार करने वाले अपने-अपने वर्णों को भिन्न-भिन्न प्रकार से सजाकर और साथ ही घसीट कर लिखते है। इस सजावट के कारण लिपियो के वर्ण नये-नये रूप धारण करते जाते हैं। आज मुद्रण और टाइप का युग है। मुद्रण और टाइप की सरलता के लिये भी वर्ण-चिह्नो मे कई मनमाने परिवर्तन कर लिये गये हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय लिपियो मे विशेष रूप से उत्तर भारत की लिपियो मे स्पष्टता, निश्चयात्मकता, वैज्ञानिकता के गुण वर्तमान मिलते हैं। देवनागरी लिपि इन सबमे प्रमुख है। सबसे मुख्य विशेषता इसमे यह है कि जो लिखा जाता है, वही पढा जाता है, यह नही कि लिखा जाय कुछ और पढा जाय कुछ, जैसा रोमन या अन्य उर्दू आदि लिपियो में होता है। अन्य भारतीय लिपियो मे भी देवनागरी के वर्ण अधिक सरल और सीधे हैं। इसलिए भारत के व्यापक क्षेत्रो मे इस लिपि का व्यवहार प्राचीन काल से होता रहा है।

'एक ध्वनि के लिये एक ही लिपि-चिह्न' हो, यह वैज्ञानिक लिपि की मुख्य विशेषता कही जा सकती है। दक्षिण की कुछ लिपियो को छोडकर भारत की प्राय. सभी लिपियो मे यह विशेषता उपलब्ध होती है। नागरी मे यह गुण सबसे अधिक है, यह कहा जा सकता है। देवनागरी मे प्राय सभी ध्वनियो के लिये लिपि-चिह्न पाये जाते हैं। अन्य विदेशी भाषा-भाषी लोगो के सपर्क से कुछ नई ध्वनियो का आगम भारतीय भाषाओ मे हो गया है, उनके लिए निश्चित लिपि-चिह्नो का व्यवहार नही पाया जाता।

जब से भारत स्वतन्त्र हुआ, राष्ट्रभाषा और राष्ट्र-लिपि का प्रश्न व्यापक हो गया। सर्वप्रथम उत्तरप्रदेशीय सरकार ने ८ अक्तूबर, सन् १९४७ मे हिन्दी को प्रादेशिक भाषा और देवनागरी को प्रादेशिक लिपि के रूप मे स्वीकार किया। तभी उत्तरप्रदेशीय सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता मे एक लिपि-

सुधार-समिति की आयोजना की। बम्बई की प्रान्तीय सरकार, मद्रास प्रान्तीय सरकार ने भी लिपि-समितियाँ की आयोजनाएँ कीं। संविधान में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित कर दिया गया। भारतवर्ष मे देवनागरी के अतिरिक्त उर्दू (फारसी-अरबी) आदि अन्य लिपियों का भी व्यवहार किया जाता है। उर्दू लिपि का वर्णन ऊपर हो चुका है। यह भारत की प्राचीन लिपि से सम्बन्धित नहीं है। यह अपूर्ण लिपि है जिसमें भाषा की प्रत्येक ध्वनि को लिपिबद्ध करने की क्षमता नहीं है। अतः भारत की आर्य भाषाओ के लिये उर्दू लिपि अनुपयोगी सिद्ध होती है। राष्ट्रलिपि के लिये प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, रोमन लिपि का प्रचार कर रहे हैं। रोमन लिपि भारतीय लिपियों की सहायता से सरल और शीघ्र लिखी जाती है। उर्दू के समान यह भी एक अपूर्ण लिपि है, किन्तु डा० चटर्जी उसके सूचक-चिह्नो (diacritical marks) से समन्वित कर, इसे नागरी लिपि की अपेक्षा अधिक सहज और व्यापक मानते है। उनकी दृष्टि मे नागरी लिपि सयुक्ताक्षरो, सयुक्त व्यजनो तथा मात्राओ के कारण बहुत सरल और स्पष्ट नही है। अतः रोमन वर्ण-चिह्नो मे थोड़ा परिवर्तन करके उन्हे भारतीय भाषा की ध्वनियो को लिपिबद्ध करने के योग्य बनाया जा सकता है। इसे उन्होने इण्डो-रोमन (Indo-Roman) की सज्ञा दी है, क्योकि इसमे वर्णचिह्न रोमन के और ध्वनियो के क्रम भारतीय भाषा के सदृश होगे। किन्तु रोमन लिपिचिह्न भारतीय परपरा और इतिहास से कोई मेल नही रखते। नागरी लिपि अन्य भारतीय लिपियो के अधिक निकट थी। अतः बहुजनमत के फलस्वरूप देवनागरी लिपि को ही राष्ट्रलिपि घोषित किया जाना युक्तिसगत था। तदनन्तर उत्तर-प्रदेशीय सरकार द्वारा भारत के मुख्य मत्रियो, विद्वानो, भाषाविदो आदि का एक देवनागरी लिपि-सुधार सम्मेलन का आयोजन डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे २८ नवम्बर, १९५३ ई० को लखनऊ मे किया गया।

देवनागरी लिपि को अधिक व्यापक, व्यावहारिक और निश्चयात्मक बनाने के लिये उपरोक्त समितियो तथा सम्मेलन मे काफी विचार-विमर्श हुआ। देवनागरी लिपि मे कुछ ऐसे वर्ण-चिह्नो का भी प्रयोग होता है, जो भिन्न लिपि के है। जैसे अ, झ, ण, छ, ह आदि। सयुक्ताक्षरो को लिखने में एकरूपता नही पाई जाती। कोई उसे ऊपर-नीचे और कोई उसे आमने-सामने करके लिखता है। इसी प्रकार अर्धव्यजनो के प्रयोग मे भी एकरूपता नही मिलती। कोई हल-चिह्न लगाकर और कोई उसे आधा करके प्रयोग करता है। जैसे चर्‌खा, चर्खा, कट्‌टर, कट्टर, चक्कर, चक्कर, चक्‌कर आदि।

अनुस्वार और अर्धानुनासिक व्यंजनों के प्रयोग में भी भिन्नता पाई जाती है। प्राय दोनों रूपों को शिरोरेखा पर एक बिन्दु रखकर दिखाया जाता है। जैसे चचल, चवर आदि। दोनों भिन्न ध्वनियाँ हैं, इसलिए इनके लिये पृथक्-पृथक् ध्वनि-चिह्नों का प्रयोग होना चाहिए। कई लोग अनुस्वार को चन्द्रबिन्दु और अर्ध-अनुनासिक व्यंजन को अर्ध-रूप में प्रयोग करते पाये जाते हैं। जैसे चञ्चल, चँवर। इस प्रकार इनके प्रयोग में कोई एकरूपता नही मिलती। कुछ विद्वानों का मत है कि ञ, ण अनुनासिक व्यंजन शुद्ध रूप में उच्चरित नही होते, इसलिये अर्ध ञ्, या अर्ध ण् का प्रयोग वैज्ञानिक नही कहा जायेगा। कुछ वर्णों में अस्पष्टता है। जैसे ख, र, ष, घ, भ, म में जरा सी असावधानी से भ्रम हो सकता है।

अतएव देवनागरी लिपि के उपरोक्त चिह्नों में एकरूपता लाने के लिये कुछ सुधार आवश्यक था तथा उसे अधिक व्यावहारिक बनाने के लिये यह आवश्यक समझा गया तथा मुद्रण, टाइप आदि की सुविधा के लिए भी कुछ सुधार वांछनीय थे। देवनागरी लिपि में मात्राएँ वर्णों के दायें-बायें, ऊपर-नीचे लगती है। इस रूप में हिन्दी-मुद्रण के लिए लगभग ७०० टाइप (मुद्रा) की आवश्यकता होती है, जिसमें अधिक समय और परिश्रम व्यय होता है। इसमें रोमन लिपि की भाँति मुद्रण में वह सुविधा और सरलता नही है। अत देवनागरी लिपि की मात्राओं में कुछ सुधार का अनुभव बहुत पहले से किया जाता रहा है। मोनोटाइप, लाइनोटाइप, टेलीप्रिंटर का अन्वेषण किया गया। इसी प्रकार अंग्रेजी टाइपराइटर की अपेक्षा हिन्दी टाइपराइटर काफी अपूर्ण समझा जाता है। उसमें कई लिपि-चिह्नों का विधान नही है और कई वर्ण दोषपूर्ण और अव्यावहारिक भी हैं। देवनागरी लिपि शीघ्रता से लिखी जा सके, उसमें कोई गतिरोध न हो, इस सबध में कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी स्वरों और व्यंजनों को एक समान लिखा जाय, कुछ इस मत के है कि वर्णों में यदि शिरोरेखा का प्रयोग न किया जाय तो देवनागरी लिपि में त्वरालेखन की विशेषता आ जायेगी।

अतएव उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि में कुछ सुधार वांछनीय थे और उक्त समितियों तथा सम्मेलन ने देवनागरी-लिपि में इसलिए कई आवश्यक सुधार प्रस्तावित किए। श्री राजगोपालाचार्य, प० रविशकर शुक्ल आदि विद्वान् केवल यान्त्रिक सुविधाओं के लिये लिपि-चिह्नों के परिवर्तन के पक्ष में नही थे। किसी भी भाषा की लिपि में उसके प्राचीन साहित्य की महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रहती है और उस लिपि के प्रयोग की प्राचीन परपरा

होती है। अत उसमे कोई आमूल परिवर्तन अवाछनीय ही कहा जायेगा। इन लिपि-चिह्नो का विकास सैकडो वर्षो से अपनी स्वाभाविक गति से होता आया है और उसमे अस्वाभाविक ढग से कोई परिवर्तन करना उसे अव्यावहारिक बनाना होगा।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का एक प्रस्ताव इसी प्रकार का था। जैसे अ (अ), अ (आ), अ (इ), अ (ई) आदि अर्थात् 'अ' के लिये व्यवहृत लिपि-चिह्न के सदृश ही अन्य स्वरो के चिह्न भी हो किन्तु स्वरो का भिन्न-भिन्न उच्चारण होता है, उनके ह्रस्व, दीर्घ रूपो मे कुछ समानता अवश्य है। किन्तु सभी स्वर एक जैसे है, यह कहना गलत होगा। अत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि लिपि-चिह्नो के विभिन्न रूपो का विकास बहुत ही वैज्ञानिक ढग से हुआ है। केवल एकरूपता लाने के लिये इन लिपि-चिह्नो की वैज्ञानिकता को नष्ट कर देना किसी प्रकार भी समीचीन नही कहा जायेगा। इसी प्रकार व्यजनो की एकरूपता का प्रस्ताव किया गया। जैसे क (क), ख (ख), ग (ग), घ (घ), ग (ङ), च (च), छ (छ), ज (ज), झ (झ), ञ (ञ), प फ, व, भ (भ)। इसमे सदेह नही, क, ख, ग, च, छ, च, झ आदि व्यजनो मे उच्चारण की कुछ समानता है। एक अल्पप्राण है और दूसरा महाप्राण है। वर्तमान देवनागरी के प, फ, ट, ठ मे यह समानता कुछ दृष्टिगत होती है, किन्तु व्यजनो के लिपि-चिह्नो मे अकारण उक्त परिवर्तन प्राचीन परपरा को नष्ट ही करता है। साथ ही इसमे टाइप आदि की सुविधा बढने की अपेक्षा घट जाती है।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने भी स्वरो मे एकरूपता लाने का प्रस्ताव किया था कि केवल 'अ' के लिपि-चिह्न मे विभिन्न मात्राओ का प्रयोग किया जाय और अन्य स्वरो के विभिन्न लिपि-चिह्नो का प्रयोग न किया जाय। जैसे अ, आ, अि, अी आदि। बहुत काल तक काका कालेलकर का भी यही मत रहा है, किन्तु इस एकरूपता से स्वरो के वैज्ञानिक रूप का हनन होता है, यह पहले कहा जा चुका है। इ, उ, ए, स्वर 'अ' से भिन्न स्वर हैं। किन्तु, नागरी प्रचारिणी सभा तथा सम्मेलन के अनेक सुझाव काफी उपादेय और महत्वपूर्ण थे। जैसे अनुस्वार और अनुनासिक मे भेद, अर्ध व्यजनो, सयुक्ताक्षर के प्रयोग मे एकरूपता लाना

आदि। व्यक्तिगत रूप मे डा० पन्नालाल तथा डा० गोरखप्रसाद के कुछ सुझाव भी महत्वपूर्ण प्रमाणित हुए। डा० पन्नालाल का प्रस्ताव था कि मात्राएँ वर्णों के दाँई ओर लगाई जायँ। केवल ह्रस्व 'इ' बाईं ओर लगती है, उसे भी दाईं ओर इस प्रकार लगाया जाय—यथा-कीा। डा० गोरखप्रसाद का प्रस्ताव था कि मात्राओं को प्रयुक्त वर्णों के दाईं ओर ऊपर-नीचे न लगाकर उनसे थोड़ा हटाकर लगाना चाहिए। इससे मुद्रण और टाइप मे बहुत बड़ी सुविधा हो जायेगी क्योंकि अभी मात्रायुक्त, मात्राविहीन तथा मात्राओं के लिये अलग-अलग टाइप होते है और इनकी संख्या लगभग ७०० की अपेक्षा १५० ही रह जायेगी।

अतएव आचार्य नरेन्द्रदेव की समिति ने देवनागरी लिप-सुधार के लिये उपरोक्त सुझावों को बहुत कुछ स्वीकार कर लिया और वे अत्यल्प परिवर्तन के साथ मुख्य मन्त्रियों के लखनऊ सम्मेलन मे भी स्वीकार कर लिये गये। सुधार की रूप-रेखा इस प्रकार है—

(१) वर्णों मे शिरोरेखा का प्रयोग किया जाय।

(२) अनुनासिक स्वर के लिये शिरोरेखा पर बिन्दु का प्रयोग हो और अर्ध-अनुनासिक व्यजन ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, के लिये शिरोरेखा पर शून्य (०) चिह्न का व्यवहार किया जाय।

(३) पाई वाले वर्णों की पाई हटाकर उनका अर्ध-रूप बना लिया जाय और जिन वर्णों के अन्त मे पाई नही है उनमे हल्चिह्न लगाकर अर्ध-रूप बनाया जाय। इनमे क और फ को अपवाद रखा गया है। जैसे क और फ-क्, फ् और अन्य जैसे ट्, ठ्, ड्, ढ्, ह् आदि।

(४) प्रचलित व्यजनों मे अ, छ, झ, ण, ध, भ, ल, ह के स्थान पर क्रमश अ, छ, झ, ण, ध, भ, ल, ह व्यजनों का प्रयोग किया जाय।

(५) 'ख' व्यजन को इस रूप मे 'ख' लिखा जाय और 'र' व्यजन को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय।

(६) विशेष व्यजन 'ळ' का प्रयोग किया जाय।

(७) नई ध्वनियों के लिये उच्चारण-चिह्नों (diacritical marks) का व्यवहार किया जाय।

(८) ह्रस्व 'इ' की मात्रा दाहिनी ओर इस प्रकार लगाई जाय। जैसे वीजय (विजय)।

(९) मुद्रण तथा टाइप आदि के सुविधा के लिये मात्राओं को थोड़ा हटाकर आगे लगाया जाय। जैसे संपूर्ण=सपू ्र्ण

(१०) प्रचलित संयुक्त व्यंजन त्र, द्य, को त्र, द्य रूप में लिखा जाय तथा क्ष, ज्ञ के रूप सुरक्षित रहे।

उपरोक्त सुधारों से यह स्पष्ट है कि प्रचलित देवनागरी लिपि में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही किए गए, किन्तु कुछ ऐसे नये रूप अवश्य है जिनसे भ्रम और सन्देह की गुंजाइश है। ह्रस्व 'इ' और दीर्घ 'ई' मात्राओं में केवल अत्यल्प आकार का अन्तर रहेगा। आचार्य नरेन्द्र समिति ने इसके लिये यह रूप ी प्रस्तावित किया था। खड़ी पाई के अंत में वृत्ताकार वाला यह रूप दोनों मे भ्रम का निवारण कर सकता था। मुद्रित पुस्तकों से यह भ्रम भले ही न हो, लेकिन हस्तलिखित रूप मे इसकी काफी संभावना है। 'ख' के नये रूप मे 'र' और 'व' का कभी कभी भ्रम हो सकता है। वर्तमान रूप से 'ख' का यदि 'र' 'व' से भ्रम होता था तो यह रूप भ्रमरहित नही है। नरेन्द्रदेव समिति ने इस भ्रम के निवारणार्थ 'र' का नया रूप 'र' रखा था और 'ख' का चिह्न ज्यो का त्यो रखा। संयुक्ताक्षरो का नया रूप भी भ्रम से खाली नही है। वर्णो मे हलन्त-रूप के प्रयोग मे तनिक शिथिलता से शब्दो का उच्चारण बिल्कुल बदल जायेगा और यह कालान्तर मे उर्दू जबानवालो के अनुसार 'आर्यावर्त'-आरयावरत हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही, प्रदेश का 'परदेश' फिर 'परदेश' पढ़ लिया जाना कोई नई बात नही होगी। 'मातृ' को 'मातर' और 'मात्र' को भी 'मातर' लिखा जायेगा और इस प्रकार शब्दो मे एक भ्रम की संभावना है। 'श्र' संयुक्ताक्षर रूप स्वीकार किया गया है और इससे एक ही व्यंजन के लिए श और 'श्र' दो रूपो का अस्तित्व बना रहता है।

देवनागरी लिपि के उपरोक्त कतिपय नये सुधारो के संबंध मे बराबर टीका-टिप्पणी होती रही, क्योकि वे रूप अधिक व्यावहारिक नहीं थे। फलत. उत्तर-प्रदेशीय सरकार की संरक्षा मे १९ तथा २० अक्तूबर १९५७ को लखनऊ मे प्रसिद्ध भाषाविदो, लेखको, साहित्यिको, विद्वानो आदि का एक लिपि-सुधार सम्मेलन आयोजित हुआ जिनमे ह्रस्व इ की मात्रा वर्ण के बाईं ओर तथा प्रचलित संयुक्ताक्षरो का प्रयोग पहले की ही तरह करने का निश्चय किया गया। यथा-विजय, क्रम, कर्म, उष्ट्र, विद्या आदि। सन् १९५७ ई० के सम्मेलन के अन्य सुधारो को पूर्ववत् रहने दिया गया, क्योकि वे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक सिद्ध हुए हैं।

अत उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि के नये सुधार नई आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं एव उसे सुस्पष्ट, पूर्ण और निश्चयात्मक

रूप प्रदान करते है। फिर भी दो-एक परिवर्तनो मे और अधिक सुधार की गुजाइश है, मात्राओ को वर्णों से हटाकर लगाने का प्रश्न अब भी विचाराधीन है। प्राचीन लिपि मे कोई आमूल परिवर्तन नही किए गए, यह सतोष की बात है।

भाषा अथवा लिपि का कोई अस्वाभाविक विकास बहुत टिकाऊ नही होता। देवनागरी लिपि का नया स्वरूप कहाँ तक व्यावहारिक और सुबोध है, यह उसके व्यापक प्रयोग से ही ज्ञात हो सकेगा। किन्तु यह अवश्य है कि इनसे यथेष्ट यान्त्रिक सुविधाएँ हो सकती हैं। जब देवनागरी राष्ट्र-लिपि के पद पर आसीन की गई है तो उसे अधिक व्यापक और पूर्ण बनाने के लिये कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्यभावी है। देवनागरी लिपि की अपनी प्राचीन परपरा अवश्य है, किन्तु नये परिवर्तनो से उसकी वैज्ञानिकता पर कोई विपरीत प्रभाव नही पडता। शब्द मे व्यजन के उच्चारण के उपरान्त ही स्वर का उच्चारण होता है। अत ह्रस्व 'इ' की मात्रा व्यजन के पहले न लगकर बाद मे लगे, यह भी उसे और वैज्ञानिक बनाना था, इसमे मुद्रण, टाइप आदि मे जो सुविधा होती, वह तो अलग की बात है। किन्तु इतने वर्षो के बाद भी वह व्यावहारिक न बन सका और उसका परिवर्तन आवश्यक हो गया। देवनागरी लिपि का नया रूप अधिक देशव्यापी और ग्राह्य हो सकेगा, ऐसी सभावना है।

भारतीय लिपियो का परपरागत इतिहास जैसा मिलता है, वैसी ही भारतीय अको की भी एक पुरानी परपरा है। प्राचीन काल मे लिपियो के साथ साथ अको का भी प्रयोग होता था। उनके लिखने की रीति मे अन्तर अवश्य था। यह अनुमान किया जाता है कि १ से ९ तक की सख्या अको मे और शून्ययुक्त अको को शब्द मे प्रकट किया जाता था। १०, २०, ३०, ४०, १००, १००० आदि के लिये विशेष चिह्नो के उदाहरण मिलते है। दहाई से ऊपरवाली सख्याओ के लिये पहले दहाई का चिह्न फिर उसके आगे इकाई का अक रखा जाता था। जैसे २५ को लिखने के लिए पहले २० का चिह्न फिर ५ का अक लिखा जाता था। कभी १०० के चिह्न मे सीधी, तिरछी रेखाएँ जोडकर २००, ३०० आदि की सख्याओ को प्रकट किया जाता था। इसी प्रकार १००० के चिह्न मे रेखाएँ जोडकर ५०००, ६००० आदि को दिखाया जाता था। अको के ये रूप प्राचीन शिलालेखो, दानपत्रो, सिक्को आदि मे पाये जाते हैं। किन्तु अको की इस शैली का और विकास हुआ जिसे आगे स्पष्ट किया गया है।

लिपि-विकास के सदृश ही पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय अको का सबध भी विदेशी अको से जोडने का प्रयास किया है। कतिपय भारतीय और पाश्चात्य लेखको ने अको का स्वरूप उनके द्योतक शब्दो के प्रथम अक्षर के सदृश बताया

है। भारतीय लेखक प० भगवानलाल इन्द्र, पाश्चात्य विद्वान् प्रिन्सेप इसी मत के हैं। किन्तु डा० बूलर, वर्नेल, आदि इस तथ्य से सहमत नहीं हैं, क्योंकि अंकों के लिये अक्षर की कोई क्रमबद्ध परम्परा नहीं मिलती। साथ ही डा० बूलर, वर्नेल, इ० सी० वेले आदि ने भारतीय अंक-चिह्नों को फोनिशी, मिस्री स्रोत का माना है। किन्तु म० म० प० गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि विद्वान् इस मत के बिल्कुल विपरीत हैं। भारतीय अंक-चिह्नों का स्रोत मिस्र की हिएरोग्लिफिक अथवा इसका विकसित रूप हिएरेटिक, डेमोटिक या फोनिशियन, बैक्ट्रियन, अक्केडियन आदि से नहीं माना जाता क्योंकि भारतीय अंकों के लिखने और उक्त लिपियों के लिखने की रीतियाँ भिन्न हैं। भारतीय अंक बायीं से दाँयी और विदेशी अंक ऊपर से नीचे लिखे मिलते हैं। डा० बूलर ने यह अनुमान लगाया कि प्राचीन काल में भारतीय व्यापारियों का संबंध मिस्र-देश अथवा उसके अधीनस्थ देशों से था; किन्तु विश्वस्त प्रामाणिक सूत्रों के अभाव में इस अनुमान का कोई महत्व नहीं माना गया है। मिस्र-स्रोत की उपरोक्त लिपियों में १ से ९ अंकों की रेखाएँ ऊपर से नीचे तथा १०, २०, ३०० आदि के लिये भी इसी ढंग के बने चिह्न मिलते हैं। २० के लिये १० के चिह्न दो बार, २०० के लिये १०० का चिह्न दो बार उसी ढंग से लिखा मिलता है। अंक-विकास का यह एक अविकसित रूप है। फोनीशी अंक इसी से उद्भूत माने जाते हैं। इसमें २० के लिए विशेष चिह्न मिलता है, अंक-चिह्नों का क्रम वैसा ही है। ये अंक-चिह्न भारतीय अंक-चिह्नों से नहीं मिलते।

अशोक के लेखों में अंकों के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इससे अंक-चिह्नों की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मी लिपि में व्यवहृत अंक भारतीय हैं और खरोष्ठी लिपि के अंक विदेशी हैं क्योंकि दोनों की लिखावट में अंतर है। भारतीय अंकों को उनकी विशेषता के कारण ब्राह्मणों द्वारा विकसित माना जाता है। भारतीय और उक्त विदेशी अंकों में केवल ९ का चिह्न तो थोड़ा मिलता है, अन्य किसी का नहीं। मिस्र और भारत के अंक-चिह्नों में एक समानता और मिलती है—वह है २० का अंक-चिह्न और उसमें रेखाएँ आदि जोड़कर ऊपर की संख्याओं का विकास। इन समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि भारतीय अंक मिस्र-स्रोत के हैं गलत होगा, क्योंकि १ से ९ की संख्याओं को लिखने का ढंग दोनों में भिन्न है। इनके विपरीत मिस्र की हिएरेटिक और डेमोटिक के कुछ अंक चिह्नों में बाईं ओर से दाईं ओर लिखने के ढंग का स्पष्ट परिचय मिलता है। यथा ɔₙ (२),

(८), (२०)आदि। इससे अनुमान लगाया जाता है कि मिस्र के अंक-चिह्न प्राचीन काल मे भारतीय अंक-चिह्नों से प्रभावित हुए। उक्त मिस्र अंक-चिह्न-प्राचीन अंक-चिह्न हिएरोग्लिफिक् के विकसित रूप माने गये है। किन्तु विकसित अंक-चिह्नों मे लिखने की रीति मे उक्त परिवर्तन का कारण भारतीय प्रभाव कहा जा सकता है। समान रूप में दोनो देशो के अंक-चिह्नो के स्वतंत्र रूप से विकास की संभावना कम जान पड़ती है। म० म० प०गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने फोनीशी, मिस्र के अंक-चिह्नों तथा भारतीय अंक-चिह्नों के उदाहरण सम्राट् अशोक, कुशनवंशी राजाओ, क्षत्रियों तथा आन्ध्रो के लेखों से देकर स्पष्ट किया है कि भारतीय अंको का विकास मौलिक रूप मे हुआ है।

भारतीय प्राचीन पुस्तकों मे अंको को शब्द अथवा अक्षर से व्यक्त करने की भी प्रथा के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय, शतपथ, तैत्रीय ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रंथो, वराहमिहिर रचित पंचसिद्धांतिकी तथा अनेक ज्योतिष की पुस्तको, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि मे शब्दो से संख्याओ का बोध कराया गया है। जैसे ० (शून्य) के लिए गगन, तथा अनेक पर्याय, १ के लिए शशि, भूमि तथा इनके कई पर्याय, ४ के लिए वेद-श्रुति, आश्रम, दिशा आदि, ४० के लिए नरक, ४९ के लिए तान आदि शब्दो के प्रयोग मिलते हैं। ज्योतिष-ग्रंथ, शिलालेख, दानपत्रो मे अंको के लिए अक्षर का प्रयोग भी हुआ है। संस्कृत वर्णमाला के प्रथम ५ वर्गों को प्रत्येक अक्षर से क्रमश १ से २५ तक के अंक, य से ३०, र से ४०, ल से ५०, व से ६०, श से ७०, ष से ८०, स से ९०, ह मे १००, ९ से दश हजार, लृ, ॠ से एक लाख, सृ से १० करोड, ए से १० अरब आदि का बोध कराया जाता था। इस प्रकार अक्षरो से अंको में प्रकट करने की पुरानी परंपरा प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के काल तक मिलती है।

शून्य (०) के प्रयोग से नये अंको की एक नई शैली का विकास हुआ। जिसे दशमलव पद्धति (decimal system) कहा जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक अंक इकाई से बाईं ओर प्रयुक्त होने पर दशगुना हो जाता है। इस कारण इसे दशगुणोत्तर संख्या के नाम से भी कहा गया है। इस नई शैली के अंको का व्यवहार ६९५ ई० से मिलता है। पंजाब मे यूसुफजई जिले के बख्शाली गाँव मे भोजपत्र पर लिखी इस शैली की एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसका रचना-काल डा० हार्नले ने ३०० व ४०० ई० के लगभग माना है और डा० बूलर का अनुमान है कि अंक की इस नई शैली की प्राचीनता इससे भी पहले की हो सकती है। संसार के प्राय सभी देशो मे अंको की इसी पद्धति का

व्यवहार किया जाता है और इसका मूल-स्रोत भारत माना गया है। सर्वप्रथम अरबों ने इसे भारतवर्ष से सीखा और अरब से यह यूरोप में प्रवेश कर गया। अंग्रेजी भाषा के विश्वकोष (Encyclopaedia Britanica) के अनुसार अंकों की यह पद्धति भारतीय स्रोत की है, ८वीं और९वीं शताब्दी के लगभग यह अरब पहुँची और १२वीं शताब्दी में अरबों के संपर्क से यूरोपीय देशों में प्रचलित हो गई। यह अल्गोरिद्मस (अल्गोरियम्) के नाम से प्रसिद्ध हुई। अरबी में अंकों को 'हिंदसह' कहा जाता है। हिंद (भारत) से लिए जाने के कारण उक्त नाम प्रचलित हो गया।

कतिपय विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। किन्तु अलबरूनी नामक प्रसिद्ध विद्वान् भारत में कई वर्ष रहा है और उसने लिखा है कि भारतवर्ष में अंकचिह्नों के लिये विशेष रूप मिलते हैं और इसमें यहाँ के लोग अरबों से काफी बढ़े-चढ़े हैं। बाईं ओर १८वें स्थान तक की संख्यायें मिलती हैं जिसे 'परार्द्ध' कहा गया है। वैदिक ग्रंथों में अंकों के अनेक उल्लेख मिलते हैं: 'यजुर्वेद' संहिता के पुरुषमेध के प्रकरण में १०००० के लिए 'अयुत', एक लाख के लिये 'नियुत', १० लाख के लिये 'प्रयुत', १ करोड़ के लिये 'अर्बुद' आदि के उल्लेख मिलते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में दिन-रात के समय का अंकों में बहुत सूक्ष्म भाग निकाला गया है। वैदिक साहित्य में छंदों के विवेचन तथा संस्कृत के छंद-शास्त्र ग्रंथों से स्पष्ट है कि अंकों के सम्यक् ज्ञान के बिना इनकी रचनाएँ किसी प्रकार संभव नहीं है। भारत का प्राचीन गणित-शास्त्र काफी उन्नत रूप में था, इसे प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों द्वारा भली प्रकार स्वीकार किया गया है। यूरोपीय विद्वान् 'के' ने स्वेच्छात्मक तरीकों से इस मत का विरोध किया है। उन्होंने अपना मत अरबी के शब्द-व्युत्पत्ति विशेषज्ञ फीरोज अबदी पर आधारित किया है जिसने यह सिद्ध किया है कि 'हिंदसह' शब्द अरबी के 'अंदाज' शब्द से विकसित हुआ है। श्री 'के' का मत अन्य विद्वानों म० म० प० गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि को मान्य नहीं है। अन्य सूत्रों से भी उक्त मत प्रमाणित नहीं होता।

अतएव भारतीय लिपि और अंकों की प्राचीनता देखते हुए यही जान पड़ता है कि इनका आविष्कार भारतीय प्रयास का मौलिक परिणाम है। अंकों की दशमलव-पद्धति भारत की देन है। अंकों की यह शैली इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि आज सभी देशों में इसका व्यवहार किया जाता है। भारतीय सिक्कों में भी इस पद्धति का अनुसरण १ अप्रैल, १९५७ ई० से आरम्भ हो गया है। भारतीय संविधान में नागरी अंकों की अपेक्षा रोमन अंकों को प्रश्रय दिया गया

है, क्योंकि उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व अधिक है और वे संसार भर में प्रयुक्त किए जाते हैं। रूस जैसे महादेश में भी इसी का प्रयोग होता है, अतः इन रोमन अंकों का मूल आधार भारतीय अंक ही हैं और अरबों के द्वारा ये यूरोप में पहुँचे। व्यावसायिक दृष्टिकोण से रोमन अंकों का प्रयोग अधिक सहज है। किन्तु जब भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी मान ली गई है तो नागरी अंक जो उसका एक अविच्छिन्न अंग है, उसे भी मान्यता मिलनी चाहिए। जब दोनों प्रकार के अंकों की शैली एक ही है, केवल उनकी आकृतियों में ही थोड़ा अन्तर है तो राष्ट्रीय कार्य-व्यवहार के लिए नागरी अंकों को ही अपनाया जाना समीचीन है। आशा है, भविष्य में राष्ट्रीय भावनाओं के उन्नत होने के साथ-साथ देवनागरी लिपि और भारतीय अंकों को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त हो सकेगा।



देवनागरी लिपि का विकास

स्वर

अक्षर	आधुनिक रूप
अ	अ
इ	इ
उ	उ
ए	ए

व्यंजन

अक्षर	आधुनिक रूप
क	क
ख	ख
ग	ग
घ	घ
ङ	ङ
च	च
छ	छ
ज	ज
झ	झ
ञ	ञ
ट	ट
ठ	ठ
ड	ड
ढ	ढ
ण	ण
त	त
थ	थ
द	द
ध	ध
न	न
प	प
फ	फ
ब	ब
भ	भ
म	म
य	य
र	र
ल	ल
व	व
श	श
ष	ष
स	स
ह	ह

अंक

आधुनिक रूप
१
२
३
४
५
६
७
८
९

ब्राहुई

सिन्धी

अरब सागर

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१	उदयनारायण तिवारी	भोजपुरी भाषा और साहित्य
२	"	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
३	कपिलदेव शास्त्री	अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन
४	कामता प्रसाद गुरु	हिन्दी व्याकरण
५	गौरीशंकर हीराचंद ओझा	प्राचीन लिपि माला
६	धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी भाषा का इतिहास
७	"	ब्रजभाषा
८	बाबूराम सक्सेना	सामान्य भाषा-विज्ञान
९	"	दक्खिनी हिन्दी
१०	"	अर्थ-विज्ञान
११	मंगलदेव शास्त्री	भाषा-विज्ञान
१२	वासुदेवशरण अग्रवाल	पाणिनिकालीन भारत
१३	सुनीति कुमार चटर्जी	राजस्थानी भाषा
१४	सरयूप्रसाद अग्रवाल	प्राकृत-विमर्श
१५	श्यामसुन्दर दास	भाषा-विज्ञान

अँग्रेजी

1 Armfield, N --General Phonetics.
2 Bloomfield, L Language.
3 Bloch, Jules Grammatical structure of Dravidian languages
4 Breal, M Semantics (English translation)
5 Bloch and Trager--Outlines of Linguistic Analysis
6 Caldwel, R A Comparative Grammar of Dravidian Languages
7 Carrol, J B --The study of Language
8 Chatterji, S K The Origin and Devolopment of Bengali Language Vol. I.
" " Indo Aryan and Hindi.

10. Chakravarti, P. C.—The Linguistic Speculations of the Hindus
11. Diringer, D —Alphabet
12 Gune, P. D An Introduction to Comparative Philology
13. Gleason H An Introduction to Descriptive Linguistics.
14 Gray, L H —Foundations of Language
15 Grierson, G A —Linguistic Survey of India
16 Hockeh G F A Comse in Modern driguistics.
17 Jesperson, O Language its Nature, Development and Origin
18 Jones, D An outline of English Phonetics
19 Kellogg, H —Grammar of Hindi Language
20 Pandey, R. B. Indian Palaeography.
21 Sapir, E An Introduction to the study of Speech
22 Sturtevant, E. H. An Introduction to Linguistic Science.
23 Sen, S. Comparative Grammar of Middle Indo Aryan.
24 Saxena, B. R.- The Evolution of Awadhi.
25 Sharma, Aryendra A basic grammar of Hindi language.
26. Turner, R. R. Nepali Dictonary.
27 Tucker, T. G Introduction to the Natural History of Language.
28. Taraporewala, J. G S Elements of the Science of Language.
29 Vendryes, J. Language.
30 Woolner, A C. Introduction to Prakrit.

●●●